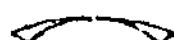
Printed by M N Kulkarni at his Karnatak Printing
Press, No 434 Thakurdwar, Bombay and

Published by Nathuram Premi, Secretary, Manikchand
Granth Mala, Hirabag, Bombay, No. 4.

प्रकरण-सूची।

भूमिका ।



इस संग्रहमें भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यके षट्प्राभृत (दर्शन, चारित्र, सूत्र, बोध, भाव और मोक्ष प्राभृत), लिंगप्राभृत, शीलप्राभृत, रयणसार, और बारह अणुवेक्खा ये पाँच ग्रन्थ प्रकाशित किये जाते हैं। समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय और नियमसार ये चार ग्रन्थ पहले कई स्थानोंसे प्रकाशित हो चुके हैं। अभी तक कुन्दकुन्द स्वामीके बनाये हुए ये नौ ही ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं।

इनमेंसे षट्प्राभृत सटीक प्रकाशित किया जाता है और शेष ४ संस्कृत-च्छायासहित। इन पिछले ग्रन्थोंकी कोई टीका अभीतक देखने सुननेमें नहीं आई।

भगवत्कुन्दकुन्द ।

दिगम्बर-जैन-सम्प्रदायमें आचार्य कुन्दकुन्द सबसे प्रसिद्ध और सबसे अधिक पूज्य आचार्य गिने जाते हैं। पिछले अधिकांश आचार्योंने आपको उन्हींके अन्वय या आम्नायका बतलाया है। उनकी रचना जैनसाहित्य भरमें अपनी तुलना नहीं रखती।

अबसे लगभग ६ वर्ष पहले हम उनके सम्बन्धमें एक विस्तृत लेख प्रकाशित कर चुके हैं।* वे द्रविड देशके 'कोण्डकुण्ड' नामक स्थानके रहनेवाले थे और इस कारण 'कोण्डकुण्ड' नामसे प्रसिद्ध थे। 'कोण्डकुण्ड' का ही श्रुतिमधुर संस्कृत-रूप 'कुन्दकुन्द' हो गया है। 'एलाचार्य' के नामसे भी ये प्रसिद्ध थे। तामिल भाषाके सुप्रसिद्ध महाकाव्य 'कुरल' के विषयमें महाराजा कालेज विजयानगरमके इतिहासाध्यापक श्रीयुत एम० ए० रामस्वामी आयंगरने लिखा है कि "जैनियोंके मतसे उक्त ग्रन्थ 'एलाचार्य' नामक जैनाचार्यकी रचना है और तामिल काव्य 'नीलकेशी' के टीकाकार समयदिवाकर नामक जैनमुनि कुरलको

---

* देखो जैनहितैषी भाग १०, अंक ६-७।

अपना पूज्य ग्रन्थ बतलाते हैं"।* इससे आश्चर्य नहीं कि कुरलके रचयिता भगवत्कुन्दकुन्द ही हों। कहते हैं एलाचार्यने इसे रचकर अपने एक शिष्यको इस लिए दे दिया था कि वह मदुराके कविसंघमें जाकर पेश करे।

नन्दिसंघकी गुर्वावलीमें लिखा है कि भगवत्कुन्दकुन्दको वि॰ संवत् ४९ में आचार्यपद मिला और १०१ में उनका स्वर्गवास हुआ। तामिलदेशके विद्वानोंने कुरलकाव्यका रचना-काल भी ईसाकी पहली शताब्दि निश्चित किया है। यदि सचमुच ही वह इन्हीं एलाचार्यका बनाया हुआ है, तो पट्टावलीके समयके साथ उसका रचनाकाल मिल जाता है।

हमने अपने पूर्वलिखित लेखमें भगवत्कुन्दकुन्दका समय विक्रमकी तीसरी शताब्दि निश्चित किया था।

उसके बाद जैनसिद्धान्त-प्रकाशिनी संस्थाद्वारा प्रकाशित 'समयप्राभृत' की भूमिकामें दक्षिणके सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ प्रो॰ के॰ बी॰ पाठकका यह मत प्रकाशित हुआ है कि कुन्दकुन्दाचार्य वि॰ संवत् ५८५ के लगभग हुए हैं। अपने मतकी पुष्टिमें उन्होंने लिखा है कि जिस समय राष्ट्रकूट-वंशीय राजा तृतीय गोविन्द राज्य करता था उस समय, शक संवत् ७२४ का लिखा हुआ एक ताम्रपत्र मिला है। उसमें निम्नलिखित पद्य दिये हुए हैं.—

कोण्डकोण्डान्वयोदारो गणोऽभूद्भुवनस्तुतः।
तदैतद्विषयविख्यातं शाल्मलीग्राममावसन् ॥
आसीद्(?)तोरणाचार्यस्तपःफलपरिग्रहः।
तत्रोपशमसंभूतभावनापास्तकल्मषः ॥
पण्डितः पुष्पनन्दीति बभूव भुवि विश्रुतः।
अन्तेवासी मुनेस्तस्य सकलश्चन्द्रमा इव ॥
प्रतिदिवसभवद्वृद्धिर्निरस्तदोषो व्यपेतहृदयमलः।
परिभूतचन्द्रबिम्बस्तच्छिष्योऽभूत्प्रभाचन्द्रः ॥

उक्त तृतीय गोविन्द महाराजके ही समयका शक संवत् ७१९ का एक और ताम्रपत्र मिला है, जिसमें नीचे लिखे पद्य हैं —

* देखो जैनहितैषी भाग १५ अंक १-२।

आसीद् (?) तोरणाचार्यः कोण्डकुंदान्वयोद्भवः ।
स चैतद्विषये श्रीमान् शाल्मलीग्राममाश्रितः ॥
निराकृततमोऽरातिः स्थापयन् सत्पथे जनान् ।
स्वतेजोद्योतितक्षौणिश्चण्डार्चिरिव यो बभौ ॥
तस्याभूत्पुष्पनंदी तु शिष्यो विद्वान् गणाग्रणीः ।
तच्छिष्यश्च प्रभाचंद्रस्तस्येयं वसतिः कृता ॥

इन दोनों लेखोंका अभिप्राय यह है कि कोण्डकोन्दान्वयके तोरणाचार्य नामके मुनि इस देशमें शाल्मली नामक ग्राममें आकर रहे। उनके शिष्य पुष्पनंदि और पुष्पनन्दिके शिष्य प्रभाचन्द्र हुए।

पाठक महोदयका कथन है कि पिछला ताम्रपत्र जब शक संवत् ७१९ का है तो प्रभाचन्द्रके दादा-गुरु तोरणाचार्य शक संवत् ६०० के लगभग रहे होंगे और तोरणाचार्य कुन्दकुन्दान्वयमें हुए हैं—अतएव कुन्दकुन्दका समय उनसे १५० वर्ष पूर्व अर्थात् शक संवत् ४५० लगभग मान लेनेमें कोई हानि नहीं है।

चालुक्यवंशी कीर्तिवर्म महाराजने वादामी नगरमें शक संवत् ५००में प्राचीन कदम्बवंशका नाश किया था और इसलिए इससे लगभग ५० वर्ष पूर्व कदम्बवंशी महाराज शिवमृगेशवर्म राज्य करते थे ऐसा निश्चित होता है। पंचास्तिकायके कनड़ी-टीकाकार बालचन्द्र और संस्कृत-टीकाकार जयसेनाचार्यने लिखा है कि यह ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्दने शिवकुमार महाराजके प्रतिबोधके लिए रचा था और ये शिवकुमार शिवमृगेशवर्म ही जान पड़ते हैं। अतएव भगवत्कुन्दकुन्दका समय शक संवत् ४५० (वि० ५८५) ही सिद्ध होता है।

परन्तु हमारी समझमें भगवत्कुन्दकुन्द इतने पीछेके आचार्य नहीं हैं। जब तक शिवकुमार और शिवमृगेशवर्माके एक होनेके एक दो पुष्ट प्रमाण न दिये जावें तब तक इस समयको ठीक मान लेनेकी इच्छा नहीं होती। तोरणाचार्य कुन्दकुन्दके अन्वयमें थे, अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि वे उनके १५० वर्ष बाद ही हुए होंगे। तीनसौ चारसौ वर्ष या इससे भी अधिक पहले हो सकते हैं।

इस भूमिकाका कंपोज हो चुकने पर हमें मालूम हुआ कि पंचास्तिकायके अँग्रेजी टीकाकार प्रो० ए० चक्रवर्ती नायनार एम० ए०, एल० टी०, ने भगवत्कुन्दकुन्दके समयके सम्बन्धमें एक विस्तृत लेख लिखा है। उसमें उन्होंने

प्रो॰ पाठकके मतका विरोध करते हुए यह सिद्ध किया है कि शिवकुमार म राज कदम्बवंशी शिवमृगेशवर्मा नहीं, किन्तु पल्लववंशी शिवस्कन्दवर्मा हैं चाहिए। स्कन्द, कुमार और कार्तिकेय षडाननके नामान्तर हैं। अतएव शि स्कन्द और शिवकुमार दोनों निःसन्देह एक हो सकते हैं। पल्लववंशी रा ओंकी राजधानी काञ्चीपुर या वर्तमान कांजीवरम् थी। विद्या और कलाओं लिए यह स्थान बहुत ही प्रसिद्ध था। दूर दूरके विद्वान् और कवि यहाँके दरबा आते थे। धार्मिक वादविवाद भी यहाँ होते थे। पल्लव राजा जैनी या जैनधर्म आश्रयदाता थे, इसके भी प्रमाण मिलते हैं। उनकी दरबारी भाषा भी शा प्राकृत थी। 'मायिडावोली' नामका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ उसी समयका बना हु है और प्राकृतमें है। आचार्य कुन्दकुन्द द्रविड़देशके थे। इसके अनेक प्र हैं, अतएव उनका शिष्य शिवकुमार यही शिवस्कन्दवर्मा होगा और उ अवस्थितिकाल विक्रमकी प्रथम शताब्दि है।

श्रीश्रुतसागरसूरि।

षट्प्राभृत या षट्पाहुड़के टीकाकार आचार्य श्रुतसागर बहुश्रुत विद्वान् इस टीकासे और यशस्तिलक-चन्द्रिकाटीकासे मालूम होता है कि वे कलि सर्वज्ञ, कलिकाल गौतमस्वामी, उभयभाषाकविचक्रवर्ती आदि महती पदवियो अलंकृत थे। उन्होंने 'नवनवति' (९९) महावादियोंको पराजित किया था।

वे मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगणके आचार्य और विद्यानन्दि भट्टारकके शिष्य थे। उनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार थी—पद्मनन्दि—देवेन्द्र-कीर्ति-विद्यानन्दि।

परन्तु विद्यानन्दि भट्टारकके पट्टपर आन पड़ता है उनकी स्थापना नहीं हुई थी। क्यों कि विद्यानन्दिके बादकी गुरुपरम्परा इस प्रकार मिलती है—विद्या-नन्दि—मल्लिभूषण—लक्ष्मीचन्द्र।

स्वर्गीय दानवीर सेठ माणिकचन्दजीके ग्रन्थभण्डारमें प॰ आशाधरके महा-भिषेक नामक ग्रन्थकी टीका है। उसके अन्तमें इस प्रकार लिखा है:—

"श्रीविद्यानंदिगुरोर्बुद्धिगुरोः पादपंकजभ्रमर।
श्रीश्रुतसागर इति देशव्रती तिलकटीकते स्मेदं॥
इति महाश्रीश्रुतसागरकृता महाभिषेकटीका समाप्ता॥
श्रीरस्तु लेखकपाठकयोः॥ शुभं भवतु॥ श्री॥

श्रुतसागरसूरिके भी अनेक शिष्य रहे होंगे। इसी ग्रन्थमालाके तत्त्वानुशासनादिसंग्रहमें इनके एक श्रीचन्द नामक शिष्यकी रची हुई वैराग्यमणिमाला प्रकाशित हुई है। आराधनाकथाकोश, नेमिपुराण, आदि अनेक ग्रन्थोंके कर्ता ब्रह्मचारी नेमिदत्तने भी—जो मल्लिभूषणके शिष्य थे—श्रुतसागरको गुरुभावसे स्मरण किया है *। नेमिदत्तने भी मल्लिभूषणकी वही गुरुपरम्परा दी है, जो श्रुतसागरके ग्रन्थोंमें मिलती है। उन्होंने सिंहनन्दिका भी उल्लेख किया है।

श्रुतसागरका अभी तक टीकाग्रंथोंके अतिरिक्त कोई स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है।

उनके बनाये हुए ग्रन्थोंका परिचय आगे दिया जाता है:—

१ **यशस्तिलकचन्द्रिका**। यह निर्णयसागर प्रेसकी 'काव्यमाला' में प्रकाशित हो चुकी है। यह टीका अपूर्ण है—५ वें आश्वासके कुछ अंशकी और छठे आश्वासकी टीका नहीं है। जान पड़ता है, यही उनकी अन्तिम रचना है। यह टीका अनेक स्थानोंके ग्रन्थभण्डारोंमें मिलती है, परन्तु सर्वत्र ही अपूर्ण है।

२ **महाभिषेकटीका**। सुप्रसिद्ध पंडित आशाधरजीके बनाये हुए नित्यमहोद्योत या महाभिषेक नामक ग्रन्थकी यह टीका है। इसका अन्तिम अंश ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। उससे मालूम होता है कि उस समय श्रुतसागर देशव्रती या ब्रह्मचारी थे, सूरि या आचार्य नहीं हुए थे।

३ **तत्त्वार्थटीका**। यह श्रुतसागरी टीकाके नामसे प्रसिद्ध है। इस लेखके लिखते समय हमें इसकी प्राप्ति नहीं हो सकी। परन्तु यह दुष्प्राप्य नहीं है—इसका भाषानुवाद भी हो चुका है।

४ **तत्त्वत्रयप्रकाशिका**। आचार्य शुभचन्द्रकृत ज्ञानार्णवके अन्तर्गत जो गद्यभाग है, यह उसीकी टीका है। इसकी एक प्रति स्व० सेठ माणिकचन्द्रजीके ग्रंथसंग्रहमें† मौजूद है। उसकी प्रशस्ति देखिए:—

* श्रीमान्मे सूरिवर्यो व्रतनिचयलसत्पुण्यपुण्यः श्रुताब्धिः ॥ ४
तेषां पादयोश्च शुभकृपया... ...। इत्यादि।
—आराधनाकथाकोशप्रशस्तिः।

† ग्रन्थ नं० ३।

६ प्राकृतव्याकरण। यह ग्रन्थ हमें अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। यशस्तिलक॰ टीकामें एक जगह उन्होंने अपने लिए यह विशेषण भी दिया है—"प्राकृत-व्याकरणाद्यनेकशास्त्ररचनाचञ्चुना।" इससे और षट्प्राभृतटीकामें जो जगह जगह प्राकृत व्याकरणके सूत्र दिये हैं उनसे भी मालूम होता है कि इनका बनाया हुआ कोई प्राकृत व्याकरण अवश्य है। इस ग्रन्थका पता लगानेकी बहुत आवश्यकता है।

इनके सिवाय तर्कदीपक, विक्रमप्रबन्ध, श्रुतस्कन्धावतार, आशाधरकृत पूजा-प्रबन्धकी टीका, बृहत्कथाकोश आदि और भी कई ग्रन्थ इनके बनाये हुए कहे जाते हैं।

इन्होंने अपने किसी भी ग्रन्थमें अपने समयका उल्लेख नहीं किया है, परन्तु यह प्रायः निश्चित है कि ये विक्रमकी १६ वीं शताब्दिमें हुए हैं। क्यों कि—

१–ऊपर जिस महाभिषेकटीकाकी प्रतिका उल्लेख किया गया है वह वि॰ सं॰ १५८२ की लिखी हुई है और वह भट्टारक मल्लिभूषणके उत्तराधिकारी लक्ष्मीचंद्रके शिष्य ब्रह्मचारी ज्ञानसागरके पढ़नेके लिए दान की गई है और इन लक्ष्मीचन्द्रका उल्लेख श्रुतसागरने स्वयं अपनी टीकाओंमें कई जगह किया है।

२—आराधनाकथाकोशके कर्ता ब्र॰ नेमिदत्त वि॰ १५७५ के लगभग हुए हैं और वे श्रुतसागरके गुरुभ्राता मल्लिषेणके शिष्य थे।

३—स्वर्गीय बाबा दुलीचन्दजीकी सं॰ १९५४ की बनाई हुई हस्तलिखित ग्रन्थोंकी सूचीमें श्रुतसागरका समय वि॰ संवत् १५५० लिखा हुआ है।

४—षट्प्राभृतटीकामें जगह जगह लौंकागच्छपर तीव्र आक्रमण किये गये हैं और श्वेताम्बरसम्प्रदायमेंसे यह मूर्तिपूजाका विरोधी पन्थ वि॰ संवत् १५०८ के लगभग स्थापित हुआ है। अतएव श्रुतसागरका समय इसकी स्थापनासे अधिक नहीं तो ४०-५० वर्ष पीछे अवश्य मानना चाहिए।

ग्रन्थ-सम्पादन।

इस संग्रहका सम्पादन और संशोधन पण्डित पन्नालालजी सोनीने नीचे लिखी प्रतियोंसे किया है। जिन जिन सज्जनोंने इस कार्यके लिए ग्रन्थ भेजनेकी कृपा की है, उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट किये बिना हमसे नहीं रहा जाता।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

नमः सिद्धेभ्यः ।

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचितं

षट्प्राभृतम् ।

श्रीश्रुतसागरसूरिविरचितया टीकया सहितम् ।

[illegible] ।

[illegible] ॥ १ ॥

[illegible]

अष्टपदा नान्दी। वोच्छामि वक्ष्यामि कथयिष्यामि। कः कर्ता, अहं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः। कं, कर्मतापन्नं दंसणमग्गं सम्यग्दर्शनमार्गं। कथं वक्ष्यामि, जहाकम्मं यथाक्रममनुक्रमेण। केन कृत्वा, समासेन संक्षेपेण। किं कृत्वा, पूर्वं वड्ढमाणस्स णमुक्कारं काऊण वर्द्धमानस्य प्रियकारिणीगर्भसिद्धार्थमहाराजनन्दनस्य अन्तिमतीर्थंकरपरमदेवस्य भरतक्षेत्रपूर्वविदेहदेशसम्बन्धिश्रीकुण्डपुरपत्तनोत्पन्नस्य सुवर्णवर्णशरीरस्य किंचिदधिकद्वासप्ततिवर्षपरमायुषः सप्तहस्तोन्नतशरीरस्य निर्भयत्वगतिसंगमनामधेयदेवकृतसत्यवचनस्य वीरवर्द्धमानमहावीरमहतिमहावीरसन्मतिनामपंचकप्रसिद्धस्य। नमुक्कारं नमोऽस्त्विति वचनेन मनसा कायेन वचसा साष्टाङ्गं प्रणामं। काऊण कृत्वा। कथंभूतस्य वर्धमानस्य, जिणवरवसहस्स जिनवराणां श्रीगौतमादिगणधरदेवादीनां मध्ये वृषभस्य श्रेष्ठस्य। इत्यनेन विशेषणेन प्रथमतीर्थंकरश्रीमदादिनाथादीनामपि सर्वतीर्थंकरसमुदायस्यापि नमस्कारः कृतो भवतीति वेदितव्यं।

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥ २॥

दर्शनमूलो धर्मः उपदिष्टो जिनवरैः शिष्याणाम्।
तं श्रुत्वा स्वकर्णे दर्शनहीनो न वन्दितव्यः ॥

दंसणमूलो धम्मो दर्शनं सम्यक्त्वं मूलमधिष्ठानमाधारं प्रासादस्य गर्तापूरवत् वृक्षस्य पाताळगतजटावत् प्रतिष्ठा यस्य धर्मस्य स दर्शनमूल एवं गुणविशिष्टो धर्मो दयालक्षणः। **जिणवरेहिं** तीर्थंकरपरमदेवैरपरकेवलिभिश्च। **उवइट्ठो** उपदिष्टः प्रतिपादितः। केषामुपदिष्टः, **सिस्साणं** शिष्याणां गणधरचक्रधरवज्रधरादीनां भव्यवरपुण्डरीकाणां। **तं सोऊण सकण्णे** तं धर्मं श्रुत्वाऽऽकर्ण्य स्वकर्णे निजश्रवणे आत्मशब्दग्रहे।

१ सोदूण. ग. । २ न. क. ।

दंसणहीणो ण वंदिव्वो दर्शनहीनः सम्यक्त्वरहितो न वन्दितव्यो नैव वन्दनीयो न माननीयः । तस्माद्दानादिकमपि न देयं । उक्तं च-

मिथ्यादृग्भ्यो ददद्दानं दाता मिथ्यात्ववर्धकः ।

अथ कोऽसौ दर्शनहीन इति चेत् तीर्थंकरपरमदेवप्रतिमां न मानयन्ति न पुष्पादिना पूजयन्ति । किमिति न पूजयन्ति ? मिथ्यादृष्टयः किलैवं वदन्ति तीर्थंकरपरमदेवः किं देवान् पूजयति ? तथा वयमपि न पूजयामः । पंचमकाले किल मुनयो न वर्तन्ते तदयुक्तं । उक्तं च–

भर्तारः कुलपर्वता इव भुवो मोहं विहाय स्वयं
रत्नानां निधयः पयोधय इव व्यावृत्तवित्तस्पृहाः ।
स्पृष्टाः कैरपि नो नभोविभुतया विश्वस्य विश्रान्तये
सन्त्यद्यापि चिरंतनान्तिकचराः सन्तः कियन्तोऽप्यमी ॥ १ ॥

मिथ्यादृष्टयः किल वदन्ति व्रतैः किं प्रयोजनं, आत्मैव पोषणीयः, तस्य दुःखं न दातव्यं, मयूरपिच्छं किल रुचिरं न भवति, सूत्रपिच्छं रुचिरं, मयूरपिच्छेन आमेदनं छोतिर्भवति तदसत्यं। उक्तं च भगवत्याराधनाकल्पे—

रजसेदाणमगहणं मद्दवसुकुमालदा लहुत्तं च ।
जत्थेदे पंच गुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ॥ १ ॥

शासनदेवता न पूजनीयाः, आत्मैव देवो वर्तते, अपरः कोऽपि देवो नास्ति, वीरादनन्तरं किल केवलिनोऽष्ट जाता न तु नव, नाग्न्यादिकं किल निष्फलं इत्यादि ये सम्यक् मन्यन्ते ते मिथ्यादृष्टयश्चार्वाका नास्तिकास्ते । यदि जिनसूत्रमुल्लंघन्ते तदाऽऽस्तिकैर्युक्तिवचनेन निषेधनीयाः । तथापि यदि कदाग्रहं न मुञ्चन्ति तदा समर्थैरास्तिकैरुपानद्भिर्गूथलिप्ताभिर्मुखे ताडनीयाः, तत्र पापं नास्ति ।

१ इयं श्वेताम्बरदर्शनमान्यता—(छं)

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥ ३ ॥

दर्शनभ्रष्टा भ्रष्टाः दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाणम् ।
सिद्धयन्ति चरित्रभ्रष्टा दर्शनभ्रष्टा न सिद्धयन्ति ॥

दर्शनभ्रष्टा भ्रष्टा सम्यग्दर्शनात्पतिताः पतिता उच्यन्ते । दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाणं—सम्यग्दर्शनात्पतितस्य सर्वकर्मक्षयलक्षणो मोक्षो न भवति किन्तु सम्यग्दर्शनात्पतिताः नरकादिगतिषु परितो दीर्घकालं पर्यटन्ति । **सिज्झंति चरियभट्ठा** सिद्धयन्ति आत्मोपलब्धिमनुभवन्ति प्राप्नुवन्ति, के, ते चरियभट्ठा—चारित्रात्पतिता यतिश्रावकलक्षणब्रह्मचर्यप्रत्याख्यानाभ्यां स्खलिता, सामग्री प्राप्य श्रेणिकमहाराजादिवत् स्तोकेन कालेन मोक्षं प्राप्नुवन्ति । **दंसणभट्ठा न सिज्झंति** सम्यग्दर्शनात्पतिता न सिद्धयन्ति मोक्षं न प्राप्नुवन्ति भव्यसेनादिवत् वशिष्ठर्ष्यादिवत्च संसारे निमज्जन्ति इति ज्ञात्वा श्रुतकीर्तिश्रेयासादिप्रमाणपुरुषैरुपप्रवर्तितं दानपूजादिसत्कर्म न निषेधनीयं, आस्तिकभावेन सदा स्यातव्यमित्यर्थः ।

सम्मत्तरयणभट्ठा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं ।
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥ ४ ॥

सोऽपि पापः स्वयं क्रोधादरुणीभूतवीक्षणः ।
उद्यमी पिष्टमाहर्तुं प्रस्फुरद्दशनच्छदः ॥ १ ॥
सोढुं तदक्षमः कश्चिदसुरः शुद्धदृक् तथा ।
हनिष्यति तमन्यायं शक्तः सन् सहते न हि ॥ २ ॥
सोऽपि रत्नप्रभां गत्वा सागरोपमजीवितः ।
चिरं चतुर्मुखो दुःखं लोभादनुभविष्यति ॥ ३ ॥
धर्मनिर्मूलविध्वंसं सहन्ते न प्रभावकाः ।
नास्ति माध्यस्थ्येनैव विना धर्मप्रभावना ॥ ४ ॥
धर्मध्वंसे सतां ध्वंसस्तस्माद्धर्मद्रुहोऽधमान् ।
निवारयन्ति ये सन्तो रक्षितं तैः सतां जगत् ॥ ५ ॥

१ म. क. । २. घ. ग ।

सम्यक्त्वरत्नभ्रष्टा जानन्तो बहुविधानि शास्त्राणि ।
आराधनाविरहिता भ्रमन्ति तत्रैव तत्रैव ॥

सम्मत्तरयणभट्टा सम्यक्त्वरत्नभ्रष्टाः सम्यक्त्वमेव रत्नं सर्वेभ्यो भावेभ्य उत्तमं वस्तु त्रैलोक्यपत्यसमुद्योतकत्वात् तस्माद्भ्रष्टाः परिच्युता दानपूजादिकनिषेधकाः । **जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं** जानन्तोऽपि बहुविधानि शास्त्राणि तर्कव्याकरणछन्दोलङ्कारसाहित्यसिद्धान्तादीन् ग्रन्थान् जानाना अपि । **आराहणाविरहिया** जिनवचनमाननलक्षणामाराधनामकुर्वाणा लौंकाः पातकिनः । **भमंति तत्थेव तत्थेव** तत्रैव तत्रैव नरकादिष्वेव दुर्गतिषु भ्राम्यन्ति न कदाचिदपि मोक्षं लभन्ते इत्यर्थः ।

सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंता णं ।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥ ५ ॥

सम्यक्त्वविरहिता णं सुष्ठु अपि उग्रं तपः चरन्तः णं ।
न लभन्ते बोधिलाभं अपि वर्षसहस्रकोटिभिः ॥

सम्मत्तविरहिया णं सम्यक्त्वविरहिताः सम्यक्त्वात् ये विरहिताः पतिताः । णं वाक्यालङ्कारे । **सुट्ठु वि उग्गं तवं कुणंता णं** सुष्ठु अपि अतीवापि उग्रं तपः कुर्वन्तोऽपि मासोपवासादिकं तपोविशेषमाचरन्तोऽपि । णमिति वाक्यालंकारे । **न लहंति बोहिलाहं** ते पुरुषा बोधिलाभं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणोपलक्षिता या बोधिस्तस्या लाभे न लभन्ते । कियत्कालपर्यन्तं बोधिलाभं न लभन्त इत्याह—**अवि वाससहस्सकोडीहिं** अपि वर्षसहस्रकोटिभिः वर्षसहस्रकोटिभिरपि अनन्तकालमपि गमयित्वा ते मुक्तिं न गच्छन्तीत्यर्थः । इति ज्ञात्वा दानपूजादिके व्यवहारधर्मे निश्चयधर्मे प्रधानभूतं न वर्जनीयमिति भावार्थः ।

---

१ न. क.

सम्मत्तणाणदंसणबलवीरियवड्ढमाण जे सव्वे ।
कलिकलुसपावरहिया वरणाणी होंति अइरेणं ॥ ६ ॥

सम्यक्त्वज्ञानदर्शनबलवीर्यवर्द्धमाना ये सर्वे ।
कलिकलुषपापरहिता वरज्ञानिनो भवन्ति अचिरेण ॥

सम्मत्तणाणदंसणबलवीरियवड्ढमाण सम्यक्त्वज्ञानदर्शनबलवीर्यवर्द्धमानाः । **जे सव्वे** ये सर्वे भव्यजीवाः । सम्यक्त्वेन जिनवचनरुचिरूपेण, ज्ञानेन पठनपाठनादिना, दर्शनेन सत्तावलोकनमात्रेण, बलेन निजवीर्यानिगूहनरूपेण, वीर्येणात्मशक्त्या ये पुरुषा वर्धमाना वर्तमाना वा वड्ढमाणपाठेन ते पुरुषाः । **वरणाणी होंति** केवलज्ञानिनो भवन्ति वरशब्देन तीर्थकरत्वं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । कदा, **अइरेण** अचिरेण स्तोककालेन तृतीये भवे मोक्षं यान्तीत्यर्थः । ते पुरुषाः कथंभूताः, **कलिकलुसपावरहिया** कलिषु कर्मसु यानि कलुषाणि दुष्टानि पापानि मोहनीयज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयान्तरायलक्षणानि दुरितानि तै रहिता क्षयं नीतघातिकर्माण इत्यर्थः । अथवा कलौ पंचमकाले कलुषाः कश्मलिनः शौचधर्मरहिताः वर्णान् लोपयित्वा यत्र तत्र भिक्षाग्राहिणः मांसभक्षिगृहेष्वपि प्रासुकमन्नादिकं गृह्णन्तः कलिकलुषास्ते च ते पापाः पापमूर्तयः श्वेताम्बराभासाः लोकापकापरनामानो लौंका म्लेच्छश्मशानाम्पदेष्वपि भोजनादिकं कुर्वाणास्तद्धर्मरहिताः कलिकलुषपापरहिताः । श्रीमूलसंघे परमदिगम्बरा मोक्षं प्राप्नुवन्ति लौंकास्तु नरकादौ पतन्ति देवगुरुशास्त्रपूजादिविलोपकत्वादित्यर्थः ।

सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हियए पवट्टए जस्स ।
कम्मं वालुयवरणं बंधुच्चिय णासए तस्स ॥ ७ ॥

---

१ अचिरेण. ग. । २ हियवम्मि ग. घ. ।

सम्यक्त्वसलिलप्रवाहः नित्यं हृदये प्रवर्तते यस्य ।
कर्म वालुकावरणं बद्धमपि नश्यति तस्य ॥

सम्मत्तसलिलपवहो सम्यक्त्वसलिलप्रवाहः सम्यक्त्वमेव सलिलं निर्मलशीतलसुगन्धसुस्वादुपानीयं संसारसन्तापनिवारकत्वात् पापमलकलंकप्रक्षालकत्वाच्च सम्यक्त्वसलिलं तस्य प्रवहः प्रवाहः पूरः । णिच्चं हियए पवट्टए जस्स नित्यं हृदये प्रवर्तते यस्य जलपूरवद्वहतीत्यर्थः । कम्मं वालुयवरणं हिंसादिपंचपातकपापं वालुकापाली । बंधुचिय बद्धमपि । नासए तस्स नश्यति तस्य । सम्यग्दृष्टेर्बद्धमपि पापं बन्धं न याति कौरवटस्थितं रज इव न बन्धं याति । परदेवनमस्कारोऽपि पापमायाति । उक्तं च—

एकवारं नमस्कारे परदेवे कृते सति ।
परदारेषु लक्षेषु तस्मात्पापं चतुर्गुणं ॥ १ ॥

जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य ।
एदे भट्ठविभट्ठा सेसं पि जणं विणासंति ॥ ८ ॥

ये दर्शनेषु भ्रष्टाः ज्ञाने भ्रष्टाः चरित्रभ्रष्टाश्च ।
एते भ्रष्टविभ्रष्टाः शेषमपि जनं विनाशयन्ति ॥

जे दंसणेसु भट्ठा ये पुरुषा दर्शनेषु सम्यक्त्वेषु द्विविधत्रिविधदशविधेषु भ्रष्टाः पतिताः अथवा दर्शने मुष्ठु भ्रष्टाः । तथा णाणे भट्ठा अष्टविधाचारज्ञानादपि भ्रष्टाः । चरित्तभट्ठा य त्रयोदशप्रकाराच्चारित्राद्भ्रष्टाः । एदे भट्ठविभट्ठा एते भ्रष्टा विशेषेण भ्रष्टास्त्रिभ्रष्टत्वात् । सेसं पि जणं विणासंति शेषमपि जनमभ्रष्टमपि लोकं विणासन्ति-विनाशयन्ति भ्रष्टं विकुर्वन्ति ।

जो को वि धम्मसीलो संजमतवणियमजोयगुणधारी ।
तस्स य दोस कहन्ता भग्गा भग्गत्तणं दिंति ॥ ९ ॥

१ जे के वि. प.

यः कोऽपि धर्मशीलः संयमतपोनियमयोगगुणधारी ।
तस्य च दोषान् कथयन्तः भग्ना भग्नत्वं ददति ॥

जो को वि धम्मसीलो यः कोऽपि धर्मशीलो धर्मे आत्मस्वरूपे उत्तमक्षमादिदशलक्षणे च धर्मे, पंचप्रकारे त्रयोदशप्रकारे चारित्रे च प्राणिनां रक्षणलक्षणे वा धर्मे शीलमभ्यासः समाचिरभ्यासो यस्य स धर्मशीलः । उक्तं च—

धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।
चारित्तं खलु धम्मो जीवाणं रक्खणो धम्मो ॥ १ ॥

संजमतवणियमजोयगुणधारी तथा यः कोऽपि संयमतपोनियमयोगगुणधारी वर्तते । संयमश्च षडिन्द्रियषट्प्रकारप्राणिप्राणरक्षणलक्षणः तपश्च द्वादशप्रकारं । नियमश्च नियतकालव्रतधारणं । उक्तं च—

नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारात् ।
नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥ १ ॥

योगश्च वर्षादिकालस्थितिः । अथवाऽऽत्मध्याने योग उच्यते । उक्तं वीरनन्दिशिष्येण पद्मनन्दिना—

साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनं ।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः । ॥ १ ॥

गुणाश्चतुरशीतिलक्षसंख्याः । के ते चतुरशीतिलक्षगुणा इति चेदु-च्यन्ते— हिंसाऽनृतस्तेयमैथुनपरिग्रहक्रोधमानमायालोभजुगुप्साभयारति-रतित्यागा इतित्रयोदश दोषाः । मनोवचनकायदुष्टत्वमिति षोडश मिथ्यात्वं प्रमादः पिशुनत्वं अज्ञानं इन्द्रियाणामनिग्रह एते पंचभि-*लिता एकविंशतिर्दोषा भवन्ति तेषां त्यागा एकविंशतिर्गुणा भवन्ति*

१ धर्मो वस्तुस्वभावः क्षमादिभावश्च दशविधो धर्मः ।
चारित्रं खलु धर्मः जीवानां रक्षणं धर्मः ॥ १ ॥

अतिक्रमव्यतिक्रमातिचारानाचारत्यागैश्चतुर्भिर्गुणिताश्चतुरशीतिर्गुणा भवन्ति ते पृथिव्यादिशतजीवसमासैर्गुणिताश्चतुरशीतिशतानि गुणा भवन्ति ते दशशीलविराधनैर्गुणिताश्चतुरशीतिसहस्राणि गुणा भवन्ति । कास्ताः शीलविराधनाः स्त्रीसंसर्गः १ सरसाहारः २ सुगन्धसंस्कारः ३ कोमलशयनासनं ४ शरीरमण्डनं ५ गीतवादित्रश्रवणं ६ अर्थग्रहणं ७ कुशीलसंसर्गः ८ राजसेवा ९ रात्रिसंचरणं १० इतिदशशीलविराधनाः । ते आकम्पितादिदशालोचनादोषत्यागैर्दशभिर्गुणिताः चत्वारिंशत्सहस्राधिकाष्टलक्षाणि गुणा भवन्ति । उत्तमक्षमादिदशधर्मैर्गुणिताश्चतुरशीतिलक्षाणि गुणा भवन्ति । अथातिक्रमादयश्चत्वारः के ? अतिक्रमस्तावद्विषयाभिलाषः । व्यतिक्रमः शीलवृत्तिलंघनं । अतिचारो विषयेषु प्रवर्तनं । अनाचारो विषयेष्वत्यासक्तिः । के ते दशालोचनादोषाः ? तदर्थनिरूपिका गाथेयं—

> आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च ।
> छण्णं सद्दाउलयं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी ॥ १ ॥

अस्या अयमर्थः—आकम्पितं आकम्पो भयमुत्पद्यते मा बहुदण्डं दास्यत्याचार्यः १ अणुमाणियं अनुमानं इयदेतावत्पापं कृतं भविष्यति निर्दोषो नास्ति २ जं दिट्ठं यदन्येन दृष्टं तत्प्रकाशयति ३ बादरं स्थूलं पापं प्रकाशयति ४ सुहुमं अल्पं पापं कथयति न महापापं प्रकाशयति ५ छण्णं प्रच्छन्नं आचार्याय कथयति न प्रकटं ६ । सद्दाउलयं कोलाहलमध्ये कथयति पापं ७ बहुजणे बहुः संघो मिलितः तदा पापं प्रकाशयति ८ अव्वत्तं अव्यक्तं प्रकाशयति स्फुटं न कथयति ९ तस्सेवी तत्पापं प्रकाशितं तदेव पुनरपि करोति १० इति दशालोचनादोषाः । दशधर्मसंज्ञाः के ? [illegible] इति दश । [illegible]

संयमतपोनियमयोगगुणधारी। तस्स य दोस कहंता तस्य च दोषान् कथयन्तः केचित्पापिष्ठाः। भग्गा भग्गत्तणं दिति स्वयं भग्नाश्चारित्रात्पतिता भ्रष्टा अन्येषामपि भ्रष्टत्वमारोपयन्ति ते निन्दनीया इत्यर्थः।

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परिवड्ढी।
तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति॥ १०॥

यथा मूले विनष्टे द्रुमस्य परिवारस्य नास्ति परिवृद्धिः।
तथा जिनदर्शनभ्रष्टाः मूलविनष्टा न सिद्ध्यन्ति॥

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परिवड्ढी यथा मूले पाताळगताधारे विनष्टे विनाशं प्राप्ते द्रुमस्य वृक्षस्य परिवारस्य नास्ति परिवृद्धिः शाखापत्रपुष्पफलादेर्वृद्धिर्नास्ति वृद्धिर्न भवति। परिवार इत्यत्र षष्ठीलुक् "लुक्चेति" वचनात्। दृष्टान्तं दत्वा दार्ष्टान्तं ददाति। तह जिणदंसणभट्ठा तथा तेन द्रुममूलप्रकारेण जिनदर्शनभ्रष्टा आर्हतमताच्च्युता। मूलविणट्ठा श्रीमूलसंघात्प्रच्युताः। न सिद्ध्यन्ति–न मोक्षं प्राप्नुवन्ति जन्मशतसहस्रेष्वपि संसारे परिभ्रमन्तीति भावार्थः।

जह मूलाओ खंधो साहापरिवार बहुगुणो होइ।
तह जिणदंसण मूलो णिद्दिट्ठो मोक्खमग्गस्स॥ ११॥

यथा मूलात् स्कन्धः शाखापरिवारो बहुगुणो भवति।
तथा जिनदर्शनं मूलं निर्दिष्टं मोक्षमार्गस्य॥

जह मूलाओ यथा मूलात् वृक्षस्य मूलात्कारणात्। खंधो स्कन्धः शाखाबंधिः प्रकाण्डः। बहुगुणो होइ प्रचुरगुणो वृद्धयायामविशयवान् भवति। तथा साहापरिवार शाखापरिवारश्च उपशाखाः कटप्रथ बहुगुणो भवति पत्रपुष्पफलादिमान् भवति। दृष्टान्तो गतः। इदानीं दार्ष्टान्त-

१ बहुगुणा द्वितीय. म. ब.।

पिच्छे ण हु सम्मत्तं करगहिए मोरचमरडंबरए ।
अप्पा तारइ अप्पा तम्हा अप्पा वि झायव्वो ॥ १ ॥

तथा च सितपटमतं—

सेयंबरो य आसंबरो य बुद्धो य तह य अण्णो य ।
समभावभावियप्पा लहेय मोक्खं ण संदेहो ॥ १ ॥

जैमिनिकपिलकणचरचार्वाकशाक्यमतानि तु प्रमेयकमलमार्तण्डा-दिशाज्ज्ञात् ज्ञातव्यानि ।

जे दंसणेसु भट्टा पाए ण पडंति दंसणधराणं ।
ते होंति लल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं ॥ १२॥

ये दर्शनेषु भ्रष्टा पादे न पतन्ति दर्शनधराणाम् ।
ते भवन्ति लल्लमूका: बोधिः पुनर्दुर्लभा तेषाम् ॥

जे दंसणेसु भट्टा ये पुरुषा दर्शनेषु भ्रष्टा निसर्गजाधिगमजलक्षणा-द्विविधात्सम्यग्दर्शनात्, औपशमिकवेदकक्षायिकलक्षणात्त्रिविधात्सम्यक्त्व-रत्नात् प्रच्युता ।

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात् ।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावगाढे च ॥ १ ॥

इत्यार्याकथितदशविधसम्यक्त्वरत्नात्पतिता:। अस्या आर्याया अयमर्थः—

" सूक्ष्मं जिनोदितं वाक्यं हेतुभिर्यन्न हन्यते ।
आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः "

एवं जिनसर्वज्ञवीतरागवचनमेव प्रमाणं क्रियते तदाज्ञासम्यक्त्व-मुच्यते । १ । निर्ग्रन्थलक्षणो मोक्षमार्गो न वस्त्रादिवेष्टितः पुमान् कदा

१ पिच्छे न हि सम्यक्त्वं करगृहीते मयूरचमरडंबरे ।
आत्मा तारयत्यात्मानं तस्मादात्मा ध्यातव्यः ॥ १ ॥
२ श्वेताम्बरश्चाशाम्बरश्च बुद्धश्च तथा चान्यश्च ।
समभावभावितात्मा लभेत मोक्षं न सन्देहः ॥ १ ॥
३ पाए हि. ब. । ४ पाडंति. ग. । ५ होंति. ब. ।

चिदपि मोक्षं प्राप्स्यति, एवं विधो मनोभिप्रायो निर्ग्रन्थलक्षणमोक्षमार्गे रुचिर्मार्गसम्यक्त्वं द्वितीयमुच्यते । २ । त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसमाकर्णनेन बोधिसमाधिप्रदानकारणेन यदुत्पन्नं श्रद्धानं तदुपदेशनामकं सम्यग्दर्शनं भण्यते । ३ । मुनीनामाचारसूत्रं मूलाचारशास्त्रं श्रुत्वा यदुत्पद्यते तत्सूत्रसम्यक्त्वं कथ्यते । ४ । उपलब्धिवशाद्दुरभिनिवेशविध्वंसान्निरूपनोपशमाभ्यन्तकारणाद्विज्ञातदुर्व्याख्येयजीवादिपदार्थबीजभूतशास्त्राद्यदुत्पद्यते तद्बीजसम्यक्त्वं प्ररूप्यते । ५ । तत्वार्थसूत्रादिसिद्धान्तनिरूपितजीवादिद्रव्यानुयोगद्वारेण पदार्थान् संक्षेपेण ज्ञात्वा रुचिं चकार यः स संक्षेपसम्यक्त्वः पुमानुच्यते । ६ । द्वादशाङ्गश्रवणेन यज्जायते तद्विस्तारसम्यक्त्वं प्रतिपाद्यते । ७ । अंगबाह्यश्रुतोक्तात् कुतश्चिदर्थाद्दङ्गबाह्यश्रुतं विनापि यत्प्रभवति तत्सम्यक्त्वमर्थसम्यक्त्वं निगद्यते । ८ । अंगान्यङ्गबाह्यानि च शास्त्राण्यधीत्य यदुत्पद्यते सम्यक्त्वं तदवगाढमुच्यते । ९ । यत्केवलज्ञानेनार्थानवलोक्य सद्दृष्टिर्भवति तस्य परमावगाढसम्यक्त्वं कथ्यते । १० । तथा चोक्तं गुणभद्रेण गणिना—

आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञयैव
त्यक्तग्रन्थप्रपंचं शिवममृतपथं श्रद्दधन्मोहशान्तेः ।
मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता
या संज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशादिरादेशि दृष्टिः ॥ १ ॥
आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्दधानः
सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः ।
कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमशमवशाद्बीजदृष्टिः पदार्थान्
संक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साधु संक्षेपदृष्टिः ॥ २ ॥
यःश्रुत्वा द्वादशाङ्गीं कृतरुचिरथ तं विद्धि विस्तारदृष्टिं
संजातार्थात्कुतश्चित्प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थदृष्टिः ।
दृष्टिः साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा
कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा ॥ ३ ॥

ईदृशदर्शनेषु भ्रष्टान्यातसमयूरपिच्छकमण्डलुपरमागमपुस्तकाः सन्तो गृहस्थवेषधारिणः संयमधराणां संयमिनां सद्दृष्टीनां । पाए न पडंति पादे चरणयुगले न पतन्ति नैव नमोऽस्त्विति कुर्वन्ति अभिमानित्वा-न्मुखाव्यवतिष्ठन्ति । ते किं भवन्ति ? ते होंति लल्लमूआ ते भवन्ति लल्ला अस्फुटवाचो मूका वक्तुं श्रोतुमशिक्षिताः । बोही पुण दुल्लहा तेसिं बोधिः खलु रत्नत्रयप्राप्तिः पुनर्जन्मशतसहस्रेष्वपि दुर्लभा कष्टेनापि लब्धुम-शक्या तेसिं–तेषां जैनाभासतदाभासानां च मिथ्यादृष्टीनामिति शेषः ।

जे पि पडंति च तेसिं जाणंता लज्जगारवभयेण ।
तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणमोअमाणाणं ॥ १३ ॥

येपि पतन्ति च तेषां जानन्तो लज्जागारवभयेन ।
तेषामपि नास्ति बोधिः पापं अनुमन्यमानानाम् ॥

जे पि पडंति च तेसिं ये सम्यग्दर्शनादभ्रष्टा अपि पुरुषा तेसिं-तेषां परित्यक्तजिनमुद्राणां मयूरपिच्छशौचोपकरणज्ञानोपकरणरहितानां पादे कायधरयुगले पतन्ति नमस्कारं कुर्वन्ति पूर्वमुद्राधरा इति । जाणंता विदन्तोऽपि जिनमुद्राविराधका एते इत्यवगच्छन्तोऽपि । लज्जागारव-भएण लज्जया त्रपया, गारवेण रसर्द्धिसातगर्वेण, भयेनायं राजमान्योऽस्माकं कमप्युपद्रवं कारयिष्यतीत्यादिभीत्या च । तेसिं पि णत्थि बोही तेषामपि बोधिर्नास्ति ते रत्नत्रयं प्रपालयन्तोऽपि रत्नत्रयाद्भ्रष्टा इति ज्ञातव्या इति भावः । कथंभूतानां तेषां, पावं अणुमोयमाणाणं जिनदर्शनभ्रंशाद्यदुत्पन्नं पापं पातकं तदनुमन्यमानानामिति शेषः । उक्तं च समन्तभद्रेण गणिना

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनां ।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥ १ ॥

दुविहं पि गंथचायं तीसु वि जोएसु संजमो ठादि ।
णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होइ ॥ १४ ॥

र्थानामुपलब्धि. जीवादितत्वानां जीवस्य परिज्ञानं भवति। उवलद्ध-पयत्थे पुण उपलब्धपदार्थे पुनः उपलब्धश्चासौ पदार्थः उपलब्धपदार्थ-स्तस्मिन्नुपलब्धपदार्थे सति। किं भवति, सेयासेयं वियाणेदि श्रेयः पुण्यं विशिष्टतीर्थकरनामकर्म, अश्रेयः पापं चतुर्गतिपरिभ्रमणकारणं विशे-षेण जानीते। उक्तं च—

न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृतां॥ १॥

सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवंतो वि।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहइ णिव्वाणं॥ १६॥

श्रेयोऽश्रेयोवेत्ता उद्धृतदुःशीलः शीलवानपि।
शीलफलेनाभ्युदयं ततः पुनः लभते निर्वाणम्॥

सेयासेयविदण्हू श्रेयसः पुण्यस्य, अश्रेयसः पापस्य विदण्हू—वेत्ता पुमान्। उद्धुददुस्सील उन्मूलितदुःशीलो भवति। सीलवंतो वि शीलवान् पुमान्। सीलफलेण शीलफलेन कृत्वा। अब्भुदयं लहइ अभ्युदयं सांसारिकं सुखं प्राप्नोति। तत्तो पुण णिव्वाणं लहइ ततः पुनर्निर्वाणं लभते मोक्षं प्राप्नोति।

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं[1]।
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं॥ १७॥

जिनवचनमौषधमिदं विषयसुखविरेचनममृतभूतम्।
जरामरणव्याधिहरणं क्षयकरणं सर्वदुःखानाम्॥

जिणवयणमोसहमिणं जिनवचनमौषधमिदं इदं पूर्वोक्तलक्षणं जिनवचनं सर्वज्ञवीतरागभाषितं हेतुहेतुमद्भावसहितं औषधं वर्तते। कथं-

---

१ भूदं ग।

सूत्रं जिनवचनं औषधं, विषयसुखविरेचनं-विषयाणां पंचेन्द्रियार्थानां स्पर्शनरसगन्धवर्णशब्दानां सम्बन्धित्वेन यत्सुखं विषयसुखं तस्य विरेचनं दूरीकरणं । अमिदभूदं अमृतभूतं अविद्यमानं मृतं मरणं यत्र यस्माद्वा अन्यानां तदमृतभूतं अमृतोपमं । अतएव जरमरणवाहिहरणं जरा-मरणव्याधिहरणं विनाशकं । खयकरणं सव्वदुक्खाणं क्षयकरणं निर्मूलकं सर्वदुःखानां शारीरमानसागन्तुदुःखानां विध्वंसकमित्यर्थः ।

एकं जिणस्स रूवं बीयं उकिट्ठसावयाणं तु ।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थं पुण लिंगदंसणं णत्थि ॥ १८ ॥

एकं जिनस्य रूपं द्वितीयं उत्कृष्टश्रावकाणां तु ।
अवरस्थितानां तृतीयं चतुर्थं पुनः लिङ्गदर्शनं नास्ति ॥

एगं जिणस्स रूवं एकमद्वितीयं जिनस्य रूपं नग्नरूपं । बीयं द्वितीयं उत्कृष्टश्रावकाणां तु । उक्तं च—

आद्यास्तु षड् जघन्याःस्युर्मध्यमास्तदनु त्रयः ।
शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने ॥ १ ॥

केऽ—

" [illegible] " इति [illegible] । " [illegible] " इति [illegible] । [illegible] " [illegible] " [illegible] । अवरट्ठियाण तइयं [illegible] । चउत्थं पुण लिंग-दंसणं णत्थि [illegible] चतुर्थं पुन-

लिंगदर्शनं नास्ति । त्रीण्येव जिनशासने लिंगदर्शनानि प्रोक्तानि न न्यूनानि नाप्यधिकानीति शेष ।

छद्दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा ।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥ १९ ॥

षड् द्रव्याणि नव पदार्थाः पञ्चास्तिकायाः सप्त तत्त्वानि निर्दिष्टानि ।
श्रद्दधाति तेषां रूपं स सद्दृष्टिः ज्ञातव्यः ॥

छद्दव्व षड्द्रव्याणि जीवपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशाः षड् द्रव्याणि भवन्ति । वर्तमानकाले द्रवन्तीति द्रव्याणि भविष्यति काले द्रोष्यन्ति अतीतकालेऽदुद्रुवन्निति द्रव्याणि जीवपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशनामानि । णव पयत्था नव पदार्थाः जीवाजीवपुण्यपापास्रवबन्धसंवरनिर्जरमोक्षनामानः । पंचत्थी पंचास्तिकाया जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशनामानः पंचास्तिकाया उच्यन्ते । सत्त तच्च णिद्दिट्ठा सप्त तत्वानि निर्दिष्टानि कथितानि जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षनामानि । सद्दहइ ताण रूवं श्रद्दधाति तेषां रूपं स्वरूपं । सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो स पुमान् सद्दृष्टिरिति मन्तव्यो ज्ञातव्य । तेषु द्रव्यादिषु जीवः सचेतनः । पुद्गलो धर्मोऽधर्म काल आकाशश्च पंचाचेतनाः । षड्विधोऽपि पुद्गलो मूर्त । इतरे पंचामूर्ताः । जीवपुद्गलयोर्गमने कारणं धर्मः । सर्वेषां स्थितौ कारणमधर्म । सर्वेषामाधारमाकाश । वर्तनालक्षणः कालः रत्नानां राशिवत् भिन्नपरमाणुक । धर्माधर्माकाशा अखंडप्रदेशाः । कालपुद्गलजीवानां च प्रदेशेषु खण्डत्वं, न त्वेकजीवस्य प्रदेशानां खण्डत्वं । धर्माधर्मकालाकाशाश्चागो गमनागमनरहिता । गमनागमने जीवपुद्गलानामन्यत्र सिद्धजीवेभ्य । धर्माधर्मैकजीवानामसंख्येया प्रदेशाः । संख्येयासंख्येयानन्तप्रदेश आकाश । पुद्गलोऽनन्तप्रदेशश्च । सर्वाणि द्रव्या-

१ नम्य म. । २ अवगाहनस्थाने पुद्गलेन पुद्गलस्थाने आकाशेन भवितव्यं ।

स्वेऽन्तो मिलितान्यपि निजनिजगुणान्न जहति। एवं तत्वास्तिकायपदार्थानामपि स्वरूपं ज्ञातव्यं।

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं॥ २०॥

जीवादीनां श्रद्धानं सम्यक्त्वं जिनवरैः निर्दिष्टम्।
व्यवहारात् निश्चयतः आत्मा भवति सम्यक्त्वम्॥

जीवादीनां श्रद्धाने रुचिः सम्यक्त्वमिति जिनवरैः प्रणीतं तत्तु सम्यग्दर्शनं व्यवहाराज्ज्ञातव्यं। णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं निश्चयतो निश्चयनयादात्मैव भवति सम्यक्त्वं रुचिसामान्यत्वादित्यर्थः।

एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स॥ २१॥

एवं जिनप्रणीतं दर्शनरत्नं धरत भावेन।
सारं गुणरत्नेषु सोपानं प्रथमं मोक्षस्य॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण। जिणपण्णत्तं जिनैः प्रणीतं जिनैः कथितं। दंसणरयणं दर्शनरत्नं सम्यक्त्वमाणिक्यं। धरेह भावेण धरत यूयं भावेन वीतरागसर्वज्ञस्य भक्त्या। उक्तं च—

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुं।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः॥ १॥

कथंभूतं दर्शनरत्नं, सारं उत्कृष्टं। केषु सारं, गुणरयणत्तय गुणेषु रत्नत्रयमध्ये, तथा रत्नत्रये सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु। उक्तं च—

दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते॥ १॥

पुनरपि कथंभूतं दर्शनरत्नं, सोवाणं सोपानं पढमं प्रथमं [illegible], [illegible]। [illegible], मोक्खस्स [illegible]
[illegible]।

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।
केवलिजिणेहिं भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥ २२ ॥

यत् शक्नोति तत् क्रियते यच्च न शक्नुयात् तस्य च श्रद्धानं।
केवलिजिनैः भणितं श्रद्दधानस्य सम्यक्त्वम् ॥

जं सक्कइ तं कीरइ यच्छक्नोति तत्क्रियते विधीयते। जं च ण सक्केइ यच्च न शक्नुयात् यत्कर्तुं न शक्नोति। तं च सद्दहणं तस्य श्रद्धानं तस्य ज्ञानाचारादे रोचनं कर्तव्यं। केवलिजिणेहिं भणियं केवलज्ञानिभिर्जिनैर्भणितं प्रतिपादितं। केवलज्ञानं विना तीर्थकरपरमदेवा धर्मोपदेशान न कुर्वन्ति। अन्यमुनीनामुपदेशस्त्वनुवादरूपो ज्ञातव्यः अथवा केवलिभिः समवशरणमण्डितकेवलज्ञानसंयुक्ततीर्थंकरपरमदेवैर्भणितं जिनैरनगारकेवलिभिर्भणितं। किं भणितं? सद्दहमाणस्स सम्मत्तं श्रद्दधानस्य पुरुषस्य रोचमानस्य जीवस्य सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनं भवति।

दंसणणाणचरित्ते तवविणये णिच्चकालपसत्था।
एदे दु वंदणीया जे गुणवादी गुणधराणं ॥२३॥

दर्शनज्ञानचारित्रे तपोविनये नित्यकालप्रस्वस्थाः।
एते तु वन्दनीया ये गुणवादी गुणधराणाम् ॥

दंसणणाणचरित्ते दर्शनज्ञानचारित्रे दर्शनं च ज्ञानं च चारित्रं च दर्शनज्ञानचारित्रं समाहारो द्वन्द्वः तस्मिन् दर्शनज्ञानचारित्रे एतत्त्रितये तथा तवविणए तपोविनये च चतुर्विधाराधनायामित्यर्थः। णिच्च कालपसत्था नित्यकालप्रस्वस्था नित्यमेव प्रकर्षेण स्वस्था एकलोलीभावं प्राप्ताः एदे दु वंदणीया एते पुरुषा महामुनयो वन्दनीया नमस्कर्तव्याः। एते

१ तस्स होइ सद्दहणं. ग.।

के ? जे गुणवादी गुणधराणं ये मुनयः स्वयं सम्यग्दर्शनादीनामाराधका अन्येषां गुणधराणामाराधनाराधकानां। ये मुनयो गुणवादिनो गुणवर्णनशीला न मत्सरिणस्ते वन्दनीया नमस्करणीया इत्यर्थः।

सहजुप्पण्णं रूवं दट्ठुं जो मण्णए ण मच्छरिओ।
सो संजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो॥ २४॥

सहजोत्पन्नं रूपं दृष्ट्वा यो मन्यते न मत्सरी।
स संयमप्रतिपन्नः मिथ्यादृष्टिर्भवति एषः॥

सहजुप्पण्णं रूवं सहजोत्पन्नं स्वभावोत्पन्नं रूपं नग्नं रूपं। दट्ठुं दृष्ट्वा विलोक्य। जो मण्णए ण मच्छरिओ यः पुमान् न मन्यते नग्नत्वेऽरुचिं करोति नग्नत्वे किं प्रयोजनं पशवः किं नग्ना न भवन्तीति ब्रूते। मच्छरिओ-परेषां शुभकर्मणि द्वेषी। सो संजमपडिवण्णो स पुमान् संयमप्रतिपन्नो दीक्षां प्राप्तोऽपि। मिच्छाइट्ठि हवइ एसो मिथ्यादृष्टिर्भवत्येषः। अपवादवेषं धरन्नपि मिथ्यादृष्टिर्ज्ञातव्य इत्यर्थः। कोऽपवादवेषः ? कलौ किल म्लेच्छादयो नग्नं दृष्ट्वोपद्रवं यतीनां कुर्वन्ति तेन मण्डपदुर्गे श्रीवसन्तकीर्तिना स्वामिना चर्यादिवेलायां तट्टीसादरादिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्यादिकं कृत्वा पुनस्तन्मुञ्चन्तीत्युपदेशः कृतः संयमिनां इत्यपवादवेषः। तथा नृपादिवर्गोत्पन्नपरमवैराग्यवान् लिङ्गशुद्धिरहितः उत्पन्नमेहनपुटदोषः लज्जावान् वा शीतासहिष्णुर्वा तथा करोति सोऽप्यपवादलिङ्गः प्रोच्यते। उत्सर्गवेषस्तु नग्न एवेति ज्ञातव्यं। [illegible]

अमराण वंदियाणं रूवं दट्ठूण सीलसहियाणं।
जे गारवं करंति य सम्मत्तविवज्जिया होंति॥ २५॥

[illegible]

चतुःषष्ठिचमरसहितः चतुस्त्रिंशद्भिरतिशयैः संयुक्तः।
अनुचरबहुसत्त्वहितः कर्मक्षयकारणनिमित्ते ॥

चउसट्ठिचमरसहिओ चतुःषष्टिचामरसहितस्तीर्थंकरपरमदेवो भवति तं वन्दे इति विषमव्याख्या ज्ञातव्या। **चउतीसहि अइसएहिं संजुत्तो** चतुस्त्रिंशदतिशयैः संयुक्तस्तीर्थंकरपरमदेवो भवति तं वन्दे। **अणुचरबहुसत्तहिओ** अनुचरबहुसत्त्वहितः स्वामिना सह ये पृष्ठतो गच्छन्ति तेऽनुचराः सेवकाः तथा बहुसत्त्वा अपरेऽपि जीवास्तेभ्यो हितः स्वर्गमोक्षदायक इत्यर्थः। **कम्मक्खयकारणणिमित्ते** कर्मणां क्षयकारणं शुक्लध्यानं तस्य निमित्ते प्राप्त्यर्थं तं वन्दे इति क्रियाकारकसम्बन्धः।

अथ कानि तानि कर्मक्षयकारणानि शुक्लध्यानहेतवः इति प्रश्ने गाथामिमां चकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः —

णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण संजमगुणेण।
चउहिं पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥३०॥

ज्ञानेन दर्शनेन च तपसा चारित्रेण संयमगुणेन।
चतुर्णामपि समायोगे मोक्षो जिनशासने दृष्टः ॥

णाणेण ज्ञानेन। **दंसणेण य** दर्शनेन च। **तवेण** तपसा। **चरियेण** चारित्रेण। **संजमगुणेण** एतच्चतुष्टयं संयमगुण उच्यते। **चउहिं पि समाजोगे** चतुर्णामपि समायोगे सति एकत्र सामग्र्यां सत्यां। **मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो** मोक्षो जिनशासने दृष्टः कथितः। समस्तेन मोक्षो भवति न तु व्यस्तेन। उक्तं च वीरनन्दिशिष्येण पद्मनन्दिना—

दर्शननिश्चितिसूत्रोऽप्यः संयमन् बाढमपि
त्रिनयविकलमूर्तिर्वेषमाणोऽपि चैव ।

तथा चार्हता—

ज्ञानं पंगौ क्रिया चान्धे निःश्रद्धे नार्थकृद्द्वयं।
ततो ज्ञानक्रियाश्रद्धात्रयं तत्पदकारणं ॥ १ ॥

कल्लाणपरंपरया लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्तं ।
सम्मद्दंसणरयणं अग्घेदि सुरासुरे लोए ॥ ३३ ॥

कल्याणपरम्परया लभन्ते जीवा विशुद्धसम्यक्त्वम् ।
सम्यग्दर्शनरत्नं अर्घ्यते सुरासुरे लोके ॥

कल्लाणपरंपरया लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्तं कल्याणानां गर्भावतारजन्माभिषेकनिष्क्रमणज्ञाननिर्वाणानां परम्परया श्रेण्या सह जीवाः भव्यप्राणिनो विशुद्धसम्यक्त्वं निरतिचारसम्यक्त्वं प्राप्नुवन्ति। यदैव जीवः सद्दृष्टिर्भवति तदैव तीर्थकरपरमदेवो भवतीति भावः। **सम्मद्दंसणरयणं** सम्यग्दर्शनरत्नं । **अग्घेदि सुरासुरे लोए** अर्घ्यते पूज्यते बहुमूल्यं भवति देवदानवभुवने। एतद्रत्नमूल्यं कोऽपि कर्तुं न शक्नोति। करोति चेन्मूल्यं तदा तस्य कुष्टी मुखे भवेत्।

दट्ठूण य मणुयत्तं सहियं तह उत्तमेण गुत्तेण ।
लद्धूण य सम्मत्तं अक्खयसुक्खं च मोक्खं च ॥ ३४ ॥

दृष्ट्वा च मनुजत्वं सहितं तथा उत्तमेन गोत्रेण ।
लब्ध्वा च सम्यक्त्वं अक्षयसुखं च मोक्षं च ॥

दट्ठूण य दृष्ट्वा च ज्ञात्वा। किं, **मणुयत्तं** मनुजत्वं मनुष्यजन्म अनेकदृष्टान्तैर्दुर्लभं विचार्य महासमुद्रे कराच्च्युतरत्नमिव। **सहिअं तह उत्तमेण गोत्तेण** उत्तमेन गोत्रेण कुलेन सहितं संयुक्तं। **लद्धूण य सम्मत्तं** सम्यक्त्वं च लब्ध्वा । **अक्खयसुक्खं च मोक्खं च** एतत्सामिग्रीं प्राप्य अक्षयसौख्यं निजशुद्धबुद्धपरमात्मश्रद्धानज्ञानानुचरणस्वभावोत्थं

१ अक्खयसोक्खं लहदि मोक्खं क. ख ।

[illegible]नन्दलक्षणं सुखं भवति न केवलमक्षयसुखं भवति मोक्षं च द्रव्यकर्मनोकर्मभावकर्मरहितं ऊर्ध्वगमनलक्षणं परमनिर्वाणं च [illegible] ।

विहरदि जाव जिणिंदो सहसट्ठसुलक्खणेहिं संजुत्तो ।
चउतीसअइसयजुत्तो सा पडिमा थावरा भणिया ॥३५॥

विहरति यावज्जिनेन्द्रः सहस्राष्टसुलक्षणैः संयुक्तः ।
चतुस्त्रिंशदतिशययुतः सा प्रतिमा स्थावरा भणिता ॥

विहरदि जाव जिणिंदो विहरति पर्यटति आर्यखण्डे [illegible] जिनेन्द्रस्तीर्थंकरपरमदेवः । स कथंभूतः, **सहसट्ठसुलक्खणेहिं संजुत्तो** अष्टाधिकसहस्रलक्षणैः संयुक्तः । **चउतीसअइसयजुत्तो** चतुस्त्रिंशदतिशययुतः । **सा पडिमा थावरा भणिया** सा प्रतिमा प्रतियातना प्रतिबिम्बं प्रतिकृतिः स्थावरा भणिता [illegible] स्थावरप्रतिमेत्युच्यते । [illegible] जिनप्रतिमा [illegible] कथ्यते । [illegible]

सारका । राजमदने । प्रहाः । सिद्धार्थपादपः । अष्टप्रातिहार्याणि । अष्टमंगलानि । एवमादीनि अष्टोत्तरशतं लक्षणानि । तिलकमसकादीनि नवशतव्यञ्जनानि तान्यपिलक्षणशब्देनोच्यन्ते । अथ के ते चतुस्त्रिंशदतिशयाः ? निःस्वेदता । निर्मलता । क्षीरगौररुधिरता । समचतुरस्रसंस्थानं । वज्रवृषभनाराचसंहननं । सुरूपता । सुगन्धता । सुलक्षणता । अनन्तवीर्यं । प्रियहितवादित्वं । इत्येते दशातिशया जन्मन आरभ्य भवन्ति । तथा घातिकर्मक्षयजा दशातिशयाः सन्ति, ते के ? गव्यूतिशतचतुष्टयसुभिक्षता । गगनगमनं । प्राणिवधाभावः । भुक्तेरभाव । उपसर्गाभाव । चतुर्मुखत्वं । सर्वविद्याप्रभुत्वं । प्रतिबिम्बरहितत्वं । लोचनपक्ष्मनिःस्पन्द । नखकेशानामवृद्धिः । इति घातिकर्मक्षयजा दशातिशया । देवोपनीताश्चतुर्दशातिशयाः । तथा हि । सर्वार्धमागधीका भाषा । कोऽयमर्थ ? अर्द्धं भगवद्भाषया मगधदेशभाषात्मकं। अर्द्धं च सर्वभाषात्मकं। कथमेवं देवोपनीतत्वमिति चेत्? मागधदेवसन्निधाने तथा परिणामतया भाषया संस्कृतभाषया प्रवर्तते॥ १॥ मैत्री च सर्वजनताविषया सर्वे जनसमूहाः मागधप्रीतिकरदेवातिशयवशात् मागधभाषया भाषन्ते परस्परं मित्रतया च वर्तन्ते इति द्वावतिशयौ ॥ २ ॥ सर्वर्तूनां फलस्तवकाः । सर्वर्तूना पल्लवा । सर्वर्तूनां पुष्पाणि तर्वादीनां भवन्ति ॥ ३ ॥ आदर्शसदृशी रत्नमयी भूमिर्भवति ॥ ४ ॥ वायुः पृष्ठत आगच्छति ॥ ५ ॥ सर्वलोकस्य परमानन्दो भवति ॥ ६ ॥ अग्रेऽग्रे योजनमेकं सुगन्धगन्धावहा भूमिभागं प्रमार्जन्ति धूलीकंटकतृणकीटकर्करपाषाणादिकं च दूरीकुर्वन्ति ॥ ७ ॥ तद्भूम्युपरि मेघकुमारा गन्धोदकं वर्षन्ति ॥ ८ ॥ सुवर्णपत्रपद्मरागमणिकेसरविराजितं योजनमेकं कमलं तादृशचतुर्दशकमलवेष्टितं स्वामिन पादाधो भवति तादृशानि पद्मानि सप्ताग्रे भवन्ति सप्त पृष्ठतश्च भवन्ति ॥ ९ ॥ अष्टादश

धान्यानि भूमौ निष्पद्यन्ते ॥१०॥ दिश आकाशश्च रजोधूमिकादिग्दाहादिर-हिता भवन्ति ॥११॥ ज्योतिर्देवा व्यन्तरदेवा भवनवासिनश्च देवाः सौधर्मे-न्द्राज्ञया सर्वेषां देवादीनां समाह्वानं कुर्वन्ति ॥ १२ ॥ अग्रेऽग्रे धर्मचक्रं गगने गच्छति चक्रवर्तिचक्रवत्॥१३॥चतुर्दशोतिशयोऽष्टमङ्गलानि॥१४॥ भृंगारः—सुवर्णालुका । ताली-मंजीरः । कलशः-कनककुम्भः । ध्वजः-पताका। सुप्रीतिका-विचित्रचित्रमयी पूजाद्रव्यस्थापनार्हा स्तम्भाधारकुम्भी। श्वेतच्छत्रं । दर्पणः । चामरं च । एतानि प्रत्येकमष्टोत्तरशतसंख्यानि । एवं चतुर्दशातिशया देवोपनीताः । अष्टप्रातिहार्याणि च भवन्ति—

अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणां॥१॥

बारसविहतवजुत्ता कम्मं खविऊण विहिबलेण स्सं ।
वोसट्टचत्तदेहा णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता ॥ ३६ ॥

द्वादशविधतपोयुक्ताः कर्म क्षपयित्वा विधिबलेन स्वीयं ।
व्युत्सर्गत्यक्तदेहा निर्वाणमनुत्तरं प्राप्ताः ॥

बारसविहतवजुत्ता द्वादशविधतपोयुक्ता मुनयः । कम्मं खविऊण कर्माष्टविधं क्षपयित्वा । विहिबलेण चारित्रबलेन । स्सं आत्मीयं । वोसट्टचत्तदेहा पद्मासनकायोत्सर्गखड्गासनादिविधव्युत्सर्गेण त्यक्तदेहा मुनयः । णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता निर्वाणं मोक्षमनुत्तरं सर्वोत्कृष्टं उत्तम प्राप्ता गताः सिद्धा इत्यर्थः । सम्यक्त्वमाहात्म्यं सर्वेभ्य उत्कृष्टमिति सिद्धं ।

इति श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छा-चार्यनामपंचकविराजितेन सीमन्धरस्वामिज्ञानसंबोधितभव्यजनेन श्रीजि-नचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे सर्व-मुनिमण्डलीमण्डितेन कलिकालगौतमस्वामिना श्रीमल्लिभूषणेन भ-ट्टारकेणानुमतेन सकलविद्वज्जनसमाजसम्मानितेन उभयभाषाकविचक्रवर्तिना श्रीवि-द्यानन्दिगुर्वन्तेवासिना सूरिवरश्रीश्रुतसागरेण विरचिता दर्शनप्राभृतटीका समाप्ता

चारित्रप्राभृतं ।



सर्वार्थसिद्धिप्रदमर्हदादीन्, विद्यादिनन्दं श्रुतसस्यकन्दं ।
मन्दोऽपि नत्वा विवृणोमि भक्त्या, चारित्रसारं शृणुतार्यमुख्याः॥१॥

सव्वण्हू सव्वदंसी णिम्मोहा वीयराय परमेट्ठी ।
वन्दित्तु तिजगवंदा अरहंता भव्वजीवेहिं ॥१॥
णाणं दंसण सम्मं चारित्तं सोहिकारणं तेसिं ।
मुक्खाराहणहेउं चारित्तं पाहुडं वोच्छे ॥ २ ॥

सर्वज्ञान् सर्वदर्शिनः निर्मोहान् वीतरागान् परमेष्ठिनः ।
वन्दित्वा त्रिजगद्वन्दितान् अर्हतः भव्यजीवैः ॥
ज्ञानं दर्शनं सम्यक् चरित्रं शुद्धिकारणं तेषाम् ।
मोक्षाराधनहेतुं चारित्रं प्राभृतं वक्ष्ये ॥

युगलं । सव्वण्हू सर्वज्ञान् । वंदित्तु वन्दित्वा । चारित्तं पाहुडं वोच्छे चारित्रं नाम प्राभृतं चारित्रप्राभृतं चारित्रसारं नाम ग्रन्थं वक्ष्ये। कः वक्ता, अहं कुन्दकुन्दाचार्यः । कथंभूतान् सर्वज्ञान्, सव्वदंसी सर्वदर्शिनो लोकालोकावलोकनशीलान् । अपरं किं विशिष्टान् सर्वज्ञान्, णिम्मोहा निर्मोहान् मोहनीयकर्मरहितान्। भूयोऽपि किं रूपान्, वीयराय वीतरागान् वीतः क्षयं गतो रागो येषां ते वीतरागास्तान्, अत्र क्षेपणे इति सावद्यान् "अवेर्ती" इति सूत्रेण वीरादेश, निष्ठाप्रत्यये वीत इति निष्पद्यते । वीयराय इत्यत्र शस्लोपः । भूयोऽपि किं विशेषणविशिष्टान्, परमेट्ठी परमेष्ठिनः, कोऽर्थः, परमे इन्द्रचन्द्रनरेन्द्रादिवन्द्ये पदे तिष्ठन्तीति परमेष्ठिनि अनुपमे समवसरणमध्यप्रमाणिक्यसिंहासनि-

त्यर्थः । अपरं कथंभूतान् सर्वज्ञान्, तिजगवंदा त्रिजगद्वन्दितान् त्रिभुवनस्थितभव्यजनपूजितानित्यर्थः । पुनरपि कथंभूतान्, अरहंता अरिर्मोहः, रकारेण रजो लभ्यते तत्तु ज्ञानावरणदर्शनावरणकर्मद्वयं लभ्यते तथा तेनैव प्रकारेण रहस्यमन्तराय· कथ्यते तेन घातिकर्मचतुष्टयहननादिन्द्रादिकृतामनन्यसंभविनीमर्हणां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तस्तानर्हतः । तथा भव्वजीवेहिं भव्यजीवैर्वन्द्या इति सम्बन्धः । णाणं देसण सम्मं चारित्तं सोहिकारणं तेसिं तेषां सर्वज्ञानां घातिसंघातघातनलक्षणाया शुद्धेः कारणं हेतुर्ज्ञानं दर्शनं सम्यक्चारित्रं च कारणं । सम्मं इति शब्द एकत्र गृहीतोऽपि त्रिभिर्योज्यः तेनायमर्थः सम्यग्ज्ञानं सम्यग्दर्शनं सम्यक्चारित्रं च सर्वेषामपि कर्मणां क्षयकारणं मूलादुन्मूलनस्य हेतुरिति भावः । तेन मुक्खाराहणहेउं तेन कारणेन मोक्षाराधनहेतुं कारणं । किं ? चारित्तं चारित्रं । पाहुडं प्राभृतं सारभूतं शास्त्रमहं वक्ष्य इति क्रियाकारकसम्बन्धः । युगलं । एतद्गाथाद्वयं युगलं युग्मं वर्तते ।

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स अक्खयामेया ।
तिण्हं पि सोहणत्थे जिणभणियं दुविह चारित्तं ॥ ३ ॥

एते त्रयोपि भावा भवन्ति जीवस्य अक्षया अमेयाः ।
त्रयाणामपि शोधनार्थं जिनभणितं द्विविधं चारित्रम् ॥

एए तिण्णि वि भावा एते त्रयोऽपि भावा ज्ञानदर्शनचारित्रपदार्थास्त्रयः परिणामाः । हवंति जीवस्स जीवस्यात्मनः सम्बन्धिनो भवन्ति न तु पुद्गलस्येति भावः । कथं भूतास्त्रयोऽपि भावाः अक्खयामेया अक्षया अविनश्वराः, अमेया अमर्यादीभूता अनंतानन्ता इत्यर्थः । ज्ञानस्य तावदानन्त्यं भवत्येव लोकालोकव्यापकत्वात् । सम्यक्त्वचारित्रयोः कथमनन्तत्वं नियतात्मप्रदेशस्थितत्वादिति चेन्न तयोरपि तत्सहचारित्वात्, यावन्मात्रं ज्ञानं तावन्मात्रं सम्यग्दर्शनं सम्यक्चारित्रं च तेषामेकीभा-

निश्चयात् । तिण्हं पि सोहणत्थे त्रयाणामपि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां शोधनार्थे शोधननिमित्तं । जिणभणियं दुविह चारित्तं जिनैर्भणितं प्रतिपादितं द्विविधं चारित्रं दर्शनाचारचारित्राचारलक्षणं, तद्वक्ष्यति ।

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं ।
णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं ॥ ४ ॥

यद् जानाति तद् ज्ञानं यत् पश्यति तच्च दर्शनं भणितं ।
ज्ञानस्य दर्शनस्य च समापन्नात् भवति चारित्रं ॥

जं जाणइ तं णाणं यज्जानाति तज्ज्ञानं । जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं यत्पश्यति तच्च दर्शनं भणितं । "कृत्यल्युटोऽन्यत्रापि च" इति वचनात्कर्तरि युट्प्रत्ययः । णाणस्स दंसणस्स य समवण्णा होइ चारित्तं ज्ञानस्य दर्शनस्य च समापन्नात् समायोगाच्चारित्रं भवति ।

जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ।
बिदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसियं तं पि ॥ ५ ॥

जिनज्ञानदृष्टिशुद्धं प्रथमं सम्यक्त्वचरणचारित्रम् ।
द्वितीयं संयमचरणं जिनज्ञानसंदेशितं तदपि ॥

जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं जिनस्य सर्वज्ञवीतरागस्य सम्बन्धि यज्ज्ञानं दृष्टिर्दर्शनं च ताभ्यां शुद्धं पंचविंशतिदोषरहितं प्रथमं तावदेकं सम्यक्त्वचरणचारित्रं दर्शनाचारचारित्रं भवति । बिदियं संजमचरणं द्वितीयं संयमचरणं चारित्राचारलक्षणं चारित्रं भवति । जिणणाणसदेसियं तं पि जिनस्य सम्बन्धि यत्सम्यग्ज्ञानं तेन सन्देशितं सम्यग्निरूपितं तदपि चारित्रं भवति । उक्तं च—

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट् ।
अष्टौ शंकादयश्चेति दृग्दोषाः पंचविंशतिः ॥ १ ॥

कुदेवगुरुशास्त्राणां तद्भक्तानां गृहे गतिः ।
षडायतनमित्येवं वदन्ति विदितागमाः ॥ १ ॥

प्रभाचन्द्रस्त्वेवं वदति-मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि त्रीणि तद्वन्तः पुरुषाः षडनायतनानि । अथवा असर्वज्ञः १ असर्वज्ञायतनं २ असर्वज्ञज्ञानं ३ असर्वज्ञज्ञानसमवेतपुरुषः ४ असर्वज्ञानुष्ठानं ५ असर्वज्ञानुष्ठानसमवेतपुरुषश्चेति ६ । शंकादयोऽष्ट यथा-शंका १ कांक्षा २ विचिकित्सा ३ मूढदृष्टिः ४ अनुपगूहनं ५ अस्थितीकरणं ६ अवात्सल्यं ७ अप्रभावना चेति ८ अष्टौ शंकादयः ।

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य ।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ ॥ ७ ॥

निःशङ्कितं निःकाङ्क्षितं निर्विचिकित्सा अमूढदृष्टिश्च ।
उपगूहनं स्थितीकरणं वात्सल्यं प्रभावना च ते अष्टौ ॥

णिस्संकिय इत्यादि । निःशंकितं निर्भयत्वं परदर्शने जैनाभासे वा- [illegible] १, भगवच्चोदितजिनवचनमानने च । णिक्कंखिय निष्कां- क्षितं सम्यक्त्वव्रतादिफलेन [illegible] इहभवसुखेषु जनमेलापकस्यादिनिदा- [illegible] । मीमांसकमतिसुगतादिवदसमदर्शी च । णिव्विदिगिंछा [illegible] रत्नत्रयपवित्रस्य [illegible] शरीरमलादिदर्शनेन जुगुप्सा अक- रणं [illegible] । अमूढदिट्ठी य अमूढदृष्टिश्च जिनवचनेऽप्री- [illegible] । उवगूहण उपगूहनं जिन[illegible] [illegible] । ठिदिकरणं स्थितीकरणं [illegible] [illegible] । वच्छल्ल [illegible] [illegible] । पहावणा य प्रभावना च [illegible] [illegible] १ । ते अट्ठ ते सम्यक्त्वगुणा अष्ट भवन्ति ।

१ [illegible]

सम्मत्तचरणसुद्धा सम्यक्त्वचरणे सम्यक्त्वचारित्रे ये सूरयः शुद्धाः सम्यक्त्वदोषरहिताः सम्यक्त्वगुणसहिताश्च भवन्ति। **संजमचरणस्स जइ य सुपसिद्धा** संयमचरणस्य यदि वा सुप्रसिद्धाः चारित्राचारे च सुप्रसिद्धाः सुष्ठु अतिशयेन प्रकर्षेण सिद्धं चारित्रं येषां ते सुप्रसिद्धाः सर्वलोकविदिता वा सम्यक्त्वपूर्वकचारित्रप्रतिपालका इत्यर्थः। **णाणी अमूढदिट्ठी** ज्ञानिनोऽमूढदृष्टयश्च। **अचिरे पावंति णिव्वाणं** अचिरे स्तोककाले निर्वाणं प्राप्नुवन्ति। अत्र चारित्रस्य मुख्यत्वेऽपि सम्यक्त्वज्ञानयोरपि सामर्थ्यमुक्तमिति भावः।

> वच्छल्लं विणएण य अणुकंपाए सुदाणदच्छाए।
> मग्गगुणसंसणाए अवगूहण रक्खणाए य ॥ १० ॥
> एएहिं लक्खणेहिं य लक्खिज्जइ अज्जवेहिं भावेहिं।
> जीवो आराहंतो जिणसम्मत्तं अमोहेण ॥ ११ ॥
>
> वात्सल्यं विनयेन च अनुकम्पया सुदानदक्षया।
> मार्गगुणशंसनया उपगूहनं रक्षणेन च ॥
> एतैः लक्षणैः च लक्ष्यते आर्जवैः भावैः।
> जीवः आराधयन् जिनसम्यक्त्वं अमोहेन ॥

एएहिं लक्खणेहिं य एतैर्लक्षणैः। जिनसम्यक्त्वं। **आराहंतो** आराधयन्। **जीवो लक्खिज्जइ** जीव आत्मा लक्ष्यते ज्ञायते। न केवलमेतैर्लक्षणैः किन्तु **अज्जवेहिं भावेहिं** आर्जवैर्भावैः अकुटिलपरिणामैः लक्ष्यते। केन कृत्वा लक्ष्यते? **अमोहेण** अमोहेनाज्ञानरहितेन ज्ञानेन विचक्षणतया। ज्ञानेन विना सम्यक्त्वाराधकं पुरुषं कोऽपि न जानाति सम्यक्त्वपरिणामस्यातिसूक्ष्मत्वात्। अथवा **अमोहेण** अमोहेन मत्सररहितेन पुरुषेण। एते केचिदाह—वच्छल्लं एवं साधर्मिकजने धर्मिपुरुषेषु स्नेहत्वं मद प्रगुणत्वेन वर्ग वात्सल्येन

उत्साहभावनासंप्रशंसासेवा सुदर्शने श्रद्धां ।
न जहाति जिनसम्यक्त्वं कुर्वन् ज्ञानमार्गेण ॥

उच्छाहभावणासंपसंमसेवा सुदंमणे सद्धा न जहदि जिणसम्मत्तं उत्साह—उद्यमस्तं कुर्वन्निति सम्बन्धः । भावना—शरीरात्कर्मणश्चात्मा पृथग्वर्तते इति भेदभावना ता । सपसंस—सम्यक्प्रकारेण मनोवचनकायकर्मभिः प्रशंसामर्हदादीनां स्तुतिं कुर्वन् । तथा सेवां स्नपनपूजनस्तवनजपनादिगुर्वादिपादसंवाहनादिकं च कुर्वन् । सुदंसणे—सम्यग्दर्शने रत्नत्रयलक्षणमोक्षमार्गे तत्त्वार्थे च श्रद्धां रुचिं कुर्वन् जिनसम्यक्त्वं न जहाति न त्यजति । उत्साहादिकं केन कृत्वा कुर्वन्, **णाणमग्गेण** ज्ञानमार्गेण सम्यग्ज्ञानद्वारेण ।

अण्णाणं मिच्छत्तं वज्जहि णाणे विसुद्धसम्मत्ते ।
अह मोहं सारम्भं परिहर धम्मे अहिंसाए ॥ १४ ॥

अज्ञानं मिथ्यात्वं वर्जय ज्ञाने विशुद्धसम्यक्त्वे ।
अथ मोहं सारम्भं परिहर धर्मेऽहिंसायाम् ॥

अण्णाणं मिच्छत्तं वज्जहि णाणे विसुद्धसम्मत्ते अज्ञानं वर्जय दूरीकुरु, कस्मिन् सति णाणे—ज्ञाने सम्यग्ज्ञाने सति, अज्ञानस्य ज्ञानं प्रत्यनीकं ततः । मिथ्यात्वं वर्जय, कस्मिन् सति सम्यक्त्वे सति मिथ्यात्वस्य सम्यग्दर्शनं प्रतिबन्धकं यतः । **अह** अथानन्तरं । **मोहं परिहर** परित्यज । कथंभूतं मोहं, **सारंभं** सेवाकृषिवाणिज्याद्यारम्भसहितं । कस्मिन् सति, धर्मे सति चारित्रे सति । तथाऽऽरंभं परिहर कस्यां सत्यां, **अहिंसाए** अहिंसायां सत्यां पंचमहाव्रतानि रात्रिभोजनवर्जनव्रतानि सर्वाण्यप्यहिंसानिमित्तं कथितानि यतः ।

पव्वज्ज संगचाए पयट्ट सुतवे सुसंजमे भावे ।
होइ सुविसुद्धझाणं णिम्मोहे वीयरायत्ते ॥ १५ ॥

प्रव्रज्यायां संगत्यागे प्रवर्तस्व सुतपसि सुसंयमे भावे ।
भवति सुविशुद्धध्यानं निर्मोहे वीतरागत्वे ॥

पव्वज्ज संगचाए पयट्ट हे जीव ! त्वं प्रव्रज्यायां प्रवर्तस्व, कस्मिन् सति, संगचाए—संगस्य वस्त्रादिपरिग्रहस्य त्यागे सति । तथा हे आत्मन् ! सुतवे पयट्ट सुतपसि प्रवर्तस्व । कस्मिन् सति, सुसंजमे भावे शोभनसंयमपरिणामे सति । असंयमिनो मासोपवासादियुक्तस्यापि सुतपोऽसद्भावात् । तथा होइ सुविसुद्धझाणं णिम्मोहे वीयरायत्ते भवति सुविशुद्धध्यानं निर्मोहे पुत्रकलत्रमित्रधनादिव्यामोहवर्जिते पुरुषे, यस्तु पुत्रादिमोहसहितो भवति तस्य विशिष्टं धर्म्यध्यानं शुक्लध्यानलेशोऽपि न भवति यतः । तथा वीतरागत्वे सति सुविशुद्धध्यानं भवतीति तात्पर्यं । उक्तं च योगीन्द्रदेवनाम्ना भट्टारकेण—

जंसु हरिणच्छी हियवडइ तासु न बंभु विचारि ।
एक्कहिं केम समंति वढ ! बे खंडा पडियारि ॥ १ ॥

“ मूढस्य नालियवढौ ” इति प्राकृतव्याकरणसूत्रं ।

मिच्छादंसणमग्गे मलिणे अण्णाणमोहदोसेहिं ।
वज्झंति मूढजीवा मिच्छत्ताबुद्धिउदएण ॥ १६ ॥

मिथ्यादर्शनमार्गे मलिनेऽज्ञानमोहदोषाभ्याम् ।
बध्यन्ते मूढजीवाः मिथ्यात्वाबुद्ध्युदयेन ॥

---

१ यस्य हरिणाक्षी हृदये तस्य नैव ब्रह्म विचारय ।
एकस्मिन् कथं समायातौ वढ ! द्वौ खड्गौ प्रतिद्वारे ॥ १ ॥

२ अत्र पुस्तके सम्मत्ताबुद्धिउदएण इति पाठः किंतु टीकायां मिच्छत्ताबुद्धिउदएण इति पाठः । ग. घ. पुस्तकेऽपि सम्मत्ताबुद्धिउदएण इति पाठः । घ. पुस्तके स्वस्यार्थः प्रकाशितः जीवाः सम्यक्त्वबुद्ध्युदयात् सम्यक्त्वस्य (वशात्) लिङ्गकल्पात् अज्ञानमोहादिदोषैः मलिने दुष्टे मिथ्यादर्शने मार्गे स्खलन्ति मुच्यन्तीति । क. पुस्तके तु टीकोक्त एव मूलः पाठः ।

मिच्छादंसणमग्गे मलिणे मिथ्यादर्शनमार्गे मलिने पापरूपे मति [illegible], **अण्णाणमोहदोसेहिं** अज्ञान [illegible], मोह [illegible] [illegible] **मूढजीवा** अज्ञानिनः । [illegible] **मिच्छत्तबुद्धिउदएण** [illegible] प्राद्[illegible] [illegible] ।

सम्मद्दंसण पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया ।
सम्मेण य सद्दहदि य परिहरदि चरित्तजे दोसे ॥ १७ ॥

[illegible]

सम्मद्दंसण पस्सदि [illegible] **जाणदि णाणेण** [illegible] **दव्वपज्जाया** [illegible]

[illegible]

आर्षादि [illegible] [illegible] ।
[illegible] ॥ १ ॥

१ [illegible] ॥
[illegible] ॥ १ ॥

अट्ठत्तीसद्धलवा नाली दो नालिया मुहुत्तं तु ।
समऊणं तं भिण्णं अंतमुहुत्तं अणेयविहं ॥ २ ॥

एकेन समयेन न्यूनो मुहूर्तो भिन्नमुहूर्तः कथ्यते। अन्तर्मुहूर्तस्त्वनेकप्रकारः। के तेऽनेकप्रकारा अन्तर्मुहूर्तस्येत्याह-आवल्युपरि एकः समयोऽधिको यदा भवति तदा जघन्योन्तर्मुहूर्तो भवति । एवमावल्युपरि द्व्यादयः समयाश्चटन्ति ते सर्वेऽप्यन्तर्मुहूर्ता भवन्ति यावत्समयोनो मुहूर्तः । एवमहोरात्रपक्षमासर्त्वयनवर्षपूर्वपल्योपमसागरोपमावसर्पिण्युत्सर्पिण्यादयः कालस्य पर्याया ज्ञातव्याः। आकाशस्य तु पर्याया घटाकाशः पटाकाशः स्तम्भाकाश इत्यादयः। **सम्मेण य सद्दहदि य परिहरदि चरित्तजे दोसे** सम्यक्त्वेन च श्रद्दधाति रोचते न केवलं श्रद्धत्ते परिहरदि य—परिहरति च कान्, चरित्तजे दोसे—चारित्रजान् दोषानिति सम्बन्धः।

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स मोहरहियस्स ।
णियगुणमाराहंतो अचिरेण वि कम्म परिहरइ ॥ १८ ॥

एते त्रयोपि भावा भवन्ति जीवस्य मोहरहितस्य ।
निजगुणं आराधयन् अचिरेणापि कर्म परिहरति ॥

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स मोहरहियस्स एते त्रयोऽपि भावाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणाः परिणामा भवन्ति जीवस्यात्मनः। कथंभूतस्य जीवस्य. मोहरहितस्य चारित्रमोहात्पंचविंशतिभेदाद्रहितस्य वर्जितस्य । **णियगुणमाराहंतो अचिरेण वि कम्म परिहरइ** निजगुणं शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मगुणं ज्ञानध्यानस्वरूपमाराधयन्नचिरेण स्तोककालेन कर्म परिहरति सिद्धो भवति ।

संखिज्जमसंखिज्जगुणं च सासारिमेरुमित्ता णं ।
सम्मत्तमणुचरंता करेंति दुक्खक्खयं धीरा ॥ १९ ॥

---

१ अष्टत्रिंशदर्धलवा नाली द्वे नालिके मुहूर्तं तु ।
समयोनः स भिन्नः अन्तर्मुहूर्तोऽनेकविधः ॥ २ ॥

संख्येयामसंख्येयगुणां सर्षपमेरुमात्रां णं ।
सम्यक्त्वमनुचरन्त कुर्वन्ति दु:खक्षयं धीरा ॥

संखिज्जं संख्येयगुणां निर्जरां सम्यक्त्वं प्रतिपालयन्तो धीरा योगीश्वराः प्राप्नुवन्तीति । **असंखिज्जगुणं** असंख्येयगुणां निर्जरां । **अणुचरंता** चारित्रं पालयन्तो **धीरा** योगीश्वराः । करंति–कुर्वन्ति । तदनन्तरं **दुक्खक्खयं करंति** सर्वकर्मक्षयादनन्तरं मोक्षं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । कथंभूतां संख्येयगुणामसंख्येयगुणां च निर्जरां, **सामारिमेरुमित्ता णं** सर्षपमेरुमात्रां । सम्यक्त्वनिर्जरायाः सकाशात् चारित्रनिर्जरा बहुतरेति भावः। णं इति वाक्यालंकारे ।

दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे निरायारं ।
सायारं सग्गंथे परिग्गहा रहिय खलु निरायारं ॥ २० ॥

द्विविधं संयमचरणं सागारं तथा भवेत् निरागारम् ।
सागारं सग्रन्थे परिग्रहाद्रहिते निरागारम् ॥

दुविहं संजमचरणं द्विविधं संयमचरणं द्विप्रकारश्चारित्राचारः । कौ तौ द्वौ प्रकारौ, **सायारं तह हवे निरायारं** सागारं तथा भवेन्निरागारं । सागारं कुत्र भवति, **सायारं सग्गंथे** सागारं चारित्रं सग्रन्थे गृहस्थे भवति । तर्हि निरागारं चारित्रं कस्मिन् भवति, **परिग्गहा रहिय खलु निरायारं** परिग्रहाद्रहिते निर्ग्रन्थे निरम्बरे निरागारं चारित्रं वेदितव्यमित्यर्थः ।

सायारं–अथ सागारं चारित्राचारं निरूपयन्ति श्रीकुन्दकुन्दाचार्याः.–

दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य ।
बंभारंभ परिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य ॥२१॥

दर्शनं व्रतं सामायिकं प्रोषधं सचित्तं रात्रिभुक्तिश्च ।
ब्रह्मचर्यं आरम्भः परिग्रहः अनुमतिः उद्दिष्टः देशविरतश्च ॥

अष्टौ मूलगुणाः। ते के, वटफलानामभक्षणं १ पिप्पलफलवर्जनं २ "प्लक्षो जटी पर्कटी स्यात्" तत्फलनिवारणं ३ उदुंबरो जघने फलामलयुः गूलर इति देश्यात् तत्फलनिषेधः ४ कठंजर कठुंबर अंजीर इति देश्यात् तत्फलानामभक्षणं मद्य ६ मांस ७ मधु ८ निषेध इत्यष्टौ मूलगुणाः। अथवा—

मद्यपलमधुनिशाशनपंचफलीविरतिपंचकाप्तनुती।
जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः॥ १॥

सप्तव्यसनवर्जनं। उक्तं च—

मद्यमांससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गनाः।
महापापानि सप्तैव व्यसनानि त्यजेद्बुधः॥ १॥

सम्यक्त्वप्रतिपालनं परशास्त्राणामश्रवणमिति विशुद्धमतिः। मूलकनालिकापद्मिनीकन्दलशुनकन्दतुंबकफलकुशुंभशाककलिंगफलसूरणकन्दत्यागश्च। अरणीपुष्पं वरणपुष्पं सौभाञ्जनकुसुमं करीरपुष्पं कांचनारपुष्पमिति पंचपुष्पत्यागः। लवणतैलघृतभृतफलसन्धानकमुहूर्तद्वयोपरिनवनीतमांसादिसेविभाण्डभाजनवर्जनं। चर्मस्थितजलस्नेहहिंगुपरिहारः। अस्थिसुराचर्ममांसरक्तपूयमलमूत्रमृताङ्गिदर्शनतः प्रत्याख्यातान्नसेवनाच्चाण्डालादिदर्शनात्तच्छब्दश्रवणाच्च भोजनं त्यजेत्। सुललितपुष्पितस्वादचलितमन्नं त्यजेत्। षोडशप्रहरादुपरि तक्रं दधि च त्यजेत्। द्विदलान्नमिश्रं दधि तक्रं स्वादितं सम्यक्त्वमपि मलिनयेत्। ताम्बूलौषधजलं रात्रौ त्यजेत्। एव सर्वोऽपि दर्शनप्रतिमाचारः। व्रत द्वादशव्रतानि, अहिंसा स्थूलवधाद्विरमणं, सत्यं स्थूलसत्यवचनं, स्थूलमचौर्यं, ब्रह्मचर्यं स्वदारसन्तोषः परदारनिवृत्तिः कस्यचित्सर्वस्त्रीनिवृत्तिः, परिग्रहपरिमाणव्रतं, दिग्विदिक्परिमाणविरतिः, अनर्थदण्डपरिहारः, भोगोपभोगपरिमाणमिति गुणव्रतत्रयं, सामायिकं,

१ क. पुस्तके तु घृतशब्दो नास्ति।

दिसिविदिसिमाण पढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं बिदियं ।
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥ २४ ॥

दिग्विदिग्मानं प्रथमं-अनर्थदण्डस्य वर्जनं द्वितीयम् ।
भोगोपभोगपरिमाणं-इयमेव गुणव्रतानि त्रीणि ॥

दिसिविदिसिमाण पढमं दिग्विदिग्माने परिमाणं प्रथमं गुणव्रतं । **अणत्थदंडस्स वज्जणं बिदियं** अनर्थदण्डस्य वर्जनं द्वितीयं गुणव्रतं भवति । **भोगोपभोगपरिमा** भोगोपभोगपरिमाणं तृतीयं गुणव्रतं भवति । भोजनादिकं भोग । वस्त्रस्त्रीप्रभृत्युपभोग इत्यर्थः । **इयमेव गुणव्वया तिण्णि** इदमेवाचरणं त्रीणि गुणव्रतानि भवन्ति।

सामाइयं च पढमं बिदियं च तहेव पोसहं भणियं ।
तइयं अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते ॥ २५ ॥

सामायिकं च प्रथमं द्वितीयं च तथैव प्रोषधो भणितः ।
तृतीयमतिथिपूज्यं चतुर्थं सल्लेखना अन्ते ॥

समाइयं च पढमं सामायिकं च प्रथमं शिक्षाव्रतं । चैत्यपंचगुरुभक्तिसमाधिभक्तिलक्षणं दिनं प्रति एकवारं द्विवारं त्रिवारं वा व्रतप्रतिमायां सामायिकं भवति । यत्तु सामायिकप्रतिमायां सामायिकं प्रोक्तं तत्त्रीन् वारान् निश्चयेन करणीयमिति ज्ञातव्यं । **बिदियं च तहेव पोसहं भणियं** द्वितीयं च तथैव प्रोषधोपवासं शिक्षाव्रतं भणितं प्रतिपादितं अष्टम्यां चतुर्दश्यां च । तदपि त्रिविधं, चतुर्विधाहारपरिवर्जनमुत्कृष्टं, जलसहितं मध्यमं, आचाम्लं जघन्यं प्रोषधोपवासं भवति यथाशक्ति कर्तव्यं। **तइयं च अतिहिपुज्जं** तृतीयं चातिथिपूज्यं, न विद्यते तिथिः प्रतिपदादिका यस्य सोऽतिथिः । अथवा संयमलाभार्थमतति गच्छति उद्दंडचर्यां करोतीत्यतिथिर्यतिः स पूज्यो नवगुणसप्तगुणसमन्वितेन श्रावकेण यस्मिन् शिक्षाव्रते तदतिथिपूज्यं । **चउत्थ सल्लेह-**

णा अंते चतुर्थं शिक्षाव्रतमन्ते मरणकाले सल्लेखना कायकषायतनूकरणमिति तात्पर्यं ।

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं ।
सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे ॥ २६ ॥

एवं श्रावकधर्मं संयमचरणं उपदेशितं सकलं ।
शुद्धं संयमचरणं यतिधर्मं निष्कलं वक्ष्ये ॥

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं एवममुना प्रकारेण श्रावकधर्मलक्षणं संयमचरणं चारित्राचारः, उपदेशितं भवन्तः कुर्वन्त्विति प्रतिपादितं, सकलं समग्रं परिपूर्णं, किंचिद्विशेषरूपं तु न प्रतिपादितमित्यर्थः । उक्तं च—

जिनबिम्बग्रहणे च त्रिभुवनविजयी शिलीभूतं न सेवते ।
आ पंचरत्नातिथिभ्यः पयोऽपि वरसोद्भवारम्भमारभ्य ॥ १ ॥

तथा च—

हस्तिस्नानेषु पानीयं स्नेहं च कुतपादिषु ।
भक्ष्यो वर्जयेन्नित्यं योषितश्चासनोचिताः ॥ १ ॥

त्रिभुवनविजयीति भंगा तद्रूपलक्षणं सूक्ष्मकणाभ्यासादिकेनादीनां । शिलीभूतं गोमयच्छत्रं केतकीपुष्पदण्डिका च । चर्मतुल्यादिभूतं गुडादिकं नादेयं । अम्बुआणाचमनादिकं च विशेषशास्त्रोक्तं ज्ञातव्यं । सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे शुद्धं परिपूर्णविशुद्धिसहितं यतिधर्मं निष्कलं निष्कलंकं वक्ष्ये कथयिष्यामि । इति वचनाच्छ्रावकधर्मस्य यतिधर्मस्य च तारतम्येनाभ्यासः सूचितो भवतीति ज्ञातव्यम् ।

पंचेंदियसंवरणं पंचवया पंचविंसकिरियासु ।
पंचसमिदि तयगुत्ती संजमचरणं णिरायारं ॥ २७ ॥

पञ्चेन्द्रियसंवरणं पञ्च व्रताः पञ्चविंशतिक्रियासु ।
पञ्चसमितयः तिस्रो गुप्तयः संयमचरणं निरागारम् ॥

पंचिंदियसंवरणं पंचानामिन्द्रियाणां संवरणं [illegible]। पंच-वया पंचव्रतानि। [illegible] । [illegible] । पंचविसयविरोहणा [illegible] । [illegible] । पंचसमिदि [illegible] । [illegible] । संजमधरणं णिग्गहणं [illegible] ज्ञातव्या [illegible] ।

अमणुण्णे य मणुण्णे सजीवदव्वे अजीवदव्वे य ।
ण करेइ रायदोसे पंचिंदियसंवरो भणिओ ॥ २८ ॥

अमनोज्ञे च मनोज्ञे सजीवद्रव्ये अजीवद्रव्ये च ।
न करोति रागद्वेषौ पंचेन्द्रियसंवरो भणितः ॥

अमणुण्णे य अमनोज्ञे अमनोहरे च। मणुण्णे मनोज्ञे मनोहरे। सजीवदव्वे [illegible]। अजीवदव्वे य अजीवद्रव्ये चाचेतनद्रव्ये [illegible] । ण करेदि रायदोसे न करोति रागद्वेषौ। मनोज्ञे रागं न करोति। अमनोज्ञे द्वेषं न करोति। पंचिंदियसंवरो भणिओ पंचेन्द्रियसंवरो भणितः प्रतिपादितः।

अथ पंचवया इत्येतत्पदविवरणार्थमाह—

हिंसाविरइ अहिंसा असचविरई अदत्तविरई य ।
तुरियं अबंभविरई पंचम संगम्मि विरई य ॥ २९ ॥

हिंसाविरतिरहिंसा असत्यविरतिरदत्तविरतिश्च ।
तुरीयमब्रह्मविरतिः पंचमं संगे विरतिश्च ॥

हिंसाविरइ अहिंसा हिंसाविरतिरहिंसा प्राणातिपातविरतिर्भवति । असचविरई असत्यविरतिर्द्वितीयं महाव्रतं भवति । अदत्तविरई य अदत्तविरतिश्चादत्ताद्विरतिरदत्तविरतिस्तृतीयं महाव्रतं भवति । तुरियं अबंभविरई अब्रह्मविरतिर्मैथुनाद्विरमणं तुरियं-चतुर्थं महाव्रतं ज्ञातव्यं ।

"चतुर्गे यदीयौ च छोपभेति" सूत्रसाधुत्वात्। पंचम संगम्मि विरई य पंचमं महाव्रतं भवति। का संगे परिग्रहे विरतिश्च परिग्रहविरमणमित्यर्थः।

साहंति जं महल्ला आयरियं जं महल्लपुव्वेहिं।
जं च महल्लाणि तदो महल्लया इत्तहे याइं॥ ३०॥

साधयन्ति यन्महान्त आचरितं यन्महत्पूर्वैः।
यच्च महान्ति ततः महाव्रतानि एतस्माद्धेतोः तानि।

साहंति जं महल्ला साधयन्ति यद्यस्मात्कारणात्प्रतिपालयन्ति। के ते, महल्ला—महान्तो गुरूणामपि गुरव पुरुषा। आइरियं जं महल्लपुव्वेहिं आचरितमाहृतं वा यद्यस्मात्कारणात् महल्लपुव्वेहि—महद्भिः गुरुभिः पूर्वैः चिरन्तनाचार्यैः वृषभादिभिर्महावीरपर्यन्तैः वृषभसेनगौतमान्तगणधरैश्च जम्बूस्वामिपर्यन्तैश्च। जं च महल्लाणि यच्च यस्मात्कारणात् महल्लाणि—स्वयं महान्ति गुरुतराणि। तदो महल्लया इत्तहे ततस्तस्मात्कारणात् इत्तहे—एतस्माद्धेतो तानि महाव्रतानीत्युच्यन्ते।

वयगुत्ती मणगुत्ती इरियासमदी सुदाणणिक्खेवो।
अवलोयभोयणाए हिंसाए भावणा होंति॥ ३१॥

वचोगुप्तिः मनोगुप्तिः ईर्यासमितिः सुदाननिक्षेपः।
अवलोक्यभोजनेन अहिंसाया भावना भवन्ति॥

वयगुत्ती वचोगुप्तिरेका। मणगुत्ती मनोगुप्तिर्द्वितीया भावना। इरियासमिदी ईर्यासमितिस्तृतीया भावना। सुदाणणिक्खेवो आदाननिक्षेपः पुस्तककमण्डल्वादिकमुपकरणं पूर्वं विलोक्य मृदुना मयूरपिच्छेन प्रतिलिख्य गृह्यते ध्रियते च सुदाननिक्षेप उच्यते। अवलोयभोयणाए अवलोक्य पुनः पुनः दृष्ट्वा भोजनं क्रियतेऽवलोक्य भोजनं तेनावलोक्यभोजनेन। प्राकृते लिंगभेदः नपुंसकस्य स्त्रीत्वं। एता अहिंसामहाव्रतस्य पंचभावना भवन्तीति वेदितव्यं।

उद्वसमानादिषु विमोचितावासेषु श्वापदादिभिरुज्झितेषु शून्येषु निवासः क्रियते ऽचौर्यव्रतस्य भावना द्वितीया भवति । जं परोहं च परोपरोधो न क्रियते स्वात्मनाधिष्ठिते स्थाने परः स्वामिना दृष्टा भवति न निरुध्यते ऽचौर्यव्रतभावना तृतीया भवति परोपरोधाकरणमित्यर्थः । एसणसुद्धि-सउत्तं एषणाशुद्धिसंयुक्तं सहितं, आगमानुसारेण भैक्ष्यशुद्धिरचौर्यव्रतभावना चतुर्थी भवति । साहम्मीसंविसंवादो सधर्मणा संयुतो भूत्वा सम्यक्प्रकारेण विसंवादो विरुद्धवादो विवादो न क्रियते ऽचौर्यव्रतभावना पंचमी भवति ।

महिलालोयणपुव्वरइसरणसंसत्तवसहिविकहाहिं ।
पुट्ठियरसेहिं विरओ भावण पंचावि तुरियम्मि ॥ ३४ ॥

महिलालोकनपूर्वरतिस्मरणसंसक्तवसतिविकथाभिः ।
पुष्टरसैः विरतः भावनाः पञ्चापि तुर्ये ॥

महिलालोयण महिलाया आलोकनं स्त्रीमनोहराङ्गनिरीक्षणं तस्माद्विरतः पराङ्मुखः । पुव्वरइसरण पूर्वरतस्मरणं पूर्वं या स्त्रीभिः क्रीडा कृता तस्याः स्मरणं चिन्तनं तस्माद्विरतः । संसत्तवसहि स्त्रीणां समीपतरे या वसतिर्निवासस्तस्माद्विरतः निजशरीरसंस्काररहित इत्यर्थः । विकहाहि विकथाया विरतः स्त्रीरागकथाविवर्जित इत्यर्थः । पुट्ठिरसेहिं विरओ पु (पौ) ष्टिकरसस्य सेवारहितः वृष्यरसस्यानास्वादक इत्यर्थः यस्मिन् रसे सेविते वृषवत् षण्ढवत्कामी भवति स रसो वृष्य कथ्यते वाजीकरणरसं न सेवते । भावण पंचावि तुरियम्मि एताः पंचापि भावनास्तुरीये चतुर्थे ब्रह्मचर्यव्रते भवन्ति ।

अपरिग्गह समणुण्णेसु सद्दपरिसरसरूवगंधेसु ।
रायद्दोसाईणं परिहारो भावणा हुंति ॥ ३५ ॥

अपरिग्रहे समनोज्ञेषु शब्दस्पर्शरसरूपगन्धेषु ।
रागद्वेषादीनां परिहारो भावना भवन्ति ॥

अपरिग्गह समणुण्णेसु अपरिग्रहव्रते, अत्र लुप्तविभक्तिकं पदं। समणुण्णेसु—समनोज्ञेषु मनोज्ञसहितेषु अमनोज्ञेषु चेति शेषः। **सद्दपरिसरसरूवगंधेसु** शब्दस्पर्शरसरूपगन्धेषु पञ्चेन्द्रियविषयेषु। **रायदोसाईणं** रागद्वेषादीनां रागस्य द्वेषस्य च। आदिशब्दात्पादपूरणमेव। मनोज्ञेषु विषयेषु रागो न क्रियतेऽमनोज्ञेषु विषयेषु द्वेषो न क्रियते। इति रागद्वेषपरिहारः पंचप्रकारः पंचभावना भवन्तीति ज्ञातव्यं।

इरिया भासा एसण जा सा आदाण चेव णिक्खेवो ।
संजमसोहिणिमित्तं खंति जिणा पंच समिदीओ ॥३६॥

ईर्या भाषा एषणा या सा आदानं चैव निक्षेपः ।
संयमशोधिनिमित्तं ख्यान्ति जिनाः पञ्च समितीः ॥

इरियासमिति चतुर्हस्तदर्शितमार्गगमनं। भासासमिति [illegible]नुसारेण वचनं। एसणासमिति [illegible] पुनः पुनः [illegible] भोजनं [illegible] सा एसणासमितिः। **आदाण चेव** आदानं चैव [illegible] । **णिक्खेवो** [illegible] **संजमसोहिणि-मित्तं** [illegible] **खंति जिणा पंच समिदीओ** [illegible]

ख्यान्ति प्ररूपयन्ति के, जिणा—तीर्थंकरपरमदेवाः सामान्यकेवलिनः श्रुतकेवलिनश्चेति भावः। किं ख्यान्ति, पंचसमिदीओ—पंच समितीरिति तात्पर्यार्थः। विस्तरस्तु वट्टकेराचार्यरचितादिविशिष्टजिनागमग्रन्थेषु ज्ञातव्यः।

भव्वजणवोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं।
णाणं णाणसरूवं अप्पाणं तं वियाणेह ॥ ३७ ॥

भव्यजनबोधनार्थं जिनमार्गे जिनवरैर्यथा भणितम्।
ज्ञानं ज्ञानस्वरूपं आत्मानं तं विजानीहि ॥

भव्वजणवोहणत्थं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररत्नत्रयप्राप्तियोग्या ये ते भव्यजनास्तेषां बोधनार्थं सम्बोधननिमित्तं। जिणमग्गे जिनस्य श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञस्य मार्गे सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणोपलक्षिते मोक्षमार्गे। जिणवरेहिं जह भणियं श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञैर्यथा भणितं प्रतिपादितं। किं तद्भणितं, णाणं णाणसरूवं ज्ञानं व्यवहारनयेन सम्यग्ज्ञानं तथा ज्ञानस्य स्वरूपं स्वभावः। उक्तं च समन्तभद्रेण महाकविना ज्ञानस्य स्वरूपं—

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥ १ ॥

ईदृग्विधं ज्ञानं ज्ञानस्वरूपं च निश्चयनयेन। अप्पाणं तं वियाणेह आत्मानं तज्ज्ञानं ज्ञानस्वरूपं च हे भव्य! त्वं विजानीहि सम्यग्विचारयेति क्रियाकारकसम्बन्धः।

जीवाजीवविहत्ती जो जाणइ सो हवेइ सण्णाणी।
रायादिदोसरहिओ जिणसासणे मोक्खमग्गुत्ति ॥ ३८ ॥

जीवाजीविभक्तिं यो जानाति स भवेत् सज्ज्ञानः।
रागादिदोषरहितो जिनशासने मोक्षमार्ग इति ॥

जीवाजीवविहत्ती जीवस्यात्मद्रव्यस्य, अजीवस्य पुद्गलधर्माधर्मकालाकाशलक्षणस्य पंचभेदस्य विभक्तिं विभंजनं विवेचनमिति देश्यात्।

जो जाणइ सो हवेइ सण्णाणी स जानाति स भवति सम्यग्ज्ञानी । रायादिदोसरहिओ स ज्ञानी कथंभूतः, रागादिदोषरहितः रागद्वेषमोहादिदोषरहितः । जिणसासणे मोक्खमग्गुत्ति जिनशासने मोक्षमार्ग इति ।

दंसणणाणचरित्तं तिण्णि वि जाणेह परमसद्धाए ।
जं जाणिऊण जोई अइरेण लहंति णिव्वाणं ॥ ३९ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रं त्रीण्यपि जानीत परमश्रद्धया ।
यज्ज्ञात्वा योगिनः अचिरेण लभन्ते निर्वाणम् ॥

दंसणणाणचरित्तं दर्शनज्ञानचारित्रं । तिण्णि वि जाणेह परमसद्धाए त्रीण्यपि जानीत परमश्रद्धया प्रकृष्टरुच्या । जं जाणिऊण जोई यद्दर्शनज्ञानचारित्रं ज्ञात्वा योगिनः । अइरेण लहंति णिव्वाणं अचिरेण स्तोककालेन प्राप्नुवन्ति किं तन्निर्वाणं सर्वकर्मक्षयलक्षणं मोक्षमिति ।

पाऊण णाणसलिलं णिम्मलसुविसुद्धभावसंजुत्ता ।
होंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा ॥ ४० ॥

प्राप्य ज्ञानसलिलं निर्मलसुविशुद्धभावसंयुक्ताः ।
भवन्ति शिवालयवासिनः त्रिभुवनचूडामणयः सिद्धाः ॥

पाऊण णाणसलिलं प्राप्य ज्ञानसलिलं लब्ध्वा सम्यग्ज्ञानपानीयं । णिम्मलसुविसुद्धभावसंजुत्ता निर्मलो निरतिचारः, सुविशुद्धो रागद्वेषमोहादिरहितः, भावो निजात्मपरिणामस्तेन संयुक्ताः सहिताः पुरुषाः । होंति सिवालयवासी भवन्ति शिवालयवासिनः सर्वकर्मक्षयलक्षणनिर्वाणनिवासिनो भवन्ति । तिहुवणचूडामणी सिद्धा त्रिभुवनचूडामणयः त्रैलोक्यशिरोरत्नानि ते पुरुषाः सिद्धा भवन्ति—आत्मोपलब्धिमन्तो भवन्ति ।

णाणगुणेहि विहीणा ण लहंते ते सुइच्छियं लाहं ।
इय णाउं गुणदोसं तं सण्णाणं वियाणेहि ॥ ४१ ॥

ज्ञानगुणैर्विहीना न लभन्ते ते स्विष्टं लाभम् ।
इति ज्ञात्वा गुणदोषौ तत् सद्ज्ञानं विजानीहि ॥

णाणगुणेहि विहीणा ज्ञानमेव गुणो जीवस्योपकारकः पदार्थस्तेन विहीना रहिताः । ण लहंते ते सुइच्छयं लाहं न लभन्ते न प्राप्नुवन्ति (ते) सुष्ठु इष्टं लाभं मोक्षं । उक्तं च—

णाणविहीणहं मोक्खपउ जीव म कासु वि जोइ ।
बहुयइं सलिलविरोलियइं करु चोप्पडउ न होइ ॥ १ ॥

इय णाउं गुणदोसं इति पूर्वोक्तप्रकारेण गुणं दोषं च ज्ञात्वा ज्ञानस्य गुणं, अज्ञानस्य दोषं विज्ञाय । तं सण्णाणं वियाणेहि तत्-स्मात्कारणात्, सत्समीचीनं, ज्ञानं विजानीहीति तात्पर्यार्थः ।

चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी ।
पावइ अइरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छयदो ॥ ४२ ॥

चारित्रसमारूढ आत्मनः परं न ईहते ज्ञानी ।
प्राप्नोति अचिरेण सुखं अनुपमं जानीहि निश्चयतः ॥

चारित्तसमारूढो चारित्रसमारूढश्चारित्रं प्रतिपालयन् पुमान् । अप्पासु परं ण ईहए णाणी आत्मनः सकाशात्परं इष्टं स्वग्वनितादिकं न ईहते न वाञ्छति कोऽसौ, ज्ञानी ज्ञानवान् पुमान् । उक्तं च—

स (श) मसुखशीलितमनसामशनमपि द्वेषमेति किमु कामाः ।
स्थलमपि दहति झषाणां किमंग ! पुनरङ्गमङ्गाराः ॥ १ ॥

पावइ अइरेण सुहं प्राप्नोत्यचिरेण स्तोककालेन सुखमनन्तसौख्यं । अणोवमं जाण णिच्छयदो कथंभूतं सुखं, अनुपममुपमारहितं जानीहि हे भव्य ! त्वं णिच्छयदो—निश्चयतः निःसन्देहान्निश्चयनयाद्वा ।

एवं संखेवेण य भणियं णाणेण वीयराएण ।
सम्मत्तसंजमासयदुण्हं पि उदेसियं चरणं ॥ ४३ ॥

सूत्रप्राभृतं ।



अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।
सुत्तत्थमग्गणत्थं सवणा साहंति परमत्थं ॥ १ ॥

अर्हद्भाषितार्थं गणधरदेवैर्ग्रथितं सम्यक् ।
सूत्रार्थमार्गणार्थं श्रमणा साधयन्ति परमार्थम् ॥

अरहंतभासियत्थं अर्हद्भिस्तीर्थकरपरमदेवैर्भाषितोऽर्थः सूत्रं भवति। **गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं** गणधरदेवैश्चतुर्भिर्ज्ञानैः सम्पूर्णैरष्टमहर्द्धिसहितैस्तीर्थकरयुवराजैः गंथियं—पदै रचितं, सम्मं—सम्यक् पूर्वापरविरोधरहितं शास्त्रं सूत्रं भवति। **सुत्तत्थमग्गणत्थं** सूत्रार्थमार्गणं सूत्रार्थविचारः सोऽर्थः प्रयोजनं यस्मिन् सूत्रे तत्सूत्रार्थमार्गणार्थं। तेन शुक्लध्यानद्वयं भवति। तेन **सवणा साहंति परमत्थं** सूत्रार्थेन श्रवणाः सद्दृष्टयो दिगम्बराः परमार्थं मोक्षं साधयन्ति—आत्मवशे कुर्वन्ति तेन कारणेन सूत्रं मोक्षहेतुरिति भावार्थः ।

सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं आइरियपरंपरेण मग्गेण ।
णाऊण दुविहसुत्तं वट्टइ सिवमग्ग जो भव्वो ॥ २ ॥

सूत्रे यत् सुदृष्टं आचार्यपरम्परेण मार्गेण ।
ज्ञात्वा द्विविधसूत्रं वर्तते शिवमार्गे यो भव्यः ॥

सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं सूत्रे यत् सुदृष्टं अतिशयेनानादिनिधनतया वा दृष्टं प्रतिपादितं। **आइरियपरंपरेण मग्गेण** आचार्याणां परंपरा श्रेणिर्द्वैव मार्गो वा आचार्यपरम्परा आचार्यप्रवाहस्तस्मिन्नेन मार्गेण। कोऽसौ मार्ग इति चेदुच्यते—श्रीमहावीरादनन्तरं श्रीगौतमः सुधर्मो

---

१ दृष्टिं. म. ब. । मार्गे. ब. ।

जम्बूश्चेति त्रयः केवलिनः। विष्णुः नन्दिमित्रः अपराजितः गोवर्धनः भद्रबाहुश्चेति पंच श्रुतकेवलिनः। तदनन्तरं, विशाखः प्रौष्ठिलः क्षत्रियः जयसः नागसेनः सिद्धार्थः धृतिषेणः विजयः बुद्धिलः गंगदेवः धर्मसेनः इत्येकादश दशपूर्विणः। नक्षत्रः जयपालः पाण्डुः ध्रुवसेनः कंसाश्चेति पंचैकादशाङ्गधराः। सुभद्रः यशोभद्रः भद्रबाहुः लोहाचार्यः एते चत्वार एकाङ्गधारिणः। जिनसेनश्च। अर्हद्बलिः माघनन्दी धरसेनः पुष्पदन्तः भूतबलिः जिनचंद्रः कुन्दकुन्दाचार्यः उमास्वामी समन्तभद्रस्वामी शिवकोटिः शिवायनः पूज्यपादः एलाचार्यः वीरसेनः जिनसेनः नेमिचंद्रः रामसेनश्चेति प्रथमाङ्गपूर्वभागज्ञाः। अकलंकः अनन्तविद्यानन्दी माणिक्यनन्दी प्रभाचन्द्रः रामचन्द्रः एते सुतार्किकाः। वासवचन्द्रः गुणभद्र एतौ नग्नौ अन्ते वीराङ्गजश्च। **णाऊण दुविहसुत्तं** ज्ञात्वा द्विविधं सूत्रं अर्थतः शब्दतश्च द्विविधं सूत्रं। **वट्टइ सिवमग्गे जो भव्वो** वर्तते शिवमार्गे मोक्षमार्गे यो मुनिः स भव्यो रत्नत्रययोग्यो भवति मोक्षं प्राप्नोतीति भावः।

सुत्तं हि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि।
सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णो वि॥ ३॥

सूत्रं हि जानानः भवस्य भवनाशनं च स करोति।
सूची यथा असूत्रा नश्यति सूत्रेण सह नापि॥

सुत्तं हि जाणमाणो भवस्स सूत्रं शास्त्रानुगमं हि निश्चयेन जानानो जानन् यस्य सूत्रं, भवस्स–भवस्य सर्वज्ञवीतरागस्य। **भवणासणं च सो कुणदि** भवस्य संसारस्य नाशनं विनाशं स पुमान् करोति विदधाति सर्वथा भूयाऽऽत्मानं प्रकटयति मुक्तो भवतीत्यर्थः। अत्रार्थे दृष्टान्तेन दृढयति-**सूई जहा असुत्ता णासदि** सूची लोहम-यिका दवरकरहिता असूत्रा दवरकरहिता नश्यति न लभ्यते। **सुत्ते**

सदा णो वि सूत्रेण सह वर्तमाना सूत्रेण दोरेण सहिता णो विनाशि नश्यति हस्ते घटति।

पुरिसो वि जो ससुत्तो ण विणासइ सो गओ वि संसारे।
सच्चेयणपच्चक्खं णासदि तं सो अदिस्समाणो वि ॥ ४ ॥

पुरुषोपि यः ससूत्रः न विनश्यति स गतोपि संसारे।
स्वचेतनाप्रत्यक्षेण नाशयति तं सोऽदृश्यमानोपि ॥

पुरिसो वि जो ससुत्तो पुरुषोऽपि जीवोऽपि य ससूत्रो जिनसूत्र-सहितः। ण विणासइ सो गओ वि संसारे न विनश्यति स पुमान् गतोऽपि नष्टोऽपि संसारे पतितोऽपि पुनरुज्जीवति मुक्तो भवति। सच्चेयणपच्चक्खं आत्मानुभवप्रत्यक्षेण। णासदि तं सो अदिस्समाणो वि णासदि–नश्यति, अन्तरिनर्थो प्रयोग, तेनायमर्थः नाशयति तं संसारं स आसन्नभव्यजीवः। कथंभूत, अदिस्समाणो वि–अदृश्यमानोऽपि चतुर्विधसंघमध्येऽप्रकटोऽप्यप्रसिद्धोऽपि।

सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं।
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी ॥ ५ ॥

सूत्रार्थं जिनभणितं जीवाजीवादिबहुविधमर्थम्।
हेयाहेयं च तथा यो जानाति स हि सद्दृष्टिः ॥

सुत्तत्थं जिणभणियं सूत्रस्यार्थं जिनेन भणितं प्रतिपादितं। जीवा-जीवादिबहुविहं अत्थं जीवाजीवादिकं बहुविधमर्थं कर्मतापन्नं वस्तु। हेयाहेयं च तहा हेयं पुद्गलादिकं पंचप्रकार, अहेयमादेय निजात्मानं, तथा तेनैव पड्वस्तुप्रकारेण। जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी यः पुमान् जानाति वेत्ति स पुमान् हु–स्फुट सद्दृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्भवति।

जं सुत्तं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो।
तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं खवइ मलपुंजं ॥ ६ ॥

यत् सूत्रं जिनोक्तं व्यवहारं तथा च जानीहि परमार्थम् ।
तत् ज्ञात्वा योगी लभते सुखं क्षिपते मलपुञ्जम् ॥

जं सुत्तं जिणउत्तं यत्सूत्रं जिनोक्तं। **ववहारो तह य जाणपरमत्थो** तत्सूत्रं व्यवहारं जानीहि तथा परमार्थं निश्चयरूपं च जानीहि हे भव्य ! त्वं वेत्थ। **तं जाणिऊण जोई** तत्सूत्रं व्यवहारनिश्चयरूपं ज्ञात्वा योगी ध्यानी पुमान्। **लहइ सुहं खवइ मलपुंजं** लभते सुखं निजात्मोत्थं परमानन्दलक्षणं क्षिपते निर्मूलकाषं कषते मलस्य पापस्य पुंजं राशिं त्रिषष्टिप्रकृतिसमूहं । घातिसंघातघातनं कृत्वा केवलज्ञानमुत्पादयतीति भावः। यथा वंशावलम्बं कृत्वाऽभ्यासवशेन रज्जूपरि चटति पश्चादभ्यासवशेन वंशं त्यक्त्वा निराधारतया रज्जूपरि गच्छति तथा व्यवहारावलम्बेन निश्चयपदमवलम्ब्यते। तदनन्तरं व्यवहारमपि त्यक्त्वा निश्चयमेवावलंब्यते इति भावः।

सुत्तत्थपयविणट्ठो मिच्छादिट्ठी हु सो मुणेयव्वो ।
खेडे वि ण कायव्वं पाणिप्पत्तं सचेलस्स ॥ ७ ॥

सूत्रार्थपदविनष्टो मिथ्यादृष्टिः हि स ज्ञातव्यः ।
खेटेऽपि न कर्तव्यं पाणिपात्रे सचेलस्य ॥

सुत्तत्थपयविणट्ठो सूत्रार्थपदविनष्टः पुमान् । **मिच्छादिट्ठी हु सो मुणेयव्वो** मिथ्यादृष्टिरिति हु-स्फुटं स पुमान् मुणितव्यो ज्ञातव्यः। **खेडे पि** खेटेऽपि क्रीडामात्रेऽपि न कर्तव्यं पाणिपात्रेण भोजनं न विधातव्यं। कस्य, सचेलस्य गृहस्थस्य।

हरिहरतुल्लो वि णरो सग्गं गच्छेइ एइ भवकोडी ।
तह वि ण पावइ सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥ ८ ॥

हरिहरतुल्योऽपि नरः स्वर्गं गच्छति एति भवकोटीः ।
तथापि न प्राप्नोति सिद्धिं संसारस्थः पुनः भणितः ॥

हरिहरतुल्लो वि णरो हरिश्च नारायणो हरश्च रुद्रस्ताभ्यां तुल्यः समानः ऋद्धिमानित्यर्थः । नर प्राणी मनुष्य. । **सग्गं गच्छेइ एइ भवकोडी** दानपूजोपवासादिकं कृत्वा स्वर्गं देवलोकं गच्छति पश्चाद्भवान्तराणां कोटीरसंख्यानि भवान्तराणि अनन्तानि वा भवान्तराणि प्राप्नोति दुःखीभवति संसारी स्यात् । **तह वि ण पावइ सिद्धिं** तथापि भवकोटीपर्यटनप्रकारेणापि न प्राप्नोति सिद्धिं मोक्षं न लभते। किं तर्हि भवतीत्याह–**संसारत्थो पुणो भणिदो** संसारस्थः संसारी पुनर्भणितः सिद्धान्ते प्रतिपादित । जिनसूत्राभावान्मिथ्यादृष्टिः सन् संसारदुःखं सहते सुखी न भवतीति भावः ।

उक्किट्ठसीहचरियं बहुपरियम्मो य गरुयभारो य ।
जो विहरइ सच्छंदं पावं गच्छेदि होदि मिच्छत्तं ॥ ९ ॥

उत्कृष्टसिंहचरित बहुपरिकर्मा च गुरुभारश्च ।
यो विहरति स्वच्छन्द पापं गच्छति भवति मिथ्यात्वम् ॥

उक्किट्ठसीहचरियं उत्कृष्टं सर्वयतिभ्योऽधिकं सिंहवन्निर्भयत्वेन चरितं चारित्रं यस्य स पुमानुत्कृष्टसिंहचरित । प्राकृतत्वादत्र नपुंसकत्वं। अथवा विहरतीति क्रियाविशेषणत्वाद्द्वितीयैकवचनं नपुंसकत्वं च । **बहुपरिकम्मो य गरुयभारो य** बहुपरिकर्मा चानेकतपोविधानप्रक्षितशरीरसंस्कारश्च मुनिर्गुरुतरभारश्च रागादिमयनिवारकः शिष्याणां पठनपाठनसमर्थो यात्राप्रतिष्ठादीक्षादानायुर्वेदज्योतिष्कशास्त्रनिर्णयकारकः षडावश्यककर्मकर्मठो धर्मोपदेशनसमर्थं सर्वेषां यतीनां च नैमित्यकारको गुरुभार उच्यते, ईदृग्विधोऽपि गच्छनायको यतिः । **जो विहरइ सच्छंदं** यो यतिः स्वच्छन्दं विहरति–जिनसूत्रं न प्रमाणयति । **पावं गच्छेदि होइ मिच्छत्तं** स मुनि पापं गच्छति प्राप्नोति–मिथ्यात्वं तस्य भवतीति तात्पर्यार्थः ।

निचेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहि ।
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे ॥ १० ॥

निश्चेलपाणिपात्रं उपदिष्टं परमजिनवरेन्द्रैः ।
एकोपि मोक्षमार्गः शेषाश्च अमार्गाः सर्वे ॥

निच्चेलपाणिपत्तं निश्चेलस्य मुनेः पाणिपात्रं करयोः पुटे भोजनमुक्तं । उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहि उपदिष्टं परमजिनवरेन्द्रैस्तीर्थकरपरमदेवैः । एक्को हि मोक्खमग्गो एक एव मोक्षमार्गो निर्ग्रन्थलक्षणः । सेसा य अमग्गया सव्वे शेषा मृगचर्मवल्कलकर्पासपट्टकूलरोमवस्त्रतट्टोर्णातृणप्रावरणादि, सर्वे रक्तवस्त्रादि पीताम्बरादयश्च विरूपे, अमार्गाः संसारपर्यटनहेतुत्वान्मोक्षमार्गा न भवन्तीति भव्यजनैर्ज्ञातव्यं ।

जो संजमेसु सहिओ आरंभपरिग्गहेसु विरओ वि ।
सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए ॥ ११ ॥

यः संयमेषु सहितः आरम्भपरिग्रहेषु विरतः अपि ।
स भवति वन्दनीयः ससुरासुरमानुषे लोके ॥

जो संजमेसु सहिओ यो मुनिर्न तु गृहस्थः संयमेषु सहितः इन्द्रियमनःसंयमवान् भवति । आरंभपरिग्गहेसु विरओ वि आरम्भाः सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखाः, परिग्रहाः क्षेत्रवास्त्वादयस्तेषु विरतो विरक्तो भवति । अपिशब्दः समुच्चये वर्तते । तेन मद्यमांसादयो गृह्यन्ते तस्मात्सकलसंयमी यतिरिति वचनात् । सो होइ वंदणीओ स मुनिरिन्द्रवंद्यो भवति । स वन्दनीयो भवति, ससुरासुरमाणुसे लोए लोके त्रिभुवने वन्दनीयो भवति । कथंभूते लोके, ससुरासुरमानुषे देवदानवमानवसहिते ।

जे बावीसपरीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्ता ।
ते होंति वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरासाहू ॥ १२ ॥

ये द्वाविंशतिपरीषहान् सहन्ते शक्तिशतैः संयुक्ताः ।
ते भवन्ति वन्दनीयाः कर्मक्षयनिर्जरासाधवः॥

जे बावीसपरीसह सहंति ये द्वाविंशतिपरीषहान् सहन्ते । सत्तीसएहिं संजुत्ता शक्तीनां शतैः संयुक्ताः । ते हुंति वंदणीया ते भवन्ति वन्दनीया नमोऽस्तु शब्दयोग्याः । कम्मक्खयणिज्जरासाहू कर्मक्षयनिर्जरासाधवः ये कर्मक्षये निर्जरायां च साधवः कुशला भवन्ति योग्या भवन्तीति भावः ।

अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेण सम्मसंजुत्ता ।
चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जाय ॥१३॥

अवशेषा ये लिङ्गिन दर्शनज्ञानेन सम्यक्त्वयुक्ताः ।
चेलेन च परिगृहीताः ते भणिता इच्छाकारयोग्याः ॥

अवसेसा जे लिंगी अवशेषा ये लिङ्गिनः क्षुल्लकगुरवः । दंसणणाणेण सम्मसंजुत्ता दर्शनज्ञानेन सम्यक्त्वसंयुक्ताः । चेलेण य परिगहिया वस्त्रैकधराः सकोपीनाश्च वस्त्रमपि सीवितं न भवति किं तर्हि खण्डवस्त्रं धरन्ति ते वस्त्रपरिगृहीताः । ते भणिया इच्छणिज्जाय ते भणिता इच्छाकारयोग्या नमस्कारयोग्या ।

इच्छायारमहत्थं सुत्तठिओ जो हु छंडए कम्मं ।
ठाणे ट्ठियसम्मत्तं परलोयसुहंकरो होइ ॥ १४ ॥

इच्छाकारमहार्थं सूत्रस्थितः यः स्फुटं त्यजति कर्म ।
स्थाने स्थितसम्यक्त्वः परलोकसुखकरो भवति ॥

इच्छायारमहत्थं इच्छाशब्देन नम उच्यते कारशब्दस्तु अधःस्थः क्रियते तेन नमस्कार इति भवति । क्षुल्लकानां वन्दनं । सुत्तठिओ जो हु छंडए कम्मं सुत्तट्ठिओ—सूत्रस्थितः समयं जानन् यः पुमान् कर्म त्यजति गृहस्थकर्म न करोति वैयावृत्यं विना स्वयं रन्धनादिकं न

करोति । ठाणे द्वियसम्मत्तं एकादशस्वपि स्थानेषु सम्यक्त्वपूर्वको भवति । परलोयसुहंकरो होइ स्वर्गसौख्यं साधयति षोडशसु स्वर्गेष्वन्यतमस्वर्गे उत्पद्यते ततश्च्युत्वा निर्ग्रन्थो भूत्वा मोक्षं गच्छति ।

अह पुण अप्पा णिच्छदि धम्माइं करेदि निरवसेसाइं ।
तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥ १५ ॥

अथ पुनः आत्मानं नेच्छति धर्मान् करोति निरवशेषान् ।
तथापि न प्राप्नोति सिद्धिं संसारस्थः पुनः भणितः ॥

अह पुण अप्पा णिच्छदि अथ अथवा पुनरात्मानं नेच्छति आत्मभावनां न करोति । धम्माइं करेइ निरवसेसाइं धर्मान् करोति निरवशेषान् दानपूजातपःशीलादिकानि निरवशेषाणि समस्तानि पुण्यानि करोति । तह वि ण पावदि सिद्धिं तथापि पुण्यकर्मप्रकारेणापि सिद्धिं मुक्तिं न प्राप्नोति । संसारत्थो पुणो भणिदो संसारस्थः पुनर्भणितः संसारी भवतीति सिद्धान्ते प्रतिपादितं । उक्तं च देवसेनेन भगवता—

[1]अइकुणउ तवं पालेउ संजमं पढउ सयलसत्थाइं ।
जाम ण झावई अप्पा ताम ण मोक्खं जिणो भणई ॥ १ ॥

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण ।
जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण ॥ १६ ॥

एतेन कारणेन च तं आत्मानं श्रद्धत्त त्रिविधेन ।
येन च लभेध्वं मोक्षं तं जानीत प्रयत्नेन ॥

एएण कारणेण य एतेन प्रत्यक्षीभूतेन कारणेन हेतुना । चकार उक्तसमुच्चयार्थः, बहिस्तत्त्वभूतपंचपरमेष्ठिकारणसूचनार्थं इत्यर्थः । तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण तमात्मानं शुद्धबुद्धैकस्वभाव-

१ अतिकरोतु तपः पालयतु संयमं पठतु सकलशास्त्राणि ।
यावन्न ध्यायति आत्मानं तावन्न मोक्षं जिनो भणति ॥ १ ॥

पंचमहव्वयजुत्तो तिहि गुत्तिहि जो स संजदो होइ ।
णिग्गंथमोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जो य ॥ २० ॥

पंचमहाव्रतयुक्तः तिसृभिः गुप्तिभिः यः स संयतः भवति ।
निर्ग्रन्थमोक्षमार्गः स भवति हि वन्दनीयः च ॥

पंचमहव्वयजुत्तो पंचमहाव्रतैर्युक्तः प्राणातिपातानृतादत्तसुरतपरिग्रहरहितः पुमान् पंचमहाव्रतयुक्त उच्यते । यस्तु स्तोकमपि परिग्रहीतं करोति सोऽणुव्रतः सागारोऽव्रतो वा कथ्यते । तेन वस्त्रादौ परिग्रहे सति तत्र यूकालिक्षादयस्त्रीन्द्रिया जीवा उत्पद्यन्ते, यदि ततोऽपनीयान्यत्र क्षिप्यन्ते ततो म्रियन्ते कथं प्राणातिपातरहितो निरागारो भवति, अलमतिविस्तरेण परिग्रहवान् महाव्रती न भवति । तिहि गुत्तिहि जो स संजदो होदि तिसृभिर्गुप्तिभिर्युक्तो यो मुनिः स संयतः संयमवान् भवति । णिग्गंथमोक्खमग्गो निर्ग्रन्थमोक्षमार्गो यो मन्यते । सो होदि हु वंदणिज्जो स भवति हु-स्फुटं वन्दनीयः । यः सग्रन्थमोक्षमार्गं मन्यते स मिथ्यादृष्टिर्जैनाभासश्चावंदनीयो भवतीति भावार्थः ।

दुइयं च वुत्त लिङ्गं उक्किट्ठं अवरसावयाणं च ।
भिक्खं भमेइ पत्तो समिदीभासेण मोणेण ॥ २१ ॥

द्वितीयं चोक्तं लिङ्गं उत्कृष्टं अवरश्रावकाणां च ।
भिक्षां भ्रमति पात्रः समितिभाषेण मौनेन ॥

दुइयं च वुत्त लिंगं द्वितीयं चोक्तं लिङ्गं वेषः । उक्किट्ठं अवरसावयाणं च उत्कृष्टं लिङ्गं अवरश्रावकाणां अगृहस्थश्रावकाणां । सोऽवरश्रावकः भिक्खं भमेइ पत्तो भिक्षां भ्रमति पात्रसहितः करभोजी वा । समिदिभासेण मोणेण ईर्यासमितिसहितः मौनवान्, उत्कृष्टश्रावको दशमैकादशप्रतिमाप्राप्तः । उक्तं च समन्तभद्रेण महाकविना—

१ [illegible] ईर्येति पाठः । अन्य स्थाने भाषासमितेः [illegible] ।

आद्यास्तु षड्जघन्याः स्युर्मध्यमास्तदनु त्रयः।
शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने ॥ १ ॥
एकादशके स्थाने ह्युत्कृष्टः श्रावको भवेद्विविधः।
वस्त्रैकधरः प्रथमः कौपीनपरिग्रहोऽन्यस्तु ॥ २ ॥
कौपीनोऽसौ रात्रिप्रतिमायोगं करोति नियमेन।
लोचं पिच्छं धृत्वा भुंक्ते ह्युपविश्य पाणिपुटे ॥ ३ ॥
वीरचर्या च सूर्यप्रतिमात्रैकाल्ययोगनियमश्च।
सिद्धान्तरहस्यादिष्वध्ययनं नास्ति देशविरतानां ॥ ४ ॥

लिंगं इच्छीण हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि।
अज्जिय वि एक्कवत्था वत्थावरणेण भुंजेइ ॥ २२ ॥

लिङ्गं स्त्रीणां भवति भुंक्ते पिण्डं स्वेककाले।
आर्यापि एकवस्त्रा वस्त्रावरणेन भुंक्ते ॥

लिंगं इत्थीण हवदि तृतीयं लिंगं वेषः स्त्रीणां भवति। भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि भुंक्ते पिण्डमाहारं सुष्ठु निश्चलतया एककाले दिवसमध्ये एकवारं। अज्जिय वि एक्कवत्था आर्यापि एकवस्त्रा भवति। अपिशब्दात् क्षुल्लिकापि संव्यानवस्त्रेण सहिता भवति। वत्थावरणेण भुंजेइ भोजनकाले एकशाटकं धृत्वा भुंक्ते संव्यानं उपरितनवस्त्रमुत्तार्य भोजनं कुर्यादित्यर्थः।

ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥२३॥

नापि सिध्यति वस्त्रधरो जिनशासने यद्यपि भवति तीर्थंकरः।
नग्नो विमोक्षमार्गः शेषाः उन्मार्गकाः सर्वे ॥

ण वि सिज्झइ वत्थधरो नापि सिद्ध्यति नैव सिद्धिमात्मोपलब्धिलक्षणां मुक्तिं लभते वस्त्रधरो मुनिः। जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो जिनशासने श्रीवर्धमानस्वामिनो मते यद्यपि भवति तीर्थ-

कर तीर्थंकरपरमदेवोऽपि यदि भवति । गर्भावतारादिपंचकल्याणवानपि सिद्धो न भवति, आस्तां तावदन्योऽनगारकेवल्यादिकः । **णग्गो विमोक्खमग्गो** नग्नो वस्त्राभरणरहितो विमोक्षमार्गः ज्ञातव्यः । **सेसा उम्मग्गया सव्वे** शेषा सितपटादीनां मार्गाः सर्वेऽपि उन्मार्गकाः कुत्सिता मिथ्यारूपा मार्गा ज्ञेया जानीया विद्वद्भिरित्यर्थः ।

लिंगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु ।
भणिओ सुहमो काओ तासं कह होइ पव्वज्जा ॥२४॥

लिङ्गे च स्त्रीणां स्तनान्तरे नाभिकक्षादेशेषु ।
भणितः सूक्ष्मः कायः तासां कथं भवति प्रव्रज्या ॥

लिंगम्मि य इत्थीणं लिङ्गे योनिमध्ये स्त्रीणां योषितां । **थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु** स्तनान्तरे द्वयो स्तनयोर्मध्ये वक्षःप्रदेशे, नाभिकक्षादेशेषु, नाभौ तुन्दिकायां, कक्षादेशयोर्बाह्वोः मूलयोर्द्वयोः स्थानयोः । **भणिओ सुहमो काओ** भणितः आगमे प्रतिपादितः कोऽसौ भणितः सूक्ष्मः कायः सूक्ष्मजीवशरीरं लोचनाद्यगोचरः सूक्ष्मपंचेन्द्रियपर्यन्तो जीववर्गः । **तासिं कह होइ पव्वज्जा** तासां स्त्रीणां कथं भवति प्रव्रज्या दीक्षा–अपि तु न भवति । यदि प्रव्रज्या न भवति तर्हि कथं पंचमहाव्रतानि दीयन्ते ? सत्यमेतत् सज्जातिज्ञापनार्थं महाव्रतानि उपचर्यन्ते स्थापनान्यासः क्रियते इत्यर्थः । तथा चोक्तं शुभचन्द्रेण महाकविना—

मैथुनाचरणे मूढ ! म्रियन्ते जन्तुकोटयः ।
योनिरन्ध्रसमुत्पन्ना लिंगसंघट्टपीडिताः ॥ १ ॥

कियन्तो जन्तवो म्रियन्त इति चेत् घाते घातेऽसंख्येयाः कोटय इति । "घाए घाए असंखेज्जा" इति वचनात् ।

जइ दंसणेण सुद्धा उत्ता मग्गेण सा वि संजुत्ता।
घोरं चरिय चरित्तं इत्थीसु ण पावया भणिया ॥ २५ ॥
यदि दर्शनेन शुद्धा उक्ता मार्गेण सापि संयुक्ता।
घोरं चरित्वा चरित्रं स्त्रीषु न प्रव्रज्या भणिता ॥

जइ दंसणेण सुद्धा यदि दर्शनेन सम्यक्त्वरत्नेन शुद्धा निर्मला भवति। उत्ता मग्गेण सा वि संजुत्ता तदा मार्गेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणेन सापि स्त्री च संयुक्ता भवति-पंचमगुणस्थानं प्राप्नोति, स्त्रीलिंगं छित्वा स्वर्गाग्रे देवो भवति, ततश्च्युत्वा मनुष्यभवमुत्तमं प्राप्य मोक्षं लभते। उक्तं च—

सम्यग्दर्शनसंशुद्धमपि मातङ्गदेहजं।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसं ॥ १ ॥

स्वर्गेऽपि गता पुनः स्त्रीलिंगं न लभते। तदप्युक्तं समन्तभद्रेण महाकविना—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥१॥

घोरं चरिय चरित्तं घोरं कातरजनभीतिजनकं चरित्रं चरित्वा षोडशसु स्वर्गेष्वन्यतमं स्वर्गं यान्ति अहमिन्द्रत्वमपि स्त्रीभवे न लभन्ते कथं मोक्षं स्त्रीभवे प्राप्नुवन्ति। तेन कारणेन इत्थीसु ण पावया भणिया स्त्रीषु न प्रव्रज्या निर्वाणयोग्या दीक्षा भणिता। इत्यनया गाथया सितपटानां मतं स्त्रीमुक्तिप्रतिलक्षणं प्रत्युक्तं भवति। मरुदेवी-ब्राह्मी-सुन्दरी-यशस्वती-सुनन्दा-सुलोचना-सीता-रात्रिमति-चन्दना-अनन्तमति-द्रौपदी-त्यादिकाः स्त्रियः स्वर्गं गता न तु मोक्षमिति।

चित्तासोहि ण तेसिं ढिल्लं भावं तहा सहावेण।
विज्जदि मासा तेसिं इत्थीसु णऽसंकया झाणं ॥२६॥
चित्ताशोधिः न तेषां शिथिलो भावः तथा स्वभावेन।
विद्यन्ते मासाः तासां स्त्रीषु न अशंकया ध्यानम् ॥

णिरासोहिं ण तेसिं चित्तस्य मनसः आ समन्ताद्बोधिर्निर्मुक्ता चित्ते तासां स्त्रीणां। ढिल्लं भावं तहा सहावेण शिथिलो भा(वः) परिणामस्तथा स्वभावेन प्रकृत्यैव, कस्मिंश्चिन्मासादावतिशयो न वर्तते विज्जदि मासा तेसिं विद्यते मासा-मासे मासे रुधिरस्रावस्तासां स्त्रीणां। इत्थीसु णऽसंकया झाणं स्त्रीषु न वर्तते किं तत्, अश(ङ्)कया निर्भयतया ध्यानमेकाग्रचिन्तानिरोधलक्षणमिति भावः। "प्रस्तुत इति प्राकृतव्याकरणसूत्रेणाकारलोपः।

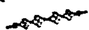
गाहेण अप्पगाहा समुद्दसलिले सचेलअत्थेण।
इच्छा जाहु णियत्ता ताह णियत्ताइं सव्वदुःखाइं ॥२७॥

ग्राहेण अल्पग्राहाः समुद्रसलिले स्वचेलार्थेन।
इच्छा येभ्यो निवृत्ता तेषां निवृत्तानि सर्वदुःखानि ॥

गाहेण अप्पगाहा ग्राहेण आहारादिना ये मुनयोऽल्पग्राहाः स्तोकगृहीनः। समुद्दसलिले सचेलअत्थेण यथा समुद्रसलिले प्रचुरजलेऽपि स्वचेलप्रक्षालनार्थमल्पजलेन तत् गृह्णन्ति किं क्रियतेऽधिकजलग्रहणेन। इच्छा जाहु णियत्ता इच्छा तृष्णा येभ्यो निवृत्ता तेषां मुनीनां निवृत्ता भवति। ताह णियत्ताइं सव्वदुःखाइं तेषां निवृत्तानि सर्वाणि दुःखानि शारीरमानसागन्तुकानि दुःखानि तेनैव सिद्धिसुखमवाप्नुवन्तीति भावः।

इति श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृध्रपि-च्छाचार्यनामपञ्चकविराजितेन श्रीसीमन्धरस्वामिज्ञानसम्बोधितभव्यजनेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे सर्वमुनिमण्डलीमण्डितेन कलिकालगौतमस्वामिना श्रीमल्लिभूषणेन भट्टारकेण अनुमतेन सकलविद्वज्जनसमाजसम्मानितेन श्रीविद्यानन्दिगुरुपट्टाभरणभूतेन श्रीश्रुतसागरेण विरचिता सूत्रप्राभृतटीका समाप्ता।

बोधप्राभृतं ।



बहुसत्थअत्थजाणे संजमसम्मत्तसुद्धतवयरणे ।
वंदित्ता आयरिए कसायमलवज्जिदे सुद्धे ॥ १ ॥
सयलजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं ।
वुच्छामि समासेण य छक्कायहियंकरं सुणसु ॥ २ ॥

बहुशास्त्रार्थज्ञायकान् संयमसम्यक्त्वशुद्धतपश्चरणान् ।
वन्दित्वाऽऽचार्यान् कषायमलवर्जितान् शुद्धान् ॥
सकलजनबोधनार्थं जिनमार्गे जिनवरैर्यथा भणितम् ।
वक्ष्यामि समासेन च षट्कायहितंकरं शृणु ॥

वुच्छामि वक्ष्यामि कथयिष्यामि । कः कर्ता अहं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः । किं तत्... [illegible], छक्कायहियंकरं षट्कायहितंकरं पृथ्व्यादि... [illegible] शास्त्रं । [illegible] सुणसु शृणु त्वं हे भव्य ! [illegible] समासेण संक्षेपेण । [illegible] जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं [illegible] सयलजणबोहणत्थं [illegible] वंदित्ता आ[illegible] [illegible]

शुद्धं निरतिचारं, तपश्चरणं च द्वादशविधं तपो येषां ते संयमसम्यक्त्वशुद्धतपश्चरणास्तान् संयमसम्यक्त्वशुद्धतपश्चरणान्। भूयोऽपि कथंभूतानाचार्यान्, कसायमलवज्जिदे क्रोधमानमायालोभलक्षणचतुष्कषायमलवर्जितान् कषायोत्पन्नपापरहितानित्यर्थः। अपरं कथंभूतानाचार्यान्, सुद्धे शुद्धान् षट्त्रिंशद्गुणप्रतिपालनेन निर्मलान् निष्पापान्। के ते षट्त्रिंशद्गुणा इत्याह—

आचारवान् श्रुताधारः प्रायश्चित्तासनादिदः (?)।
आयापायकथी दोपाभाषकोऽश्रावकोऽपि च ॥ १ ॥
सन्तोषकारी साधूनां निर्यापक इमेऽष्ट च।
दिगम्बरोऽप्यनुद्दिष्टभोजी शय्याशनीति च ॥ २ ॥
आरोगभुक् क्रियायुक्तो व्रतवान् ज्येष्ठसद्गुणः।
प्रतिक्रमी च षण्मासयोगी च तद्द्विनिषद्यकः ॥ ३ ॥
द्विःषट्तपास्तथा षट् चावश्यकानि गुणा गुरोः।

आयदणं चेदिहरं जिणपडिमा दंसणं च जिणबिंबं।
भणियं सुवीयरायं जिणमुद्दा णाणमादत्थं ॥ ३ ॥
अरहंतेण सुदिट्ठं जं देवं तित्थमिह य अरहंतं।
पावज्ज गुणविसुद्धा इय णायव्वा जहाकमसो ॥ ४ ॥

आयतनं चैत्यगृहं जिनप्रतिमा दर्शनं च जिनबिम्बम्।
भणितं सुवीतरागं जिनमुद्रा ज्ञानमात्मस्थम् ॥
अर्हता सुदृष्टं यो देवः तीर्थमिह च अर्हन्।
प्रव्रज्या गुणविशुद्धा इति ज्ञातव्या यथाक्रमशः ॥

आयदणं आयतनं ज्ञातव्यं। चेदिहरं चैत्यगृहं द्वितीयं ज्ञातव्यं। जिणपडिमा जिनप्रतिमा तृतीयोऽधिकारो बोधप्राभृते ज्ञातव्यः। दंसणं च दर्शनं च चतुर्थोऽधिकारो बोधकरो मन्तव्यः। जिणबिंबं जिन-

---

१ न इति ख. पुस्तके।

[illegible]

आपणा जन्म इंदिरा त्रिनयना ।
[illegible] संपूर्ण करीं ॥ ५ ॥

[illegible]

आपणा जन्म इंदिरा त्रि[illegible]

[illegible]

नरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रलक्षणेषु हृषीकेषु भवा ऐन्द्रियाः ते च ते विषयाः स्पर्शरसगन्धरूपशब्दलक्षणा यथासंभवं शक्तिरूपा व्यक्तिरूपाश्च भवन्ति। आयदणं जिणमग्गे आयतनं जिनमार्गे। णिद्दिट्ठं संजयं रूवं निर्दिष्टमागमे प्रतिपादितं सांयतं रूपं संयमिनः सचेतनं शरीरं।

मय राय दोस मोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्ता।
पंचमहव्वयधारा आयदणं महरिसी भणियं ॥ ६ ॥

मदो रागो द्वेषो मोहः क्रोधो लोभश्च यस्य आयत्ताः।
पंचमहाव्रतधरा आयतनं महर्षयो भणिताः ॥

मय राय दोस मोहो मदोऽष्टविधः। उक्तं च समन्तभद्रेण महाकविना–

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥ १ ॥

रागः प्रीतिलक्षणः। द्वेषोऽप्रीतिस्वभावः। मोहः कलत्रपुत्रमित्रादिस्नेहः। कोहो लोहो य जस्स आयत्ता क्रोधः रोषस्वभावः, लोभो मूर्छा परिग्रहग्रहणस्वभावः। चकारात्परवंचनप्रकृतिर्माया। एते पदार्था यस्य महर्षेः त्रिविधमुनिसमूहस्य आयत्ता निग्रहपरिग्रहनायवन्तो भवन्ति। पंचमहव्वयधारा पंचमहाव्रतधराः अहिंसासत्याचौर्यब्रह्मचर्याकिंचन्यानि रात्रिभोजनवर्जनषष्ठानि प्रतिपालयन्तः। आयदणं महरिसी भणियं आयतनं महर्षयो भणिताः। एतेऽभिगमनयोग्या भवन्ति दर्शनस्पर्शनवन्दनार्हाश्च भवन्ति। अन्ये लिङ्गिनो जटिनः पाशुपता एकदण्डत्रिदण्डधरा मिथ्यादृष्टिमुण्डिनः शिखिनः पक्षमूलाः भस्मोद्धूलना ममाच्छकाः सरजनामानो दिगम्बराभासकाः श्वेतपटमहासिपाना यङ्कुयाङ्किनः दीक्षिता अस्थदेवाः उद्दण्डागो होनार आर्यिका व्यासाः स्मार्तां जैना-

भासाश्च नाभिगम्या न दर्शनीया नाभिवादनीयाश्च भवन्ति। अथ के ते जैनाभासाः पूर्वमप्युक्ताः —

गोपुच्छिकः श्वेतवासो द्राविडो यापनीयकः।
निष्पिच्छश्चेति पंचैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः॥ १॥

एते मयूरपिच्छधरा अपि न वन्दनीयाः सैद्धान्तिकमिथ्यादृष्टित्वात्। तथा च बौद्धमते आयतनलक्षणं—

पंचेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पंच मानसं।
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि च॥ १॥

धर्मायतनं शरीरमिति।

सिद्धं जस्स सदत्थं विसुद्धझाणस्स णाणजुत्तस्स।
सिद्धायदणं सिद्धं मुणिवरवसहस्स मुणिदत्थं॥ ७॥

सिद्धं यस्य सदर्थं विशुद्धध्यानस्य ज्ञानयुक्तस्य।
सिद्धायतनं सिद्धं मुनिवरवृषभस्य ज्ञातार्थः॥

सिद्धं जस्स सदत्थं सिद्धं निष्पन्नमायातं यस्य मुनिवरवृषभस्य। किं सिद्धं, सदर्थं-निजात्मस्वरूपं। कथंभूतस्य, विसुद्धझाणस्स णाणजुत्तस्स विशुद्धध्यानस्य आर्तरौद्रध्यानद्वयरहितस्य धर्म्यशुक्लध्यानद्वयसहितस्य गणधरकेवलिनो मुण्डकेवलिनस्तीर्थकरपरमदेवकेवलिनो वा। कथंभूतस्यैतत्त्रयस्य, ज्ञानयुक्तस्य सकलविमलकेवलज्ञानयुक्तस्य। सिद्धायदणं सिद्धं सिद्धायतनं सिद्धं सिद्धायतनं प्रतिपादितं। कस्य, मुणिवरवसहस्स मुनिवरवृषभस्य मुनिवराणां मध्ये वृषभस्य श्रेष्ठस्य। कथंभूतमायतनं, मुणिदत्थं मुनिता यथावद्विज्ञाता अर्थाः षड्द्रव्याणि पंचास्तिकायाः सप्ततत्त्वानि नवपदार्थाः। जीवपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशा इति षड्द्रव्याणि। कालरहितानि षड्द्रव्याणि पंचास्तिकाया भवन्ति।

[illegible]नि [illegible] । तत तान्येव पुण्यपापद्वय-[illegible]नि [illegible] ।

आयदर्णं—[illegible] समाप्तम् । १ ।

अथेदानीं चैत्यगृहं निरूपयन्ति श्रीकुन्दकुन्दाचार्याः—

बुद्धं जं बोहंतो अप्पाणं चेइयाइं अण्णं च ।
पंचमहव्वयसुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं ॥ ८ ॥

बुद्धं यत् बोधयन् आत्मानं चैत्यानि अन्यत् च ।
पञ्चमहाव्रतशुद्धं ज्ञानमयं जानीहि चैत्यगृहम् ॥

बुद्धं जं बोहंतो बुद्धं [illegible] ज्ञानमयं, यत्, [illegible] । अप्पाणं चेइयाइं अण्णं च आत्मानं शुद्धबुद्धैक-[illegible] आत्मा चैत्यगृहं [illegible] । हे जीव! [illegible] चैत्यगृहं जानीहि न केवलं आत्मानं [illegible] आत्मानं चैत्य-[illegible] किन्तु चेइयाइं-चैत्यानि [illegible] चैत्यगृहं [illegible] हे जीव ! [illegible] जानीहि [illegible] चैत्यगृहं जानीहि किन्तु अण्णं च [illegible] । हे जीव ! [illegible] चैत्यगृहं, पंचमहव्वयसुद्धं [illegible] । [illegible] णाणमयं [illegible] । [illegible] मुक्ता [illegible] । [illegible] चैत्यगृहं न [illegible]

उभयतोऽपि भ्रष्टाः सर्वत्र भोजनभिक्षाग्राहका जिनधर्मविराधकाः पूर्वाचार्योपदिष्टजिनपूजादिकममानयन्तो न जाने कां निन्दितां गतिं गमिष्यन्ति।

चेइय बंधं मोक्खं दुक्खं सुक्खं च अप्पयंतस्स।
चेइहरं जिणमग्गे छक्कायहियंकरं भणियं ॥ ९ ॥

चैत्यं बन्धं मोक्षं दुःखं सुखं च अर्पयतः।
चैत्यगृहं जिनमार्गे षट्कायहितंकरं भणितम् ॥

चेइय बंधं मोक्खं चैत्यं चैत्यगृहं बन्धं अष्टकर्मबन्धं करोति। पापकर्मोपार्जनं कारयति। पुनश्च किं करोति, मोक्षं सर्वकर्मक्षयलक्षणं मोक्षं च करोति। दुक्खं सुक्खं च अप्पयंतस्स चैत्यं चैत्यगृहं दुःखं शारीरमानसागन्तुलक्षणं दुःखमसातं बन्धफलं करोति। सुक्खं च—सुखं च मोक्षफलं परमानन्दलक्षणं करोति। कस्यैतद्द्वयं करोति, अप्पयंतस्स-अर्पयतः पुरुषस्य। यः चैत्यगृहस्य दुष्टं करोति तस्य पापबन्ध उत्पद्यते, यश्चैत्यगृहस्य सुष्ठु करोति शोभनं विदधाति तस्य पुण्यमुत्पद्यते, तदाधारेण मोक्षो भवति, तत्फलेन यथासंख्यं दुःखं सुखं च भवतीति भावनीयं। चेइहरं जिणमग्गे चैत्यगृहं जिनमार्गे श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागशासने वर्तते एव को मिथ्यादृष्टिः पापीयांस्तल्लोपयति। यश्चैत्यं चैत्यगृहं न च मानयति स महापातकी भवति। अत एव चोक्तं गौतमेन भगवता—

यावन्ति जिनचैत्यानि विद्यन्ते भुवनत्रये।
तावन्ति सततं भक्त्या त्रिःपरीत्य नमाम्यहं ॥ १ ॥

छक्कायहियंकरं भणियं चैत्यगृहं षट्कायानां हितङ्करं स्वर्गमोक्षकारकं भणितं जिनागमे प्रतिपादितं। चैत्यगृहार्थं या मृत्तिका खन्यते या काष्ठेन्धनोपकारं चैत्यगृहस्य कृत्वा पुण्यमुपार्जयति तेन तु पार-

म्पर्येण स्वर्गमोक्षं लभते । यज्जलं चैत्यगृहस्य कार्यमायाति तद्वत्तदपि शुभभाग्भवति । यत्तेजोऽग्निः चैत्यगृहनिमित्तं प्रज्वाल्यते तदपि तद्वच्छुभं लभते । यो वायुश्चैत्यगृहनिमित्तं बहिःसंधुक्षणार्थं निगद्यते धूपाङ्गारहविःपाकार्थं चोत्क्षेपनिक्षेपणं प्राप्यते सोऽपि तद्वच्छुभं प्राप्नोति । यो वनस्पतिः पुष्पादिकश्चैत्यगृहपूजार्थं दूयते सोऽपि कायोगेन पुण्यमुपार्जयति तस्यापि शुभं भवति । उक्तं च—

पुल्लं पुकारइ माल्रियादि कहियां जिणहं चडेमि ।
धम्मी को वि न आवियउ कंपिय धरणि पडेसि ॥ १ ॥

अन्यच्च—

केणंय वाडी वाइया केणय पीलिय फुल्ल ।
केणय जिणहं चडावियाए तिण्णि वि समतुल्ल ॥ २ ॥

चेइयहरं—चैत्यगृहाधिकारः समाप्त इत्यर्थः । २ ।

सपराजंगमदेहा दंसणणाणेण शुद्धचरणाणं ।
णिग्गंथवीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा ॥ १० ॥

स्वपराजङ्गमदेहा दर्शनज्ञानेन शुद्धचरणानाम् ।
निर्ग्रन्थवीतरागा जिनमार्गे ईदृशी प्रतिमा ॥

सपराजंगमदेहा स्वकीया अर्हच्छासनसम्बन्धिनी । परा परकीयशासनसम्बन्धिनी प्रतिमा भवति । स्वकीयशासनस्य या प्रतिमा सा उपादेया ज्ञातव्या । या परकीया प्रतिमा सा हेया न वन्दनीया ।

---

१ तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति न्यायेन तत्रस्था जीवा ज्ञातव्याः पञ्चस्वपि कायेषु शुभोपार्जकाः पृथिव्यादीनां केवलानां जडत्वात्तदसंभवात् ।

२ फुल्लं पुकारयति माली कथं जिनस्य चडामि ।
धर्मी कोऽपि नाऽऽयातः कम्पयित्वा धरणौ पतिष्यामि ॥ १ ॥

३ केन च वाटिका उप्ता केन च चितानि पुष्पाणि ।
केन च जिनस्य चाटापितानि एते त्रयोऽपि समतुल्याः ॥ २ ॥

अथवा सपरा-स्वकीयशासनेऽपि या प्रतिमा परा उत्कृष्टा भवति सा वन्दनीया न तु अनुत्कृष्टा। का उत्कृष्टा का वाऽनुत्कृष्टा इति चेदुच्यन्ते या पंचजैनाभासैरञ्चलिकारहितापि नग्नमूर्तिरपि प्रतिष्ठिता भवति सा न वन्दनीया न चार्चनीया च। या तु जैनाभासरहितैः साक्षादार्हतसंघैः प्रतिष्ठिता चक्षुःस्तनादिषु विकाररहिता नन्दिसंघ-सेनसंघ-देवसंघ-सिंहसंघे समुत्पन्नस्ता सा वन्दनीया। तथा चोक्तं इन्द्रनन्दिना भट्टारकेण—

चतुःसंघसंहितायां जैनं बिम्बं प्रतिष्ठितं।
नमेन्नापरसंघाया यतो न्यासविपर्ययः ॥ १ ॥
चतुःसंघ्यां नरो यस्तु विदध्याद्भेदभावनां।
स सम्यग्दर्शनातीतः संसारे संसरत्यरं ॥ २॥

न्यासविपर्ययस्तु गुरुवचनादेवावगन्तव्यः। तथा चोक्तं श्रीवीरनन्दिशिष्यैः श्रीपद्मनन्दिभिराचार्यैः—

बिम्बादलोन्नतियवोन्नतिमेव भक्त्या
ये कारयन्ति जिनसद्म जिनाकृतिं च।
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता
वक्तुं परस्य किमु कारयितुं द्वयस्य ॥ १ ॥

ये तु प्रतिमायां वस्त्राभरणादि कुर्वन्ति प्रतिष्ठावेलायां दधिसक्तुमुखे क्षिपन्ति तन्मतनिरासार्थं श्रीगौतमेन महामुनिना पृथ्वीवृत्तमुक्तं—

निराभरणभासुरं विगतरागवेगोदया-
न्निरम्बरमनोहरं प्रकृतिरूपनिर्दोषतः।
निरायुधसुनिर्भयं विगतहिंस्यहिंसाक्रमा-
न्निरामिषसुतृप्तिमद्विविधवेदनानां क्षयात् ॥ १ ॥
इक्कहि फुल्लहिं माटिदेइ जु सुरनररिद्धडी।
पदी करइ कुसाटियउ मोलिम जिणवरतणी ॥ १ ॥

चलणहिं कुगइं कुगमण
णीर फुडा भराणु ।
जिणव जिणव जिणवर गुणिगण
णिरच णिरच दुरियहं मारु ॥ २ ॥

तथा चोक्तं समन्तभद्रस्वामिना मुनिना आर्याद्वयं—

देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणं ।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यं ॥ १ ॥
अर्हच्चरणसपर्यां महानुभावं महात्मनामवदत् ।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥ २ ॥

अजंगमदेहा—सुवर्णमरकतमणिघटिता, स्फटिकमणिघटिता, इन्द्रनीलमणिनिर्मिता, पद्मरागमणिरचिता, विद्रुमरचिता, चन्दनकाष्ठानुघ्टिता वा अजंगमा प्रतिमा कथ्यते । ईदृशी प्रतिमा केषां भवति, **दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं** दर्शनेन ज्ञानेन निर्मलचारित्राणां तीर्थंकरपरमदेवानां । कथंभूता प्रतिमा, **णिग्गंथवीयराया** निर्ग्रन्था वस्त्राभरणजटामुकुटायुधरहिता, वीतरागा रागरहितभावेऽवस्थिता । **जिणमग्गे एरिसा पडिमा** जिनमार्गे सर्वज्ञवीतरागमते ईदृशी प्रतिमा भवति ।

जं चरदि सुद्धचरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं ।
सा होइ वंदणीया णिग्गंथा संजदा पडिमा ॥ ११ ॥

यः चरति शुद्धचरणं जानाति पश्यति शुद्धसम्यक्त्वम् ।
सा भवति वन्दनीया निर्ग्रन्था संयता प्रतिमा ॥

जं चरदि सुद्धचरणं यो मुनिश्चरति प्रतिपालयति । किं, शुद्धचरणं निरतिचारचारित्रं । **जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं** जिनश्रुतं जानाति स्वयोग्यं वस्तु पश्यति च । शुद्धं पंचविंशतिदोषरहितं यस्य सूरेः सम्यक्त्वं भवति । **सा होइ वंदणीया** सा भवति वन्दनीया नमस्करणीया । **णिग्गंथा संजदा पडिमा** निर्ग्रन्था चतुर्विंशतिपरिग्रहरहिता

संयतानां मुनीनां दिगम्बराणां प्रतिमा आकारः, जंगमा प्रतिमा मुनयो भवन्तीत्यर्थः।

दंसणअणंतणाणं अणंतवीरिय अणंतसुक्खा य।
सासयसुक्ख अदेहा मुक्का कम्मट्ठबंधेहिं ॥ १२ ॥

दर्शनमनन्तज्ञानं अनन्तवीर्या अनन्तसुखाः च।
शाश्वतसुखा अदेहा मुक्ताः कर्माष्टबन्धैः ॥

दंसणअणंतणाणं दर्शनमनन्तं केवलदर्शनं सत्तावलोकनमात्रलक्षणं। काकाक्षिगोलकन्यायेनानन्तशब्द उभयत्राभिसम्बध्यते तेनानन्तज्ञानं वस्तुयथावस्वरूपग्राहकं केवलज्ञानं लोकालोकव्यापकं द्वयं। तद्योगाद्दर्शनानन्तज्ञानं अनन्तदर्शनमनन्तज्ञानं च सिद्धा भवन्ति। उक्तं चाशाधरेण महाकविना—

सत्तालोचनमात्रमित्यपि निराकारं मतं दर्शनं
साकारं च विशेषगोचरमिति ज्ञानं प्रवादीच्छया।
ते नेत्रे क्रमवर्तिनी सरजसां प्रादेशिके सर्वतः
स्फूर्जन्ती युगपत्पुनर्विरजसां युष्माकमङ्गातिगाः ॥१॥

तथा च नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिना चोक्तं—

दंसणपुव्वं णाणं छदुमत्थाणं ण दोण्णि उवओगा।
जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि ॥ १ ॥

अणंतवीरिय अणंतसुक्खा य अनन्तवीर्याश्च सिद्धा भवन्ति लोकालोकस्वरूपावलोकने ज्ञातृत्वे च या शक्तिस्तदनन्तवीर्यं ज्ञातव्यं। अनन्तसौख्याश्च सिद्धा भवन्ति सर्ववस्तुस्वरूपपरिज्ञाने सति तेषां सुखमुत्पद्यते। तथा चोक्तं नेमिचन्द्रेण त्रिलोकसारग्रन्थे वैमानिकाधिकारपर्यन्ते—

ऐयं सत्थं सव्वं सत्थं वा सम्ममेत्थ जाणंता ।
तिव्वं तुस्संति णरा किं ण समत्थत्थतच्चण्हा ॥ १ ॥
चक्किकुरुफणिसुरेंदेसहमिंदे जं सुहं तिकालभवं ।
तत्तो अणंतगुणिदं सिद्धाणं खणसुहं होदि ॥ २ ॥

सासयसुक्ख अदेहा शाश्वतसुखा अविनश्वरसुखाः, अदेहा देहरहिता ज्ञानमयमूर्तय इत्यर्थः । मुक्का कम्मट्ठबंधेहिं मुक्ताः कर्माष्टबन्धनैः ।

निरुवममचलमखोहा निम्मियजंगमेण रूवेण ।
सिद्धट्ठाणम्मि ठिया वोसरपडिमा धुवा सिद्धा ॥ १३ ॥

निरुपमा अचला अक्षोभा निर्मापिता अजङ्गमेन रूपेण ।
सिद्धस्थाने स्थिता व्युत्सर्गप्रतिमा ध्रुवाः सिद्धाः ॥

निरुवममचलमखोहा निरुपमा उपमारहिता । ईदृशः पुमान् कोऽपि नास्ति येन सिद्धा उपमीयन्ते । अचला स्वस्थानादामुरीकोटिलभं भागमपि न परतो गच्छन्ति । अखोहा-अक्षोभा न क्षोभं प्राप्नुवन्ति । उक्तं च समन्तभद्रेणोत्सर्पिणीकाले आगामिनि भविष्यत्तीर्थकरपरमदेवेन—

काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या ।
उत्पातोऽपि यदि स्यात्त्रैलोक्यसंभ्रान्तिकरणपटुः ॥ १ ॥

निम्मवियाजंगमेण रूवेण स्थिररूपेण निर्मापिता. संसारान्त्यक्षणेन निष्पादिता एकसमयेन त्रैलोक्यशिखरं प्राप्ता धर्मास्तिकायाभा-

---

१ एवं शास्त्रं सर्वं शास्त्रं वा सम्यगत्र जानन्तः ।
तीव्रं तुष्यन्ति नराः किं न समस्तार्थतत्त्वज्ञाः ॥ १ ॥
चक्रिकुरुफणिसुरेन्द्रेषु अहमिन्द्रे यत्सुखं त्रिकालभवं ।
ततोऽनन्तगुणितं सिद्धानां क्षणसुखं भवति ॥ २ ॥
२ सर्वार्थसिद्धिमभागतमं ।

चापरतो न गच्छन्ति, अजंगमेन रूपेण स्थिररूपेण तिष्ठन्ति निश्चय स्थिरप्रतिमाभिधानाः । **सिद्धट्ठाणम्मि ठिया** सिद्धानां मुक्तात्मनां स्थाने त्रिभुवनाग्रे तनुवातवलये स्थिताः—मुक्तिशिलामीषदूनगव्यूतिमधो मुक्त्वा आकाशे निराधाराः स्थिताः । **वोसरपडिमा धुवा सिद्धा** व्युत्सर्गप्रतिमाः कायोत्सर्गेण पद्मासनेन वा स्थिता ध्रुवाः शाश्वताः सिद्धाः प्रतिमा भवन्ति । तेऽपि वन्दनीया भवन्ति ।

पडिमा—प्रतिमाधिकारस्तृतीयः समाप्तः । ३ ।

अथेदानीं गाथाद्वयेन दर्शनाधिकारं कथयन्ति श्रीकुन्दकुन्दाचार्याः—

दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तं संयमं सुधम्मं च ।
णिग्गंथं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं ॥ १४ ॥

दर्शयति मोक्षमार्गं सम्यक्त्वं संयमं सुधर्मं च ।
निर्ग्रन्थं ज्ञानमयं जिनमार्गे दर्शनं भणितम् ॥

दंसेइ मोक्खमग्गं दर्शयति प्रकटयति मोक्षमार्गं सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्रलक्षणं यत्तद्दर्शनं । "कृत्ययुटोऽन्यत्रापीति" वचनात्कर्तरि युट्प्रत्ययः । कोऽसौ मोक्षमार्गो यं दर्शनं कर्तृतया दर्शयति, **सम्मत्तं** सम्यक्त्वं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं । तथा **संयमं** चारित्रं पंचमहाव्रतपंचसमिति-त्रिगुप्तिलक्षणं दर्शयति । **सुधर्मं** चानशनादि द्वादशविधं तपश्च दर्शयति । कथंभूतं दर्शनं, **णिग्गंथं** बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितं । भूयोऽपि कथंभूतं दर्शनं, **णाणमयं** सम्यग्ज्ञानेन निर्वृतं । **जिणमग्गे दंसणं भणियं** जिनमार्गे सर्वज्ञवीतरागप्रणीतेपादिते मार्गे दर्शनं सम्यक्त्वरूपं भणितं यतिश्रावकाचारं प्रतिपादितं, अविरलदृढतराचारभूतं च ।

जह फुल्लं गंधमयं भवदि हु खीरं स घियमयं चावि ।
तह दंसणं हि सम्मं णाणमयं होइ रूवत्थं ॥ १५ ॥

यथा पुष्पं गन्धमयं भवति स्फुटं क्षीरं तद्घृतमयं चापि ।
तथा दर्शनं हि सम्यग्ज्ञानमयं भवति रूपस्थम् ॥

जह फुल्लं गंधमयं यथा पुष्पं गन्धमयं भवति । **भवदि हु खीरं स घियमयं चावि** भवति हु–स्फुटं क्षीरं दुग्धं, स–तत् घृतमयं घृतयुक्तं चापि । अपिशब्दादन्येऽपि कनकपाषाणकाष्ठाग्निप्रभृतयो दृष्टान्ता ज्ञातव्या । **तह दंसणं हि सम्मं** तथा दर्शनं सम्यक्त्वं हि निश्चयेन सम्यग्ज्ञानमय भवति । रूवत्थं यतिश्रावकासंयतसद्दृष्टिमूर्तिस्थितं दर्शनं ज्ञातव्यमित्यर्थः ।

दंसणं–दर्शनाधिकार एकादशाधिकारेषु बोधप्राभृते चतुर्थः समाप्तः ।४।

अथेदानीं जिनबिम्बस्वरूपं निरूपयन्ति श्रीगृद्धपिच्छाचार्या भगवन्तः–

जिणबिंबं णाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च ।
जं देइ दिक्खसिक्खा कम्मक्खयकारणे सुद्धा ॥१६॥

जिनबिम्बं ज्ञानमयं संयमशुद्धं सुवीतरागं च ।
यद् ददाति दीक्षाशिक्षे कर्मक्षयकारणे शुद्धे ।

जिणबिंबं णाणमयं जिनस्य बिम्बमाकारो ज्ञानमयं मतिज्ञानश्रुतज्ञानयथासंभवावधिज्ञानयथासंभवमनःपर्ययज्ञानमयं भवति तृतीयः परमेष्ठी आचार्यसंज्ञको जिनबिम्बं ज्ञातव्य इत्यर्थः । **संजमसुद्धं सुवीयरायं च** सद्गुरुलक्षणं जिनबिम्बं कथंभूतं भवतीत्याह–संयमशुद्धं संयमेन निरतिचारचारित्रेण शुद्धं निर्मलं, सुष्ठु अतिशयेन वीतरागं वीतः क्षयं गतो रागः प्रीतिलक्षणो यस्मादिति वीतरागं । अज क्षेपणे इति धातोः प्रयोगात् । “ अजेर्वी ” इति वचनादजेर्वीरादेशः । चकारात्स्त्र्यादिकालेपना निषिद्धा च जिनबिम्बं भवति । **जं देइ दिक्खसिक्खा** यज्जिनबिम्बमाचार्यः ददाति दीक्षां व्रतारोपणलक्षणां, शिक्षां च द्वादशानुप्रेक्षालक्षणां ददाति । **कम्मक्खयकारणे सुद्धा**

यकारणे शुद्धं निर्मलं। जीवन्मुक्तजिनवदाचार्यो माननीय इति
र्थः। उक्तं च सोमदेवेन सूरिणा--

ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे चातुर्वर्ण्यपुरःसरः।
सूरिर्देव इवाराध्यः संसाराब्धितरण्डकः॥ १॥

तस्स य करह पणामं सव्वं पुज्जं च विणय वच्छल्लं।
जस्स य दंसण णाणं अत्थि धुवं चेयणाभावो॥ १७॥

तस्य च कुरुत प्रणामं सर्वां पूजां विनयं वात्सल्यं।
यस्य च दर्शनं ज्ञानं, अस्ति ध्रुवं चेतनाभावः॥

तस्स य करह पणामं तस्य च जिनबिम्बस्य जिनबिम्बमूर्तेराचा-
प्रणामं नमस्कारं पंचाङ्गमष्टाङ्गं वा कुरुत यूयं हे भव्यजीवाः!,
राद्युपाध्यायस्य सर्वसाधोश्च प्रणामं कुरुत तयोरपि जिनबिम्बत्व-
त्वात्। सव्वं पुज्जं च विणय वच्छल्लं सर्वां पूजामष्ट-
मर्चनं च कुरुत यूयमिति, तथा विनयं हस्तयोटनं पादपतनं सन्मु-
मनं च कुरुत, वात्सल्यं भोजनं पानं पादमर्दनं शुद्धतैलादिनाङ्गा-
ङ्गनं तत्प्रक्षालनं चेत्यादिकं कर्म सर्वं तीर्थंकरनामकर्मोपार्जनहे-
तुं वैयावृत्यं कुरुत यूयं। उक्तं च समन्तभद्रेण महामुनिना—

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनां॥ १॥

तथा चकारात्पाषाणादिघटितस्य जिनबिम्बस्य पंचामृतैः स्नपनं,
विधैः पूजाद्रव्यैश्च पूजनं कुरुत यूयं। वंदनां भक्तिं च कुरुत। यदि
भूतं जिनबिम्बं न मानयिष्यथ गृहस्था अपि सन्तस्तदा कुंभीपा-
दिनरकादौ पतिष्यथ यूयं। तथा चोक्तं सोमदेवेन स्वामिना —

अपूजयित्वा यो देवान् मुनीननुपचर्य च।
यो भुंजीत गृहस्थः सन् स भुंजीत परं तमः॥ १॥

परं तम इति कोऽर्थः कुंभीनरकः, सप्तमे नरके पंच बिलानि तेषां नामानि यथा-रौरवमहारौरवासिपत्रकूटशाल्मलीकुंभीपाका इति। सप्तमनरके यानि चतुर्दिक्षु चत्वारि बिलानि वर्तन्ते तान्यर्धरज्जुप्रमाणानि सन्ति तेषां मध्ये यत्कुंभीपाकसंज्ञकं पंचमं बिलमस्ति तदेकयोजनलक्षप्रमाणं वर्तते, पंचभिरपि रज्जुरेका भूमी रुद्धा वर्तते। **जस्स य दंसण णाणं** यस्य पूर्वोक्तलक्षणस्य जिनबिंबस्य दर्शनं ज्ञानं च वर्तते। **अत्थि धुवं चेयणाभावो** अस्ति विद्यते ध्रुवं निश्चयेन चेतनाभाव आत्मस्वरूप स्थापनान्यासेनार्पीति तात्पर्यम्।

तववयगुणेहिं सुद्धो जाणदि पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं।
अरहंतमुद्द एसा दायारी दिक्खसिक्खा य ॥ १८ ॥

तपोव्रतगुणैः शुद्धः जानाति पश्यति शुद्धसम्यक्त्वम्।
अर्हन्मुद्रा एषा दात्री दीक्षाशिक्षाणां च ॥

तववयगुणेहिं सुद्धो तपोभिर्द्वादशभेदैः, व्रतैरहिंसासत्यास्तेयब्रह्मापरिग्रहैः पंचभिः, गुणैः पूर्वोक्तलक्षणैश्चतुरशीतिलक्षैः शुद्धो निष्कलङ्कः। **जाणदि पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं** जानाति सम्यग्ज्ञानवान्, पश्यति स्वरूपं वेत्ति कस्य शुद्धसम्यक्त्वस्य पंचविंशतिमलरहितस्य। **अरहंतमुद्द एसा** श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागस्य मुद्रा आकार एषा धर्माचार्यलक्षणा पाषाणघटितबिंबस्वरूपा यंत्रमंत्राराधनगम्या च जिनबिम्बं भवति। **दायारी दिक्खसिक्खा य** कथंभूता मुद्रा, दात्री दायका कासां, दीक्षाशिक्षाणां। चकाराद्यात्राप्रतिष्ठादिकर्मणां च प्रवर्तिका।

जिणबिंबं-इति श्रीबोधप्राभृते जिनबिम्बाधिकारः पंचमः समाप्तः॥५॥

अथेदानीमेकया गाथया जिनमुद्रां निरूपयन्ति श्रीमदेलाचार्याः—

दढसंजममुद्दाए इंदियमुद्दा कसायदढमुद्दा।
मुद्दा इह णाणाए जिणमुद्दा एरिसा भणिया ॥ १९ ॥

दृढसंयममुद्रया इन्द्रियमुद्रा कषायदृढमुद्रा ।
मुद्रा इह ज्ञानेन जिनमुद्रा ईदृशी भणिता ॥

दढसंजममुद्दाए दृढया वज्रघटितप्रायया संयममुद्रया षड्जीवनिकायरक्षणलक्षणया पञ्चेन्द्रियसंकोचलक्षणया च मुद्रया वेषेण जिनमुद्रा भवति । इंदियमुद्दा कसायदढमुद्दा इन्द्रियाणां स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणां द्रव्येन्द्रियाणां यत्र मुद्रणं कूर्मवत्करचरणसंकोचनमिन्द्रियमुद्रोच्यते सा जिनमुद्रा भवति । कसायदढमुद्दा-कषायाणां दृढं गाढं मुद्रणं कषायदृढमुद्रा । मुद्दा इह णाणाए मुद्रा इह जिनशासने ज्ञानेन भवति, अहर्निशं पठनपाठनादिना जिनमुद्रा भवति । जिणमुद्दा एरिसा भणिया जिनमुद्रेदृशी भणिता । मुनीनामाकारो जिनमुद्रा । ब्रह्मचारिणामाकारश्चक्रवर्तिमुद्रा ते उभये अपि माननीया (ये) । यदि कश्चिद्दुरभिनिवेशेन तां न मानयति स पुमान् जिनमुद्राद्रोही विशिष्टैरदर्शनीय इति भावार्थः । शिरःकूर्चकरलोचो मयूरपिच्छधरः कमण्डलुकरोऽधःकेशान्वितो इति जिनमुद्रा सा मान्यते । तदुक्तमिन्द्रनन्दिना प्रतिष्ठापाठेन—

मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यान्निर्मुद्रो नैव मान्यते ।
राजमुद्राधरोऽत्यन्तहीनवच्छास्त्रनिर्णयः ॥ १ ॥

जिनमुद्रा-इति श्रीबोधप्राभृते जिनमुद्राधिकारः षष्ठः समाप्तः । ६ ।

अथेदानीं ज्ञानाधिकारः प्रारभ्यते—

संजमसंजुत्तस्स य सुझाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स ।
णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं ॥ २० ॥

संयमसंयुक्तस्य च सुध्यानयोग्यस्य मोक्षमार्गस्य ।
ज्ञानेन लभते लक्ष्यं तस्मात् ज्ञानं च ज्ञातव्यम् ॥

संजमसंजुत्तस्स य संयमेनेन्द्रियजयप्राणरक्षणलक्षणेन संयुक्तस्य सहितस्य । सुझाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स सुष्ठु ध्यानयोगस्य आर्तरौद्रध्यानद्वयरहितस्य ध्यानस्य धर्म्यध्यानशुक्लध्यानद्वयस्य योगेन संयोगेन सहितस्य, एवं विशेषणद्वयविशिष्टस्य मोक्षमार्गस्य सम्बन्धिनेन। णाणेण लहदि लक्खं ज्ञानेन कारणभूतेन लभते, किं कर्मतापन्नं लक्ष्यं निजात्मस्वरूपं । तम्हा णाणं च णायव्वं तस्मात्कारणाज्ज्ञानं च ज्ञातव्यं, न केवलमायतनादिषट्कं ज्ञातव्यं किन्तु ज्ञानं च ज्ञातव्यं । चशब्दः परस्परसमुच्चयार्थः ।

जह ण वि लहदि हु लक्खं रहिओ कंडस्स वेज्झयविहीणो ।
तह ण वि लक्खदि लक्खं अण्णाणी मोक्खमग्गस्स ॥२१॥

यथा नापि लभते स्फुटं लक्ष्यं रहितः काण्डस्य वेधकविहीनः ।
तथा नापि लक्षयति लक्ष्यं अज्ञानी मोक्षमार्गस्य ॥

जह ण वि लहदि हु लक्खं यथा येन प्रकारेण नापि नैव लभते, हु स्फुटं, लक्ष्यं वेध्यं । कोऽसौ वेध्यं न लभते, रहिओ कंडस्स वेज्झयविहीणो रहितोऽभ्यासरहितः, काण्डस्य बाणस्य, वेधकविहीनो[illegible] पुमान् । तह ण वि लक्खदि लक्खं तथा तेन प्रकारेण नापि लक्षयति जानाति लक्ष्यं परमात्मानं । अण्णाणी मोक्खमग्गस्स अज्ञानी ज्ञानरहितः पुमान् मोक्षमार्गस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूपस्य लक्ष्यं निजात्मस्वरूपं न लक्षयति ।

णाणं पुरिसस्स हवदि लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो ।
णाणेण लहदि लक्खं लक्खंतो मोक्खमग्गस्स ॥ २२ ॥

ज्ञानं पुरुषस्य भवति लभते सुपुरुषोऽपि विनयसंयुक्तः ।
ज्ञानेन लभते लक्ष्यं लक्षयन् मोक्षमार्गस्य ॥

णं पुरिसस्स हवदि ज्ञानं श्रुतज्ञानं पुरुषस्यासन्नभव्यजीवस्य
सन्तिष्ठते। लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो लभते प्राप्नोति
सुपुरुषोऽप्यासन्नभव्यजीवः। अपिशब्दाद्ब्राह्मी-सुन्दरी-राजिमति-
नादिवत् एकादशाङ्गानि लभन्ते, मृगलोचना अपि स्त्रीलिंगं छित्वा
सुरे भुक्त्वा राजकुलादिषूत्पद्य मोक्षं तृतीयेऽपि भवे लभन्ते। पुरु-
तु सकलं श्रुतं लब्ध्वा तद्भवेऽपि मोक्षं यान्ति। ईदृशं ज्ञानं कः
प्नोति? विणयसंजुत्तो—विनयसंयुक्तो गुरुचरणरेणुरंजितभालस्थल इति
भावार्थः। णाणेण लहदि लक्खं ज्ञानेन श्रुतज्ञानेन लभते लक्ष्यं
निजात्मस्वरूपं। लक्खंतो मोक्खमग्गस्स लक्षयन् ध्यायन् लक्ष्यं
लभते, कस्य लक्ष्यं-मोक्षमार्गस्य रत्नत्रयस्य।

मइधणुहं जस्स थिरं सुदगुण वाणा सुअत्थि रयणत्तं।
परमत्थबद्धलक्खो ण वि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स ॥२३॥

मतिधनुर्यस्य स्थिरं श्रुतगुणो बाणाः सुसन्ति रत्नत्रयम्।
परमार्थबद्धलक्ष्यः नापि स्खलति मोक्षमार्गस्य ॥

मइधणुहं जस्स थिरं मतिर्मतिज्ञानं यस्य मुनेर्धनुश्चापं स्थिरं
निश्चलं। सुदगुण श्रुतज्ञानं गुणः प्रत्यंचा। वाणा सुअत्थि रयणत्तं
बाणाः शराः सुष्ठु अतिशयवन्तः सन्ति विद्यन्ते, किं? रत्नत्रयं भेदाभेद-
लक्षणं रत्नत्रयं। परमत्थबद्धलक्खो परमार्थे निजात्मस्वरूपे बद्धलक्ष्यः
निश्चलीकृतात्मस्वरूपो मुनिः। ण वि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स न
स्खलति मोक्षमार्गस्य लक्ष्ये इति सम्बन्धः। तथा चोक्तं श्रीवीरनन्दि-
शिष्येण पद्मनन्दिनाचार्येण—

प्रेरिताः श्रुतगुणेन शेमुषीकार्मुकेण शरवद्दृगादयः।
वाह्यवेध्यविषये कृतश्रमाश्छिद्रणे प्रहतकर्मशात्रवः ॥१॥

तथा च सोमदेवस्वामिनापि श्रुतज्ञानस्य गुणस्तुतिकृता—

भवप्रत्ययतिरश्चां मतिरियं बोधोऽवधिः सावधिः ।
　साक्षार्थैः क्वचिदेव योगिनि स च स्वल्पो मनःपर्ययः ॥
दुष्प्राप्यं पुनरद्य केवलमिदं ज्योतिःकथागोचरं ।
　माहात्म्यं निखिलार्थगे तु सुलभे किं वर्णयामः श्रुते ॥१॥

णाणं—इति श्रीबोधप्राभृते ज्ञानाधिकारः सप्तमः समाप्तः । ७ ।

अथेदानीं गाथाद्वयेन देवस्वरूपं निरूपयन्ति श्रीकुन्दकुन्दाचार्याः—

सो देवो जो अत्थं धम्मं कामं सुदेइ णाणं च ।
सो देइ जस्स अत्थि हु अत्थो धम्मो य पव्वज्जा ॥२४॥

स देवो योऽर्थं धर्मं कामं सुददाति ज्ञानं च ।
स ददाति यस्य अस्ति तु अर्थः धर्मश्च प्रव्रज्या ॥

सो देवो जो अत्थं स देवो योऽर्थं धनं निधिरत्नादिकं ददाति । धम्मं कामं सुदेइ णाणं च धर्मं चारित्रलक्षणं दयालक्षणं वस्तुस्वभावलक्षणं [illegible] सुददाति सुष्ठु अतिशयेन ददाति । [illegible] ददाति स देवः । सुदु ददाति ज्ञानं च [illegible] ददाति । सो देइ जस्स अत्थि हु स ददाति यस्य पुरुषस्य वस्तु वर्तते [illegible] समर्थः । अत्थो धम्मो य पव्वज्जा यस्य [illegible] ददाति, यस्य धर्मो वर्तते स धर्मं ददाति, यस्य प्रव्रज्या दीक्षा वर्तते स [illegible] प्रव्रज्यां ददाति, यस्य [illegible] ददाति । उक्तं च गुणभद्रेण [illegible]—

[illegible]
[illegible] श्रुतेः ।

सा चाप्तात् स च सर्वदोषरहितो रागादयस्तेऽप्यत-
स्तं युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखदं सन्तः श्रयन्तु श्रियै ॥ १ ॥

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता ।
देवो ववगयमोहो उदयकरो भव्वजीवाणं ॥ २५ ॥

धर्मो दयाविशुद्धः प्रव्रज्या सर्वसंगपरित्यक्ता ।
देवो व्यपगतमोहः उदयकरो भव्यजीवानाम् ॥

धम्मो दयाविसुद्धो धर्मो दयया विशुद्धो निर्मलः, यो दयां कुर्वन्नपि चर्मजलं पिबति, अजिनतैलमास्वादयति, कुतुपघृतं भुंक्ते, भूतग्रामनमति तस्य पुंसो धर्मो विशुद्धो न भवति स यतिर्वेषधार्यपि म्लेच्छो ज्ञातव्यः । **पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता** प्रव्रज्या सर्वसंगपरित्यक्ता भवति यो दण्डं करे करोति कम्बलमुपदधाति शंखकर्नारीप्रमुखमनश्नाति स कथं प्रव्रज्यावान् भवति । **देवो ववगयमोहो** देवो व्यपगतमोहः, यो देवोऽर्धांगे वनितां दधाति, यो देवो हृदयस्थले लक्ष्मीमुपवेशयति, यो देवो दंडं धरति, यो देवो वेश्यां चोपभुंक्ते, धर्षितदिता भवति स कथं देवः । **उदयकरो भव्वजीवाणं** भव्यजीवानामुदयकरः तीर्थंकरनामपुण्यदायकः स देवो ज्ञातव्यः ।

एवं—इति श्रीबोधप्राभृते देवाधिकारोऽष्टमः समाप्तः । ८ ।

अथेदानीं गाथाद्वयेन तीर्थं निरूपयन्ति श्रीपद्मनन्दिदेवाः—

वयसम्मत्तविसुद्धे पंचिंदियसंजदे णिरावेक्खे ।
ण्हाएउ मुणी तित्थे दिक्खासिक्खासुण्हाणेण ॥२६॥

व्रतसम्यक्त्वविशुद्धे पञ्चेन्द्रियसंयते निरपेक्षे ।
स्नातु मुनिः तीर्थे दीक्षाशिक्षासुस्नानेन ॥

वयसम्मत्तविसुद्धे व्रतैर्हिंसासत्यास्तेयब्रह्मापरिग्रहलक्षणैः पंचभिर्महाव्रतैः, सम्यक्त्वेन च पंचविंशतिमलरहितेन तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणेन, विशुद्धे विशेषेण निर्मले चर्मजलाद्यास्वादनरहिततयाऽकल्मषे तीर्थे। **पंचिंदियसंजदे णिरावेक्खे** पंचेन्द्रियसंयते पंचेन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रलक्षणानि संयतानि बद्धानि स्पर्शरसगन्धरूपशब्दलक्षणपंचविषयरहितानि यस्मिंस्तीर्थे तत्तथोक्तस्तस्मिन् पंचेन्द्रियसंयते। पुनः कथंभूते तीर्थे, निरपेक्षे बाह्यवस्त्वपेक्षारहिते आकांक्षारहिते मायामिथ्यानिदानशल्यत्रयविवर्जिते। **ण्हाएउ मुणी तित्थे** स्नातु स्नानं करोतु–अष्टकर्ममलकलङ्कप्रक्षालनं करोतु–केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयसंयुक्तो भवतु, कोऽसौ मुनिः प्रत्यक्षपरोक्षज्ञानसंयुक्तो महात्मा महानुभावो जीवः, तीर्थे शुद्धबुद्धैकस्वभावलक्षणे निजात्मस्वरूपे संसारसमुद्रतारणसमर्थे तीर्थे स्नातु विशुद्धो भवतु। केन कृत्वा स्नातु, **दिक्खासिक्खासुण्हाणेण** दीक्षा पंचमहाव्रतपंचसमितिपंचेन्द्रियरोधलोचषडावश्यकक्रियादयोऽष्टाविंशतिमूलगुणा उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि दशलाक्षणिको धर्मोऽष्टादशशीलसहस्राणि चतुरशीतिलक्षगुणास्त्रयोदशविधं चारित्रं द्वादशविधं तपश्चेति सकलसम्पूर्णं दीक्षा भवति, स्त्रीप्रसंगवर्जनं द्वादशानुप्रेक्षाचिन्तनं शिक्षा जिननाथस्य, सुस्नानेन कर्मकिट्टिकाष्णकिट्टिनिर्लोपनलक्षणेन स्नानेन स्नातु।

जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं।
तं तित्थं जिणमग्गे हवेइ जदि संतिभावेण ॥२७॥

यन्निर्मलं सुधर्मं सम्यक्त्वं संयमः तपः ज्ञानं।
तत्तीर्थं जिनमार्गे भवति यदि शान्तभावेन ॥

जं णिम्मलं सुधम्मं यन्निर्मलं निरतिचारं सुधर्मं सुष्ठु शोभनं चारित्रं तत्तीर्थं ज्ञातव्यं। **सम्मत्तं संजमं तवं णाणं** सम्यक्त्वं तत्त्वार्थ-

ध्यानरक्षणं तीर्थं भवति । संयम इन्द्रियाणां मनसश्च संकोचनं पृथि-
व्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायत्रसजीवरक्षागमविराधनं । इन्द्रियादिपंचे-
न्द्रियत्रसजीवदयाकरणं कथंचित्प्रमाददोषेण विराधनायां शास्त्रोक्तप्राय-
श्चित्तकरणं संयम उच्यते सोऽपि संसारसमुद्रतारकत्वात्तीर्थं भवति ।
तप इच्छानिरोधलक्षणं द्वादशविधं तत्त्वार्थमोक्षशास्त्रनवमाध्याये विस्त-
रेण निरूपितत्वाज्ज्ञातव्यं । ज्ञानं च तीर्थं भवति । **तं तित्थं जिणमग्गे**
तज्जगत्प्रसिद्धं निश्चयतीर्थप्राप्तिकारणं मुक्तमुनिपादस्पृष्टं तीर्थं ऊर्जयन्त-
शत्रुंजयलाटदेशपावागिरि आभीरदेशतुंगीगिरिनासिक्यनगरसमीपवर्तिग-
जध्वजगजपंथसिद्धकूटतारापुरकैलासाष्टापदचम्पापुरीपावापुरवाणारसीनग-
रक्षेत्रहस्तिनागपत्तनसम्मेदपर्वतसह्याचलमेढ्रगिरिहिमाचलक्रोंगिरिअयो-
ध्याकौशाम्बीविपुलगिरिवैभारगिरिरूप्यगिरिसुवर्णगिरिरत्नगिरिशौर्यपुरचू-
लाचलनर्मदातटद्रोणगिरिकुन्थुगिरिकोटिकशिलागिरिजम्बूकवनचलनान-
दीतटतीर्थंकरपंचकल्याणस्थानानि चैत्यादिमार्गे यानि तीर्थानि वर्तन्ते
तानि कर्मक्षयकारणानि वन्दनीयानि ये न वन्दन्ते ते मिथ्यादृष्टयो
ज्ञातव्याः । तीर्थभ्रमणं विनाऽनन्ते संसारे भ्रमिष्यन्ति—अनुमोदनाच्च
ते तरन्ति । उक्तं च पूज्यपादेन भगवता—

इक्षोर्विकाररसपृक्तगुणेन लोके
पिष्टोऽधिकं मधुरतामुपयाति यद्वत् ।
तद्वच्च पुण्यपुरुषैरुषितानि नित्यं
स्थानानि तानि जगतामिह पावनानि ॥ १ ॥

जिनमार्गबाह्यं यत्तीर्थं जलस्थानादिकं तन्न माननीयं तत्किं ? गंगायमु-
नासरयूनर्मदातापीभागीरथीगोमतीकपीवतीरक्तस्यागंभीराकालतोयाकौशिकी-
कालमहीताम्राऽरुणानिपुरालौहित्यसमुद्रकन्धुकाशोणनदवीणामेखलोदु-
म्बरीपनसाताम्रसाभ्रमृशाशुक्तिमतीपंपासरःउत्तवतीचित्रवतीमाल्यवतीवेणु-

वयसम्मत्तविसुद्धे व्रतैर्हिंसासत्यास्तेयब्रह्मापरिग्रहलक्षणैः पंचभि-र्महाव्रतैः, सम्यक्त्वेन च पंचविंशतिमलरहितेन तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणेन, विशुद्धे विशेषेण निर्मले [illegible] तीर्थे । **पंचिंदियसंजदे णिरावेक्खे** पंचेन्द्रियसंयते पंचेन्द्रियाणि स्पर्शनरसन-घ्राणचक्षुःश्रोत्राणि संयतानि बद्धानि स्पर्शरसगन्धवर्णशब्द-[illegible] तत्तथोक्तस्तस्मिन् पंचेन्द्रियसंयते । पुनः कथंभूते तीर्थे, निरपेक्षे [illegible] आकांक्षारहिते माया-मिथ्यानिदानशल्यत्रयरहिते । **ण्हाएउ मुणी तित्थे** स्नातु स्नानं करोतु [illegible] करोतु [illegible] [illegible] ज्ञानसंयुक्तो महात्मा महानुभावो [illegible] [illegible] स्नातु, **दिक्खासिक्खा-सुण्हाणेण** [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] स्नानेन स्नातु ।

जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं ।
तं तित्थं जिणमग्गे हवेइ जदि संतभावेण ॥२७॥

[illegible] ।
[illegible] ॥

जं णिम्मलं सुधम्मं [illegible] [illegible] सम्यक्त्वं संयमं तपो ज्ञानं [illegible]

णामे ठवणे हि य संदव्वे भावे हि सगुणपज्जाया ।
चउणागदि संपदिमं भावा भावंति अरहंतं ॥ २८ ॥
नाम्नि स्थापनायां हि च संद्रव्ये भावे च सगुणपर्यायाः ।
च्यवनमागतिः संपत् इमे भावा भावयन्ति अर्हन्तम् ॥

णामे नाम्नि सति । ठवणे स्थापनायां सति । हि स्फुटं । चशब्दः समुच्चयार्थः । संदव्वे समीचीने द्रव्ये सति । भावे च भावे च सति । सगुणपज्जाया स्वगुणा अनन्तज्ञानानन्तदर्शनानन्तवीर्यानन्तसुखादयः अर्हतो भवन्तीत्युक्तवान् । स्वपर्याया दिव्यपरमौदारिकशरीराष्टमहाप्रातिहार्यसमवसरणादयः पर्याया अर्हतो भवन्तीत्युक्तवान् । चउण गर्भावतरणं च्यवनं । आगदि आगतिर्दिवोऽवागमनं । संपत् गर्भागमनात् पूर्वं षण्मासान् रत्नसुवर्णपुष्पवृष्टिदिने दिने मातृगृहे भवति, अवतीर्णे सति नवमासपर्यन्तं सुवर्णरत्नवृष्टिर्मातृगृहे सौधर्मेन्द्रादेशात् कुबेरः करोति एवं वसुधारापतनं भवति । एतत्सर्वं महागुणानामृद्धिसम्पत्तेर्लाभं । इमं अर्हन्तं । भावा भव्यजीवा आसन्नभव्यवरपुण्डरीकाः । भावंति भावयन्ति निजहृदयकमले निश्चलं धरन्ति । कं, अरहंतं श्रीमद्भगवत्सर्वज्ञवीतरागं । तथा चोक्तं—

णामजिणा जिणणामा ठवणजिणा तह य ताह पडिमाओ ।
दव्वजिणा जिणजीवा भावजिणा समवसरणत्था ॥ १ ॥

दंसण अणंतणाणे मोक्खो णट्ठट्ठकम्मबंधेण ।
णिरुवमगुणमारूढो अरहंतो एरिसो होइ ॥ २९ ॥
दर्शनं अनन्तज्ञानं मोक्षः नष्टाष्टकर्मबन्धेन ।
निरुपमगुणमारूढः अर्हन् ईदृशो भवति ॥

---

१ नामजिना जिननामानि स्थापनाजिनाः तथा च तेषां प्रतिमाः ।
द्रव्यजिनाः जिनजीवाः भावजिनाः समवसरणस्थाः ॥ १ ॥

दसण अणंतणाणे अनन्तदर्शने सत्तावलोकनमात्रलक्षणे सति तथा अनन्तज्ञाने विशेषगोचरसाकारे सति मोक्षो भवतीति तावद्वे- दितव्यं । केन कृत्वा, **णट्टट्ठकम्मबंधेण** नष्टाष्टकर्मबन्धेन । ननु "मोह- क्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलं" इत्युमास्वामिवचनात् चत्वा- र्येव कर्माण्यर्हतो नष्टानि कथं नष्टाष्टकर्मबन्धेनेत्युच्यते ? साधूक्तं भवता यथा सैन्यनायके पतिते सति जीवत्यपि शत्रुवृन्दे तन्मृतवत्प्रतिभासते विहतिकारकत्वभावाभावत्वात्तथा सर्वेषां कर्मणां मुख्यभूते मोहनीयकर्मणि नष्टे सति वेदनीयायुर्नामगोत्रकर्मचतुष्टये सत्यपि भगवतो विविधफलो- दयाभावाद्घातीन्यपि कर्माणि नष्टानीत्युच्यते । **णिरुवमगुणमारूढो** निरुपमं गुणमनन्तचतुष्टयलक्षणमारूढोऽर्हन्नष्टकर्मरहित उच्यते । **अर- हंतो एरिसो होइ** अर्हन्नीदृशो भवतीति मुक्त एवापवर्गत इति भावार्थ ।

जरवाहिजम्ममरणं चउगइगमणं च पुण्णपावं च ।
हंतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो ॥ ३० ॥

जराव्याधिजन्ममरणं चतुर्गतिगमनं च पुण्यपापं च ।
हत्वा दोषकर्माणि भूतः ज्ञानमयः अर्हन् ॥

जर जरां हत्वा । **वाहि** व्याधीन् हत्वा, एतेन पदेन वातपित्तश्लेष्मा- दिजनित पाश्चात्यिकमतीनां येषां केवलज्ञानिनः कथयन्ति तन्मतं निरस्तं भवति । **जम्म** जन्म गर्भवासं हत्वा, इदमपि पदं श्वेताम्बरमतस्य यद्देवन- न्दाया ब्राह्मण्या उदरगर्भं निष्काश्य क्षत्रियाया उदरे प्रक्षिप्तमित्य- सद्युक्तं निराकृतं भवति [illegible] जीवस्य कर्माणि हत्वा भवतीति दोषसद्भावात् । तथा मरणं हत्वा । **चउगइगमणं च** चतुर्गतिगमनं च हत्वा । **पुण्णपावं च** पुण्यं पापं च हत्वा । **हंतूण दोसकम्मे** हत्वा विनाश्य रागाद्यष्टादशदोषान् । के ते ?—

क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥ १ ॥

चकाराच्चिन्तारतिनिद्राविषादस्वेदखेदविस्मया गृह्यन्ते। कम्मे—घातिकर्माणि। हंतूण-हत्वा। हुउ णाणमयं च अरहंतो भूतः संजातः कीदृशः णाणमयं—ज्ञानमयः केवलज्ञानवान्, अर्हन् इन्द्रादिकृतामर्हणां पूजामनन्यसंभविनीमर्हतीत्यर्हन् सर्वज्ञः वीतरागः।

गुणठाणमग्गणेहि य पज्जत्तीपाणजीवठाणेहि।
ठावण पंचविहेहिं पणयव्वा अरुहपुरिसस्स ॥ ३१ ॥

गुणस्थानमार्गणाभिश्च पर्याप्तिप्राणजीवस्थानैः।
स्थापना पञ्चविधैः प्रणेतव्या अर्हत्पुरुषस्य ॥

गुणठाणमग्गणेहि य गुणस्थानेनार्हन् प्रणेतव्यो योजनीयः। कानि तानि गुणस्थानानि? तन्निर्देशो गाथाद्वयेन क्रियते—

मिच्छा सासण मिस्सो अविरिय सम्मो य देसविरओ य।
विरया पमत्त इयरो अपुव्व अणियट्टि सुहमो य ॥ १ ॥
उवसंतखीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य।
चउदस गुणठाणाणि य कमेण सिद्धा य णायव्वा ॥ २ ॥

मार्गणाश्चतुर्दश निर्देक्ष्यति। पज्जत्ती षड्भिः पर्याप्तिभिरर्हन् प्रणेतव्यः। ता अपि निर्देक्ष्यति। पाणजीवठाणेहि प्राणैर्दशभिरर्हन् प्रणेतव्यः। तानपि निर्देक्ष्यति। जीवस्थानानि चतुर्दशानु गुणस्थानेषु जीवा

१ णाणमओ इति पाठान्तरं।
२ मिथ्यात्वं सासादनं मिश्रं अविरतसम्यक्त्वं देशविरतश्च।
विरतः प्रमत्त इतरोऽपूर्वोऽनिवृत्तिः सूक्ष्मश्च ॥ १ ॥
उपशान्तक्षीणमोहः सयोगकेवलिजिनोऽयोगी च।
चतुर्दशगुणस्थानानि च क्रमेण सिद्धाश्च ज्ञातव्याः ॥ २ ॥

ये सन्ति तानि जीवस्थानानि । तानि गुणस्थाननिर्देशेन ज्ञातव्यानि । **ठाणण पंचविहेहिं** एत्र गुणस्थानमार्गणापर्याप्तिप्राणजीवस्थानस्थापनापंचविधे. स्थापना योटनापंचप्रकारे । **पणयव्वा अरुहपुरिसस्स** प्रणेतव्या योटनीया अर्हत्पुरुषस्य अर्हज्जीवस्येति ।

तेरहमे गुणठाणे सजोइकेवलिय होइ अरहंतो ।
चउतीसअइसयगुणा होंति हु तस्सट्ठपडिहारा ॥३२॥

त्रयोदशे गुणस्थाने सयोगकेवलिको भवति अर्हन् ।
चतुस्त्रिंशदतिशयगुणा भवन्ति हु तस्य प्रातिहार्याणि ॥

तेरहमे गुणठाणे त्रयोदशे गुणस्थाने । **सजोइकेवलिय होइ अरहंतो** सयोगकेवलिको भवत्यर्हन् । **चउतीसअइसयगुणा** चतुस्त्रिंशदतिशयगुणाः । **होंति हु तस्सट्ठपडिहारा** भवन्ति हु-स्फुटं तस्यार्हत्परमेश्वरस्याष्टप्रातिहार्याणि । के ते चतुस्त्रिंशदतिशया इति चेदुच्यन्ते–नित्यं निःस्वेदत्वं । निर्मलता मलमूत्ररहितता, तत्पितुस्तन्मातुश्च मलमूत्रे न भवतः । उक्तं च—

तित्थयरा तप्पियरा हलहरचक्की य अद्धचक्की य ।
देवा य भूयभूमा आहारो अत्थि णत्थि णीहारो ॥ १ ॥

तथा तीर्थंकराणां श्मश्रुणी कूर्चश्च न भवति, शिरसि कुन्तलास्तु भवन्ति । तथा चोक्तं–

देवा वि य णेरइया हलहरचक्की य तह य तित्थयरा ।
सव्वे केसव रामा कामा णिक्कुंचिया होंति ॥ १ ॥

---

१ पूर्वमप्युक्ता अष्टादशीगाथे सूत्रे अत्र पुनरप्युच्यन्ते ।
२ तीर्थंकरास्तत्पितरः हलधरचक्रिणश्चार्धचक्रिणश्च ।
देवाश्च भोगभूमाश्च (युगलाः) आहारोऽस्ति नैव नीहारः ॥ १ ॥
३ देवा अपि च नारका हलधरचक्रिणश्च तथा च तीर्थंकराः ।
सर्वे केशवा रामाः कामा निष्कुंचिका भवन्ति ॥ १ ॥
४ सोमवणुयचक्की इति क पुस्तके पाठः ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

भवति । शरत्कालसरोवरसदृशमाकाशं निर्मलं भवति । दिशः सर्वा अपि तिमिरको घुप्रतां त्यजन्ति तमो मुञ्चन्ति शलभा अपि दिशो नाच्छादयन्ति धूलिर्नोद्गीयते । ज्योतिष्कान् व्यन्तरान् कल्पवासिदेवान् भवनवासिन आह्वयन्ति महापूजार्थं त्वरितमागच्छन्तु भवन्त इति । अरसहस्रं रत्नमयं रवितेजस्तिरस्कारकं धर्मचक्रं अग्रेऽग्रे गगने निराधारं गच्छति । अष्ट मंगलानि भवन्ति, तानि कानि ? छत्र—ध्वज—दर्पण—कलश—चामर—भृंगार—ताल—सुप्रतीक इत्यष्ट मंगलानि चतुर्दशोऽतिशयः। एते चतुर्दशातिशया देवोपनीता भवन्ति। तथाष्टप्रातिहार्याणि भवन्ति, कानि तानीत्याह !—

अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च ।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥१॥

गइ इंदियं च काए जोए वेए कसाय णाणे य ।
संजम दंसण लेसा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥ ३३ ॥

गतौ इन्द्रिये च काये योगे वेदे कषाये ज्ञाने च ।
संयमे दर्शने लेश्यायां भव्यत्वे सम्यक्त्वे संज्ञिनि आहारे ॥

गइ नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवगतीनां मध्येऽर्हतो मनुष्यगतिः । इंदियं स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रपंचेन्द्रियजातीनां मध्येऽर्हन् पंचेन्द्रियजातिः । पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायानां मध्येऽर्हन् त्रसकायः । जोए सत्यमनोयोगासत्यमनोयोगोभयमनोयोगानुभयमनोयोगानामर्हत सत्यानुभयमनोयोगी, सत्यवचनयोगासत्यवचनयोगोभयवचनयोगानुभयवचनयोगाना मध्येऽर्हतः सत्यानुभयवचनयोगी, औदारिककाययोगौदारिकमिश्रकाययोगवैक्रियिककाययोगवैक्रियिकमिश्रकाययोगाहारककाययोगाहारकमिश्रकाययोगकार्मणकाययोगानां मध्येऽर्हत. सप्त (त्रि) योगा., सत्यमनोयोगोऽनुभयमनोयोगः सत्यवचनयोगोऽनुभयवचनयोग औदारिककाययोग

औदारिकमिश्रकायप्रयोगः कार्मणकायप्रयोगश्चेति सप्तयोगाः। वेए स्त्रीपुंन-पुंसकवेदत्रयमध्येऽर्हतः कोऽपि वेदो नास्ति। कसाय पंचविंशति-कषायाणां मध्येऽर्हत कोऽपि कषायो नास्ति। णाणे य पंचज्ञानानां मध्येऽर्हत केवलज्ञानमेकं। संजम सप्तानां संयमानां मध्येऽर्हतः संयम एक एव यथाख्यातचारित्रं। दंसण चतुर्णां दर्शनानां मध्ये दर्शनमेकमेव केवलदर्शनं। लेसा षण्णां लेश्यानां मध्येऽर्हतो लेश्या एकैव शुक्ललेश्या। भविया भव्यद्वयमध्येऽर्हन् भव्य एव। सम्मत्त षण्णां सम्यक्त्वानामर्हतः सम्यक्त्वमेकमेव क्षायिकसम्यक्त्वं। संज्ञिद्वय-मध्येऽर्हन् संज्ञी एक एव। आहारे आहारकद्वयमध्येऽर्हत आहारकाना-हारकद्वयं।

आहारो य सरीरो तह इंदियआणपाणभासा य।
पज्जत्तिगुणसमिद्धो उत्तमदेवो हवइ अरहो ॥ ३४ ॥

आहारः च शरीरं तथा इन्द्रियानप्राणभाषाश्च।
पर्याप्तिगुणसमृद्धः उत्तमदेवो भवति अर्हन्॥

आहारो य सरीरो आहार. समयं समयं प्रत्यनन्ताः परमाणवोऽनन्यजनसाधारणाः शरीरस्थितिहेतवः पुण्यरूपाः शरीरे सम्बन्धं यान्ति नोकर्मरूपा अर्हत आहार उच्यते न चितरमनुष्यवद्भगवति कवलाहारो भवति तस्मिन्निर्ग्रन्थानिरूपयते कथं भगवानर्हन् देवता कथ्यते। कवलाहारं भुञ्जानो मनुष्य एव। तथा चोक्तं समन्तभद्रेण भगवता—

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः।
तेन नाथ! परमोऽसि देवता श्रेयसे जिनवृष! प्रसीद नः॥ १॥

क्षुद्वेदनायां कवलाहारं भुंजानो भगवान् कथमनन्तसौख्यवानुच्यते वेदनायां सुखच्छेदत्वादित्यादि प्रमेयकमलमार्तण्डादिषु कवलाहारस्य

१ इंदियमन इति पाठान्तरं।

निषिद्धत्वात्, स्त्रीमुक्तेरपि । शरीरपर्याप्तिः । तह इंदियआणपाण-भासा य तथा इन्द्रियपर्याप्ति, आनप्राणपर्याप्तिः कोऽर्थः उच्छ्वासनिःश्वासपर्याप्तिः, भाषापर्याप्तिः, चकारान्मनःपर्याप्तिः, एवं कायवाङ्मनसां सत्तायां सत्यामपि भगवतः कर्मबन्धो नास्ति जीवन्मुक्तत्वात्तस्य । तथा चोक्तं—

> कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो नाभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया ।
> नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो धीर ! तावकमचिन्त्यमीहितम् ॥१॥

पज्जत्तिगुणसमिद्धो षट्पर्याप्तिगुणसमृद्धः संयुक्तः । उत्तमदेवो हवइ अरुहो उत्तमदेवो भवत्यर्हन् न तु हरिहरहिरण्यगर्भादय उत्तमदेवा भवन्ति तेषां दोषसद्भावात् । उक्तं च

> मुष्टिनाघोक्षजेशानशाक्यसूरसुरःसराः ।
> यदि रागाद्यधिष्ठानं कथं तत्राप्तता भवेत् ॥ १ ॥
> रागादिदोषसंभूतिर्ज्ञेयाऽमीषु तदागमात् ।
> भगवतः परदोषस्य गृहीतो पातकं महत् ॥ २ ॥
> भजन्तिलोत्तमाचित्तः श्रीरतः श्रीपतिः स्मृतः ।
> अर्धनारीश्वरः शम्भुस्तथाप्येषु किलाप्तता ॥ ३ ॥

पंच वि इंदियपाणा मणवयकाएण तिण्णि बलपाणा ।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दहपाणा ॥ ३५ ॥

> पञ्चापि इन्द्रियप्राणा मनोवचःकायैः त्रयो बलप्राणाः ।
> आनप्राणप्राणा आयुष्कप्राणेन भवन्ति दशप्राणाः ॥

पंच वि इंदियपाणा इन्द्रियप्राणाः पञ्च भवन्ति । मणवचिकाएण तिण्णि बलपाणा मनोवचःकायैस्त्रिप्राणास्त्रयो भवन्ति । आणप्पाणप्पाणा आनप्राणप्राणा उच्छ्वासनिःश्वासलक्षण एकः प्राणः । आउ-

गपाणेण होंति दहपाणा आयुष्प्राणेन कृत्वा दशप्राणा भवन्ति । यथा आयुःशब्दः सान्तो नपुंसकलिंगे वर्तते तथा आयु इत्युकारान्तोऽपि नपुंसके वर्तते । एवं दशप्राणा भवन्तीति ज्ञातव्यं ।

मणुयभवे पंचिंदिय जीवट्ठाणेसु होइ चउदसमे ।
एदे गुणगणजुत्तो गुणमारूढो हवइ अरुहो ॥ ३६ ॥

मनुजभवे पंचेन्द्रियो जीवस्थानेषु भवति चतुर्दशे ।
एतद्गुणगणयुक्तो गुणमारूढो भवति अर्हन् ॥

मणुयभवे पंचिंदिय मनुजभवेऽर्हन् कथ्यते पंचेन्द्रियोऽर्हन्नुच्यते । जीवट्ठाणेसु होइ चउदसमे जीवस्थानेषु मध्ये चतुर्दशे स्थानेऽर्हन् भवति अयोगकेवल्यप्यर्हन् भवतीति भावः । एदे गुणगणजुत्तो एतद्गुणगणयुक्तः । गुणमारूढो हवइ अरुहो गुणस्थानमारूढोऽर्हन् भवति गुणस्थानात्परतः सिद्ध उच्यते इति भावः ।

जरवाहिदुक्खरहियं आहारणिहारवज्जियं विमलं ।
सिंहाण खेल सेओ णत्थि दुगंछा य दोसो य ॥ ३७ ॥

जराव्याधिदुःखरहितः आहारनीहारवर्जितः विमलः ।
सिंहानः खेलः स्वेदः नास्ति दुर्गन्धश्च दोषश्च ॥

जरवाहिदुक्खरहियं जरारहितो व्याधिरहितः शारीरमानसागन्तुदुःखरहितोऽर्हन् भवति, प्राकृते लिंगभेदत्वात् जरवाहिदुक्खरहियं इति नपुंसकलिंगनिर्देशो ज्ञातव्यः एवमुत्तरत्रापि । आहारणिहारवज्जियं आहारनिहारवर्जितः कवलाहाररहितोऽर्हन् भवति नीहाररहितो बहिर्भूमिबाधारहितः । अनेन वाक्येन श्वेतपटमतं निराकृतं । विमलं शरीरे मलमर्हतो न भवति । सिंहाण खेल सेओ सिंहाणः नासायां

१ विनाविवं. मूलगाथा पाठः

मलो न भवति, खेला निष्ठीवनमर्हति नास्ति, स्वेदश्च शरीरे प्रस्वेदोऽ-र्हति न वर्तते। णत्थि दुगंछा य दोसो य अन्यदपि जुगुप्साहेतु-भूतं किमपि पिटकादिकं (कं) अर्हति न वर्तते। दोषश्च वातपित्त-श्लेष्माणोऽर्हति न वर्तन्ते।

दसपाणा पज्जत्ती अट्ठसहस्सा य लक्खणा भणिया।
गोखीरसंखधवलं मंसं रुहिरं च सव्वंगे ॥ ३८ ॥

दशप्राणा पर्याप्तय: अष्टसहस्राणि च लक्षणानि भणितानि।
गोक्षीरशंखधवलं मांसं रुधिरं च सर्वाङ्गे॥

दसपाणा पज्जत्ती दशप्राणाः पूर्वोक्तलक्षणा अर्हति भवन्ति, षट्-पर्याप्तयश्चार्हति भवन्ति। **अट्ठसहस्सा य लक्खणा भणिया** अष्टा-धिकं सहस्रमेकं लक्षणानां भणितं। तत्र नवशतानि तिलमसकादीनि व्यञ्जनानि भवन्ति, अष्टाधिकं शतं लक्षणानां भवति। तथा चोक्तं—

प्रसिद्धाष्टसहस्रेद्धलक्षणं त्वां गिरां पतिम्।
नाम्नामष्टसहस्रेण तोष्टुमोऽभीष्टसिद्धये॥ १॥

तेषां लक्षणानां मध्ये कानिचिदुच्यन्ते। तथा हि। श्रीवृक्षः, शंखः, अब्जं, स्वस्तिकः, अंकुश, तोरण, चामरं, श्वेतच्छत्रं, सिंहासनं, ध्वजः, झषौ, कुंभौ, कूर्मः, चक्रं, समुद्रः, सरोवर, विमानं, भवनं, नागः, नरनार्यौ, सिंहः, बाणः, धनु, मेरुः, इन्द्रः, गंगा, पुरं, गोपुरं, चन्द्रसूर्यौ, जात्यश्वः, व्यजन, वेणु, वीणा, मृदंगः, स्रजौ, पट्टांशुकं, आपणः, कुण्डलादीनि विचित्राभरणानि, उद्यानं फलितं, सुपक्वकलमक्षेत्रं, रत्नद्वीपः, वज्रं, मही, लक्ष्मीः, सरस्वती, सुरभिः, सौरभेय, चूडारत्नं, महानिधिः, कल्पवल्ली, हिरण्य, जंबूवृक्ष, गरुडः, नक्षत्राणि, तारकाः, सौधः, ग्रहाः, सिद्धार्थपादपाः, प्रातिहार्याणि, मंगलानि, एवमादीनि अष्टो-

त्तरं शतं लक्षणानि । **गोखीरसंखधवलं** गोक्षीरवच्छंखवद्धवलमुज्ज्वलं । **मंसं रुहिरं च सव्वंगे** मांसं गोक्षीरवद्धवलं रुधिरं गोक्षीरवद्धवलं सर्वाङ्गे सर्वस्मिन् शरीरे ।

एरिसगुणेहिं सव्वं अइसयवंतं सुपरिमलामोयं ।
ओरालियं च कायं णायव्वं अरुहपुरिसस्स ॥ ३९ ॥

ईदृशगुणैः सर्वः अतिशयवान् सुपरिमलामोदः ।
औदारिकश्च कायः ज्ञातव्यः अर्हत्पुरुषस्य ॥

एरिसगुणेहिं सव्वं ईदृशगुणैः संयुक्तः सर्वः कायोऽर्हत्पुरुषस्य ज्ञातव्यः इति सम्बन्धः । **अइसयवंतं सुपरिमलामोयं** अतिशयवान् सुष्ठु अतिशयेन परिमलेन विमर्दोत्थगन्धेन कर्पूरादिना सदृशः आमोदो गन्धविशेषो यत्र काये स सुपरिमलामोदः । **ओरालियं च कायं** पर-मौदारिकः कायः शरीरमर्हत्पुरुषस्य भवति स्थिरः स्थूलरूपश्चक्षुर्गम्य औदारिक उच्यते । **णायव्वं अरुहपुरिसस्स** ज्ञातव्यो वेदितव्यः कायोऽर्हत्पुरुषस्य श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागस्य शरीरं ज्ञातव्यमित्यर्थः ।

मयरायदोसरहिओ कसायमलवज्जिओ य सुविसुद्धो ।
चित्तपरिणामरहिदो केवलभावे मुणेयव्वो ॥ ४० ॥

मदरागदोषरहितः कषायमलवर्जितश्च सुविशुद्धः ।
चित्तपरिणामरहितः केवलभावे ज्ञातव्यः ॥

मयरायदोसरहिओ मदरहितो रागरहितो दोषरहितः । **कसाय-मलवज्जिओ य सुविसुद्धो** कषायाः क्रोधमानमायालोभाः, मला हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुन्नपुंसकलक्षणा नोकषायास्तैर्वर्जितो र-हितः, सुविशुद्धः शान्तमूर्तिः । **चित्तपरिणामरहिदो** मनोव्यापा-ररहितः । **केवलभावे मुणेयव्वो** क्षायिकभावे मुणितव्यो ज्ञातव्यो ऽर्हन्निति ।

सम्मद्दंसणि पस्सइ जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया।
सम्मत्तगुणविसुद्धो भावो अरुहस्स णायव्वो ॥ ४१ ॥

सम्यग्दर्शनेन पश्यति जानाति ज्ञानेन द्रव्यपर्यायान्।
सम्यक्त्वगुणविशुद्धः भावः अर्हतः ज्ञातव्यः ॥

सम्मद्दंसणि पस्सइ सम्यग्दर्शनेन पश्यति सम्यङ्निस्तुपतया दर्शनेन सत्तारूपलक्षणेन पश्यति वस्तुस्वरूपं गृह्णाति। **जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया** जानाति ज्ञानेन केवलज्ञानेन विशेषगोचरेण साकाररूपेण सम्यग्जानाति द्रव्याणि जीवपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशलक्षणानि। **सम्मत्तगुणविसुद्धो** सम्यक्त्वगुणेन क्षायिकसम्यक्त्वेन विशुद्धो निर्मलः। **भावो अरुहस्स णायव्वो** भावः स्वरूपं अर्हतः सर्वज्ञस्य ज्ञातव्यो वेदितव्यः।

अरहंत––इति श्रीबोधप्राभृतेऽर्हदधिकारो दशमः समाप्तः ॥१०॥

अथेदानीं प्रव्रज्यास्वरूपं निरूपयन्ति श्रीकुन्दकुन्दाचार्याः सप्तदशगाथाभिरिति––

सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तह मसाणवासे वा।
गिरिगुहगिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसिते वा ॥४२॥

शून्यगृहे तरुमूले उद्याने तथा श्मशानवासे वा।
गिरिगुहागिरिशिखरे वा भीमवने अथवा वसतौ वा ॥

सुण्णहरे तरुहिट्ठे शून्यगृहे निवासः कर्तव्यः प्रव्रज्यावतेत्युपस्कारः। तरुहिट्ठे–वृक्षमूले स्थातव्यं। **उज्जाणे** उद्याने कृत्रिमवने स्थातव्यं। **तह मसाणवासे वा** तथा श्मशानवासे वा पितृवनस्थाने स्थातव्यं। **गिरिगुहगिरिसिहरे वा** गिरिगुहे गिरेर्गुहायां स्थातव्यं, गिरिशिखरे वा पर्वतोपरि स्थातव्यं। **भीमवणे अहव वसिते वा** भीमवने भयानकायाम-

[illegible] दृष्टिने [illegible] वा [illegible], [illegible] [illegible]। [illegible] न [illegible]।

मनसा मनं निच्चं वच [illegible] च कुणंति।
जिनभवणं [illegible] जिनमनं जिनवण विंति ॥१२॥

[illegible]

मनसा मनं निच्चं [illegible]

[illegible] इस [illegible]

[illegible]

नयनं च कुणंति [illegible] —

[illegible]

नवनवचतुःशतानि च सप्त च नवतिः सहस्रगुणिताः षट् च ।
पंचाशत्पंचवियत्प्रहताः पुनरत्र कोटयोऽष्टौ प्रोक्ताः ॥ १ ॥

अकृत्रिमचैत्यालयानां संख्या यथा—एकाशीत्यधिकचत्वारि शतानि सप्तनवतिसहस्राणि षट्पंचाशल्लक्षाणि अष्टौ कोटयो भवंति । एकैकचैत्यालयेऽष्टाधिकं शतं प्रतिमानां भवति । तासां संख्या यथा—

णवकोडिसया पणवीसा लक्खा छप्पण्ण सहस्ससगवीसा ।
चउसय तह अडयाला जिणपडिम अकिट्टिमं वंदे ॥ १ ॥

नवशतकोटयः पंचविंशतिकोट्यश्च षट्पंचाशल्लक्षाः सप्तविंशतिसहस्राणि चत्वारि शतानि अष्टचत्वारिंशदधिकानि भवन्ति । ज्योतिर्व्यन्तराणां च चैत्यालयानां संख्या नास्ति । **जिणमग्गे जिणवरा विंति** जिनमार्गे जिनशासने जिनवरा विदन्ति जानन्ति । सत्त्वं, तीर्थं, शास्त्रं, पुस्तकं, जिनभवनं, प्रतिमाश्च एतत्सर्वं चैत्यं मुनीनां श्रावकाणां च सम्यग्दृष्टीनां चैत्यं ध्यानावलम्बनीयं वस्त्वर्हन्तः कथयन्ति । ये न मानयन्ति ते मिथ्यादृष्टयो भवन्तीति भावार्थः ।

पंचमहव्वयजुत्ता पंचिंदियसंजया णिरावेक्खा ।
सज्झायझाणजुत्ता मुणिवरवसहा णिइच्छंति ॥ ४४ ॥

पंचमहाव्रतयुक्ताः पंचेन्द्रियसंयताः निरपेक्षाः ।
स्वाध्यायध्यानयुक्ताः मुनिवरवृषभा नीच्छन्ति ॥

पंचमहव्वयजुत्ता पंचमहाव्रतयुक्ताः पूर्वोक्तपंचमहाव्रतयुक्ताः सर्वजीवदयाप्रतिपालकाः सत्यव्रतसत्यवचनाऽचौर्यव्रतपालिनः ब्रह्मचर्यव्रतो-

१ नवकोटिशतानि पंचविंशतिर्लक्षाः, षट्पंचाशत् सहस्राणि सप्तविंशतिः ।
चतुःशतानि तथाष्टचत्वारिंशत् जिनप्रतिमाः अकृत्रिमाः वन्दे ॥ १ ॥

१ तेषां. २ भवन्त. ३ जिनशासनं० ४ भवन्ति० इत्येवं रूपेण पाठेन भवितव्यं ।

पेता निष्परिग्रहा अग्रयणप्रायोग्यपरिग्रहपरित्यक्ता रजनिभोजनवर्जिन एतद्दृश्यं वस्तु निश्चयेनेच्छन्ति मानयन्ति जिनवचनप्रमाणकारित्वात्। पंचिंदियसंवरया णिगविक्खा पंचेंद्रियाणि संवतानि बद्धानि निज-विषयेषु प्रवर्तितुं व्यावृत्तानि निषिद्धानि यैस्ते पंचेन्द्रियसंयता:। निरपेक्षा: प्रत्युपकारवाञ्छारहिता भव्यजीवसम्बोधनपरा एतद्दृश्यं वांछन्ति। सज्झायझाणजुत्ता स्वाध्यायध्यानयुक्ता:। स्वाध्याय: पंचप्रकार:, वाचना-शिष्याणां व्युत्पत्तिनिमित्तं शास्त्रार्थकथनं, पृच्छना-अनुयोगकरणं, अनुप्रेक्षा-पठितस्य व्याकृतस्य च शास्त्रस्य पुनर्थेतसि चिन्तनं, आम्नाय:-शुद्धपठनं, धर्मोपदेश:-महापुराणादिशास्त्रस्य मुनीनां श्रावकादीनामग्रतो व्याख्यानविधानं। ध्यानं—आर्तध्यानरौद्रध्यानद्वयं परिहृत्य धर्मध्यानशुक्लध्यानद्वये प्रवर्तनं विधिनिषेधरूपं। मुणिवरवसहा णिइच्छंति मुनिवरवृषभा: सर्वपाषण्डिभ्योऽधिकश्रेष्ठा: सर्वलोकप्रशंसनीया: परमार्थयतय: दिगम्बरा नि—अतिशयेनेच्छन्ति वेध्यं वाञ्छन्ति पुन:पुनरभ्यासं कुर्वन्ति।

गिहगंथमोहमुक्का बावीसपरीसहाजि अकसाया।
पावारंभविमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ४५ ॥

गृहग्रन्थमोहमुक्ता द्वाविंशतिपरीषहजिदकषाया।
पापारम्भविमुक्ता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

गिहगंथमोहमुक्का गृहस्य निवासस्य, ग्रन्थस्य परिग्रहस्य बाह्यस्य दशप्रकारस्य मोहेन मुक्ता ममेदं भावरहिता प्रव्रज्या दीक्षा भवति। के ते दश बाह्यपरिग्रहा:? क्षेत्रं सस्याधिकरणं। वास्तु गृहं। हिरण्यं रूप्य-द्रम्मादि। सुवर्णं कांचनं। धनं गोमहिष्यादि। धान्यं शाल्यादि। दासी कर्मकरी। दास: पुंनपुंसकवर्ग: कर्मकर:। कुप्यं क्षौमकर्पासकौशेयच-

न्दनागुर्वादि । चतुर्दशाभ्यन्तरपरिग्रहरहिता । के ते चतुर्दशाभ्यन्तरपरिग्रहा [1]—

मिथ्यात्ववेदौ हास्यादिषट् कषायचतुष्टयं ।
रागद्वेषौ च संगाः स्युरन्तरङ्गाश्चतुर्दश ॥ १ ॥

बावीसपरीसहाजि अकसाया द्वाविंशतिपरीषहजित्प्रव्रज्या भवति के ते द्वाविंशतिपरीषहा ? क्षुधाजयः, पिपासा-तृषाजयः, शीतजयः, उष्णजयः, दंशमशकसर्वोपद्रवसहनं, नग्नत्वसहनं, अरतिजयः, स्त्रीपरीषहजयः, चर्या-गमनं तस्य जयः, निषद्या-उपवेशनं तस्य जयः, शय्यासहनं, आक्रोशजयः अनिष्टवचनसहनं, वधसहनं, याचनसहनं न किमपि याचते, अलाभसहनमन्तरायसहनं, रोगसहनं, तृणस्पर्शसहनं, मलसहनं लोचसहनं च, सत्कारपुरस्कारः पूजाया अकरणस्य सन्मानाप्रमनादानस्य च सहनं सत्कारपुरस्कारजयः, प्रज्ञापरीषहजयो ज्ञानमदनिरासः अज्ञानोऽयमिति वचनसहनमज्ञानपरीषहजयः, अदर्शनपरीषहजयो लब्ध्यभावसहनं । तथा चोक्तमुमास्वामिना—

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्या-
निषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्श-
मलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानादर्शनानि ॥

अकसाया—कषायरहिता प्रव्रज्या भवति । **पावारंभविमुक्का** पापारम्भविमुक्ता सेवाकृषिवाणिज्यादि पापारम्भस्तस्माद्विमुक्ता । इत्यनेन किमुक्तं भवति यद्द्राविडसंघा जैनाभासा वदन्ति तत्प्रयुक्तं—

वीरेसु णत्थि जीवो उब्भसणं णत्थि फासुगं णत्थि ।
सावज्जं ण हु मण्णइ ण गणइ गिहकप्पियं अट्ठं ॥ १ ॥

---

१ वीरेषु नास्ति जीवः उद्भसनं नास्ति प्रासुकं नास्ति ।
सावद्यं न हि मन्यते न गणयति गृहकल्पितं अर्थं ॥ १ ॥
कण्ठं छित्वा वर्माणि पाणिभ्यां कारयित्वा जीवन् ।
स्नात्वा शीतलनीरे पापं प्रचुरं समर्जयति ॥ २ ॥

फव्छं खेत्तं वसहिं वाणिज्जं कारिऊण जीवंतो ।
घट्टंतो जीवलनीरे पावं पउरं समज्जेदि ॥ २ ॥

पव्वज्जा एरिसा भणिया प्रव्रज्या दीक्षा ईदृशी भणिता ।

धणधण्णवत्थदाणं हिरण्णसयणासणाइ छत्ताइं ।
कुद्दाणविरहरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ४६ ॥

धनधान्यवस्त्रदानं हिरण्यशयनासनादि छत्रादि ।
कुदानविरहरहिता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

धणधण्णवत्थदाणं धनं गवादि, धान्यं गोधूमादि, वस्त्रं पट्टाम्बरादि एतेषां दानं वितरणं मुनयो न कुर्वन्ति । **हिरण्णसयणासणाइ छत्ताइ** हिरण्यं रूप्यघटितं नाणकं सुवर्णघटितं नाणकं ताम्ररूप्यमिश्रघटितं नाणकं केवलताम्रादिघटितं नाणकं हिरण्यमुच्यते तद्दानं मुनयो न कुर्वन्ति । शयनं अपरस्मै खट्वा पल्यङ्कः तद्दानं मुनयो न कुर्वन्ति । आसनं पीठं आदिशब्दात् पट्टं, छत्रचामरं आदिशब्दाद्भृङ्गाराचमनादिकं मुनयो न ददति । **कुद्दाणविरहरहिया** कुत्सितदानस्य विशेषेण रहस्थानकेन रहिता । **पव्वज्जा एरिसा भणिया** प्रव्रज्या दीक्षेदृशी भणिता श्रीमन्नन्दनाभिना वीरेण तीर्थकृता प्रतिपादिता । इत्यनेन येऽन्यसमयस्थाः सांख्यसिद्धभारतीतापसदण्डितरतीर्थप्रभृतयः संन्यासिका अपि सन्तः कुत्सितानि दानानि ददति तन्मतं निराकृतमिति भावः ।

सत्तूमित्ते य समा पसंसणिंदाअलद्धिलद्धिसमा ।
तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ४७ ॥

शत्रुमित्रे च समा प्रशंसानिन्दाऽलब्धिलब्धिसमा ।
तृणकनके समभावा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

सत्तूमित्ते य समा शत्रौ वैरिणि, मित्रे सुहृदि समा समानचित्ता । **पसंसणिंदाअलद्धिलद्धिसमा** प्रशंसायां स्तुतौ, निन्दायामवर्णवादे,

लब्धौ निरन्तरायभोजने, अलब्धौ भोजनान्तराये च समा सदृशी प्रव्रज्या भवति । तणकणए समभावा तृणे, कनके सुवर्णे च, समभावा अनादरादरहिता । पव्वज्जा एरिसा भणिया प्रव्रज्या ईदृशी भणिता चिरन्तनाचार्यैः प्रतिपादिता ।

उत्तममज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा ।
सव्वत्थ गिहिदपिंडा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ४८ ॥

उत्तममध्यमगेहे दरिद्रे ईश्वरे निरपेक्षा ।
सर्वत्र गृहीतपिण्डा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

उत्तममज्झिमगेहे उत्तमगृहे उत्तुङ्गतोरणादिसहिते राजसदनादौ, मध्यमगेहे नीचैर्गृहे तृणपर्णादिनिर्मिते, निरपेक्षा उच्चैर्गृहं भिक्षार्थं गच्छामि नीचैर्गृहं अहं न व्रजामि न प्रविशामीत्यपेक्षारहिता प्रव्रज्या भवति । **दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा** दरिद्रस्य निर्धनस्य गृहं न प्रविशामि, ईश्वरस्य धनवतो गृहं प्रविशाम्यहं निवेशे इत्यपेक्षारहिता प्रव्रज्या भवति । **सव्वत्थ गिहिदपिंडा** सर्वत्र योग्यगृहे गृहीतपिण्डा स्वीकृताहारा प्रव्रज्या ईदृशी भवति । किं तदयोग्यं गृहं यत्र भिक्षा न गृह्यते इत्याह—

गायकस्य तलारस्य, नीचकर्मोपजीविनः ।
मालिकस्य विलिंगस्य वेश्यायास्तैलिकस्य च ॥ १ ॥

अस्यायमर्थः—गायकस्य गन्धर्वस्य गृहे न भुज्यते । तलारस्य कोटपालस्य, नीचकर्मोपजीविनः चर्मजलशकटादेर्वाहकादेः श्रावकस्यापि गृहे न भुज्यते । मालिकस्य पुष्पोपजीविनः, विलिंगस्य भरटस्य, वेश्यायाः गणिकायाः, तैलिकस्य घांचिकस्य ।

दीनस्य सूतिकायाश्च छिंपकस्य विशेषतः ।
मद्यविक्रयिणो मद्यपायिसंसर्गिणश्च न ॥ २ ॥

...निस्य श्रावकोऽपि सन् यो दीनं भाषते। सूतिकाया या बाल-
...जननं कारयति। तदनुगमं।

तांलिको मालिकश्चैव कुंभकारस्तिलंतुदः।
नापितश्चेति विज्ञेया पंचैते पंचकारवः ॥ ३ ॥
रजकस्तक्षकश्चैव अयःसुवर्णकारकः।
दृषत्कारादयश्चेति कारवो बहवः स्मृताः ॥ ४ ॥
क्रियते भोजनं गेहे यतिना भोक्तुमिच्छुना।
एवमादिकमप्यन्यच्चिन्तनीयं स्वचेतसा ॥ ५ ॥
वरं स्वहस्तेन कृतः पाको नान्यत्र दुर्दृशां।
मन्दिरे भोजनं यस्मात्सर्वसावद्यसंगमः ॥ ६ ॥

णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा।
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४९॥

निर्ग्रन्था निस्संगा निर्मानाशा अरागा निर्दोषा।
निर्ममा निरहंकारा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

णिग्गंथा परिग्रहरहिता, अथवा नि-अतिशयवद्भिः ग्रन्थैः शास्त्रैः सहिता निर्ग्रन्था। णिस्संगा स्त्र्यादिसंगरहिता, अथवा निश्चितैः शोभनैः अंगैर्वा- देहाद्यैः संयुक्ता निस्संगा, अथवा निश्चितैर्गुणैः शरीरक्लेशैश्च सहिता।

ग्राहेण सालसोपलक्षणहालितिना तेन मोहोज्झितेन
प्राप्तिसतः सुदृशो द्विजनृपतिवणिग्वर्णवर्णाद्भूपूर्वैः।
भूभृल्लोकादिकैः स्वप्नजनपरिजनैर्नोचितो यतिनाथैः ॥१॥
द्विजापरस्मात्स्तेनापकृत इति च ... [illegible]

इति दीननिर्दिष्टनिरुक्तात्। अथ यात्रां तत्त्वात्... [illegible]

[illegible]

कुरूपिणो हीनाधिकाङ्गस्य कुष्ठादिरोगिणश्च प्रव्रज्या न भवति। णिम्माणासा निर्माना अष्टमदरहिता, निराशा आशारहिता। उक्तं च—

आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमं।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥ १ ॥

अथवा—

आशा दासीकृता येन तेन दासीकृतं जगत्।
आशाया यो भवेद्दासः स दासः सर्वदेहिनाम् ॥ १ ॥

निरत्था अस्त्ररहिता तदुपलक्षणं गजतुरगादीनां। अराय रागरहिता, अथवा प्रव्रज्यायां राजभिः सह स्नेहादिकं न कर्तव्यं, तदुपलक्षणं मन्त्र्यादीनां प्रत्यक्षनरकपातवद्दुर्ध्यातत्वात्, केचिच्च जिनधर्मप्रभावनार्थं मुनीनां सुस्थित्यर्थं च तन्निषेधं न कुर्वन्ति म्लेच्छादिपीडानिराकरणहेतुत्वात्। णिद्दोसा अप्रीतिलक्षणद्वेषरहिता, अथवा वातपित्तश्लेष्मादिदोषरहितस्य प्रव्रज्या भवतीति निर्दोषा। णिम्मम निर्ममा ममेति शब्दोऽव्ययं निर्गतं ममेति यस्यां प्रव्रज्यायां सा निर्ममा, अथवा मश्च मा च ममे निर्गते ममे यस्याः सा निर्ममा मद्यमांसमधुमकारत्रयरहिता लक्ष्मीस्वीकाररहिता चेत्यर्थः। तथा चोक्तं—

अकिंचनोऽहमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥ १ ॥

णिरहंकारा अहङ्काररहिता कर्मोदयवशात् सुखं वा दुःखं वा जीवस्य कर्मोदयेन भवति मयेदं कृतमिति अहङ्कारो न कर्तव्य इत्यर्थः। तथा चोक्तं समन्तभद्रेण तार्किकशिरोमणिना—

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा।
अनीश्वरो जन्तुरहं क्रियार्तः संहत्यकार्येष्विति साध्ववादि ॥ १ ॥

१ म अन्यथा टी. । २ नि टी. ।

संहल्पकार्येष्विति कोऽर्थः ? सुखादिकार्योत्पादकेषु मंत्रतंत्रादिसहकारिकारणेषु मिलित्वा । अथवा णिरहंकारा-णिरहं-निरघं निष्पापं सर्वसावद्ययोगरहितत्वं यथा भवत्येवंकारा, कस्य ? शुद्धबुद्धैकस्वभावस्य निजात्मस्वरूपस्य । आरात्समीपतो वर्तते कारा, चिच्चमत्कारलक्षणज्ञायकैकस्वभावटंकोत्कीर्णनिजात्मनि सल्लीना प्रव्रज्या भवतीति ज्ञातव्यं । "पापक्रियाविरमणं चरणं किलेति" वचनात् । पव्वज्जा प्रव्रज्या दीक्षा । एरिसा ईदृशी उक्तलक्षणा । भणिया गौतमस्वामिना प्रतिपादिता ।

णिण्णेहा णिल्लोहा, णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा ।
णिब्भय णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ५० ॥

निःस्नेहा निर्लोभा निर्मोहा निर्विकारा निष्कलुषा ।
निर्भया निराशभावा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

णिण्णेहा निःस्नेहा पुत्रकलत्रमित्रादिस्नेहरहिता, अथवा तैलाद्यभ्यङ्गरहिता निःस्नेहा । णिल्लोहा हे मुने ! हे तपस्विन् ! तवेदं वस्तु वस्त्रादिकं दास्यामि मम गृहे भिक्षा गृह्यतां भवतेति लोभरहिता, अथवा सुवर्णरजतताम्रपत्त्रपुनागादिभाजनविवर्जिता निर्लोभा । णिम्मोहा दर्शनमोहो मिथ्यात्वं त्रिविधं चारित्रमोहः पंचविंशतिप्रकारस्तद्द्वाभ्यामपि रहिता निर्मोहा, अथवा निश्चितापा अकलंकदेवसमन्तभद्रविद्यानन्दिप्रभाचंद्रादिमित्तार्किकैर्निर्धारितापा माया प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणोपलक्षितापा प्रमाणद्वयस्य ऊहो वितर्को विचारणा यस्यां प्रव्रज्यायां सा निर्मोहा । णिव्वियार निर्विकारा वस्त्राभरणादिवेषविकाररहिता निर्विकारा, अथवा निश्चितो विचारो विवेको भेदज्ञानं यस्यां सा निर्विचारा, आत्मा पृथक् कर्म पृथक् इति विवेकोपेता । उक्तं च—

1 नि. टी.

मानुष्यं सत्कुले जन्म लक्ष्मीर्बुद्धिः कृतज्ञता ।
विवेकेन विना सर्वं सदप्येतन्न किंचन ॥ १ ॥

अन्यच्च—

आत्मा भिन्नस्तदनुगतिमत्कर्म भिन्नं तयोर्या
प्रत्यासत्तेर्भवति विकृतिः सापि भिन्ना तथैव ।
कालक्षेत्रप्रमुखमपि यत्तच्च भिन्नं मतं मे
भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालंकृतं सर्वमेतत् ॥ १ ॥

णिक्कलुसा निष्कलुषा निष्पापा । णिब्भय निर्भया सप्तभयरहिता । णिरासभावा निराशभावा आशारहितस्वभावा । पव्वज्जा एरिसा भणिया प्रव्रज्या ईदृशी भणिता श्रीवृषभनाथेनेति शेषः ।

जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुअ णिराउहा संता ।
परकियणिलयणिवासा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ५१ ॥

यथाजातरूपसदृशा अवलम्बितभुजा निरायुधा शान्ता ।
परकृतनिलयनिवासा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

जहजायरूवसरिसा यथाजातरूपसदृशा नग्नरूपा इत्यर्थः । अवलंबियभुअ अवलम्बितभुजा प्रायेण कायोत्सर्गस्थिता पद्मासनादि-स्थिता वा । पद्मासनं हि —

[illegible] युक्तितः ।
[illegible] पद्मासनं ॥ १ ॥

तत्र सुखासनलक्षणम्—

[illegible]
[illegible] न वासनः ॥ १ ॥

णिराउहा निरायुधा [illegible], अथवा निरायुषो प्राणुकान्

[illegible]

प्रदेशान् हन्ति गच्छतीति निरायुर्हा । संता शान्तरूपा अक्रूरस्वभावा । परकियनिलयनिवासा परेण केनचित्कृते निलये उपाश्रये निवासः स्थितिर्यस्यां सा परकृतनिलयनिवासा सर्पवत् । पव्वज्जा एरिसा भणिया प्रव्रज्या ईदृशी भणिता प्रतिपादिता प्रियकारिणीपुत्रेणेति शेषः ।

उवसमखमदमजुत्ता सरीरसक्कारवज्जिया रुक्खा ।
मयरायदोसरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ५२ ॥

उपशमक्षमादमयुक्ता शरीरसंस्कारवर्जिता रूक्षा ।
मदरागदोषरहिता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

उवसमखमदमजुत्ता उपशमेन कर्मक्षपेण निर्जरया संवरेण अक्रूरपरिणामेन वा युक्ता, क्षमया-उत्तमक्षमया युक्ता । उक्तं च शुभचन्द्रेण योगिना—

आकृष्टोऽहं हतो नैव हतो वा न द्विधाकृतः ।
मारितो न हतो धर्मो मदीयोऽनेन बन्धुना ॥ १ ॥

दमेन युक्ता जितेन्द्रिया व्रतोपपन्ना वा । सरीरसक्कारवज्जिया शरीरसंस्कारवर्जिता स्नानकेशसुगन्धद्रव्यशृङ्गाररहिता । रुक्खा तैलाभ्यङ्गरहिता । मयरायदोसरहिया मदरहिता रागरहिता वा, प्रीतिलक्षणरागरहिता, अप्रीतिलक्षणदोषरहिता दोषैर्वा मलादिव्यतीचा-रलेन रहिता । पव्वज्जा एरिसा भणिया प्रव्रज्या ईदृशी भणिता प्रतिपादिता सिद्धार्थनन्दनेनेति शेषः ।

विवरीयमूढभावा पणट्ठकम्मट्ठ णट्ठमिच्छत्ता ।
सम्मत्तगुणविसुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ५३ ॥

विपरीतमूढभावा प्रणष्टकर्माष्टा नष्टमिथ्यात्वा ।
सम्यक्त्वगुणविशुद्धा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

विवरीयमूढभावा विपरीतमूढभावा विशेषेण परि समन्तात् इतो गतो नष्टो मूढभावो जडतास्वरूपं यस्याः सा विपरीतमूढभावा। **पणट्ठकम्मट्ठ णट्ठमिच्छत्ता** प्रणष्टानि कर्माण्यष्टौ यस्यां सा प्रणष्टकर्माष्टा नष्टमिथ्यात्वा पञ्चमिथ्यात्वरहिता । उक्तं च—

एयंत बुद्धदरिसी विवरीओ बंभ तावसो विणओ ।
इंदो वि य संसयिदो मक्कडियो चेव अण्णाणी ॥ १ ॥

अस्या अयमर्थः—सर्वथा क्षणविनाशवादी बुद्धः । ब्रह्मवादी विपरीतः आत्मानं शाश्वतमेवैकान्तेन मन्यते । तापसो वैनयिकः सर्वविनयेन मोक्षं मन्यते गुणदोषविचारणा तन्मते नास्ति । इन्द्रचन्द्रनागेन्द्रवादी संशयमिथ्यादृष्टिः श्वेतपटजैनाभासाश्च। संशयवादी किलैवं मन्यते—

सेयंबरो य आसंबरो य बुद्धो य तह य अण्णो य ।
समभावभावियप्पा लहेइ मोक्खं ण संदेहो ॥ १ ॥

मस्करपूरणः खल्वेवं वदति—

अण्णाणादो मोक्खं णाणं णत्थित्ति मुक्कजीवाणं ।
पुणरागमणं भमणं भवे भवे णत्थि जीवाणं ॥ १ ॥

सम्मत्तगुणविसुद्धा सम्यक्त्वमेव गुणस्तेन विशुद्धा निर्मला, अथवा सम्यक्त्वगुणैर्निःशंकितनिष्कांक्षितनिर्विचिकित्सितामूढदृष्ट्युपगूहनस्थितीकरणवात्सल्यप्रभावनालक्षणैरष्टभिः सम्यक्त्वगुणैर्विशुद्धा विशेषेण निर्मला पंचविंशतिदोषरहिता सम्यक्त्वगुणविशुद्धा । **पव्वज्जा एरिसा भणिया**

१ एकान्तो बुद्धदर्शी विपरीतो ब्राह्मण तापसः विनयः ।
इन्द्रोऽपि च संशयितः मस्करी चैवाज्ञानी ॥ १ ॥
२ श्वेताम्बरः आशाम्बरश्च बुद्धश्च तथा च अन्यश्च ।
३ अज्ञानतो मोक्षं ज्ञानं नास्तीति मुक्तजीवानाम् ।
पुनरागमनं भ्रमणं भवे भवे नास्ति जीवानाम् ॥ १ ॥

त्या दीक्षा ईदृशी भणिता प्रतिपादिता चतुर्विंशतितमेन तीर्थ-
तेति शेषः ।

जिणमग्गे पव्वज्जा छहसंघयणेसु भणिय णिग्गंथा ।
भावंति भव्वपुरिसा कम्मक्खयकारणे भणिया ॥ ५४ ॥

जिनमार्गे प्रव्रज्या षट्संहननेषु भणिता निर्ग्रन्था ।
भावयन्ति भव्यपुरुषाः कर्मक्षयकारणे भणिता ॥

जिणमग्गे पव्वज्जा जिनमार्गे आर्हतशासने प्रव्रज्या दीक्षा । छहसंघयणेसु षट्संहननेषु वज्रर्षभनाराचवज्रनाराचनाराचार्धनाराच-कीलिकाप्राप्तासृपाटिकानामसु षट्सु संहननेषु । भणिय णिग्गंथा भणिता प्रतिपादिता श्रीन्द्रभूतिनामगणधरदेवेनेति शेषः । कथंभूता भणिता, निर्ग्रन्था यथाजातरूपधारिणी यतोऽस्मिन् क्षेत्रेऽन्त्यो निर्ग्रन्थो ह्नो यो भविष्यति पंचमकालस्यान्ते स किलाप्राप्तासृपाटिको संह-भविष्यति तेन षष्टेऽपि संहनने निर्ग्रन्थप्रव्रज्या ज्ञातव्या । भावंति व्वपुरिसा भावयन्ति मानयन्ति एतद्वचनं, के ? भव्यपुरुषा आसन्न-व्यजीवाः । कम्मक्खयकारणे भणिया पारम्पर्येण कर्मक्षयकारणे ोक्षप्राप्तिनिमित्तं भणिता प्रतिपादिता ।

तिलओसत्तनिमित्तं समबाहिरगंथसंगहो णत्थि ।
पावज्ज हवइ एसा जह भणिया सव्वदरिसीहिं ॥ ५५ ॥

तिलकोशत्वमात्रं समबाह्यग्रन्थसंग्रहो नास्ति ।
प्रव्रज्या भवति एषा यथा भणिता सर्वदर्शिभिः ॥

तिलओसत्तनिमित्तं तिलस्य पितृप्रियबीजस्य कोशत्व प तिलतुषमात्रमपि अश्रमणपरिग्रहः । समबाहिरगंथसंगहो ण

१ अत्रस्थले सवत्र एतादृगेव पाठः ।

तिलतुषमात्रसमोऽपि बाह्यग्रन्थस्य संग्रहो नास्ति न विद्यते। पावज्ज हवइ एसा प्रव्रज्या भवत्येषा। जह भणिया सव्वदरिसीहिं यथा भणिता सर्वदर्शिभिः सर्वज्ञदेवैरिति।

उवसग्गपरिसहसहा णिज्जणदेसे हि णिच्च अत्थेइ।
सिल कट्ठे भूमितले सव्वे आरुहइ सव्वत्थ ॥ ५६ ॥

उपसर्गपरीषहसहा निर्जनदेशेहि नित्यं तिष्ठति।
शिलायां काष्ठे भूमितले सर्वाणि आरोहति सर्वत्र ॥

उवसग्गपरिसहसहा उपसर्गाश्च तिर्यग्मानवदेवाचेतनभवाश्चतुः-प्रकाराः, परीषहाश्च पूर्वोक्ता द्वाविंशतिः उपसर्गपरीषहास्तान् सहते तेषु या सहा समर्था उपसर्गपरीषहसहा। **णिज्जणदेसे हि णिच्च अत्थेइ** निर्जनदेशे मनुष्यरहितप्रदेशे वने हि-स्फुटं नित्यं तिष्ठति। **सिल कट्ठे भूमितले** शिलाया दृषदि, काष्ठे दारुफलके, भूमितले भूमौ तृणाग्रां वा। **सव्वे आरुहइ सव्वत्थ** एतानि सर्वाणि, आरोहति उपविशति शेते च सर्वत्र वने ग्रामनगरादौ वा।

पसुमहिलसंढसंगं कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ।
सज्झायझाणजुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ५७ ॥

पशुमहिलाषण्ढसंगं कुशीलसंगं न करोति विकथाः।
स्वाध्यायध्यानयुक्ता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

पसुमहिलसंढसंगं यत्र पशवो भवन्ति तत्र न स्थीयते, यत्र महिला भवन्ति यत्र षंढा नपुंसकानि भवन्ति तत्र न स्थीयते। **कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ** कुशीलस्य कुत्सिताचारस्य साधुलोकशिक्षापराङ्मुखस्य संगं न करोति—तत्संगतो दुर्ध्यानमुत्पद्यते, न करोति विकथाश्च राजकथास्त्रीकथाभोजनकथाचोरकथाश्चेति। **सज्झायझाणजुत्ता** स्वा-

ध्यायेन वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशलक्षणेन पंचविधेन युक्ता प्रव्रज्या भवति, ध्यानेन धर्म्यध्यानशुक्लध्यानद्वयेन युक्ता आर्त्तरौद्रदुर्ध्यानद्वयरहिता। पव्वज्जा एरिसा भणिया प्रव्रज्या जैनी दीक्षा ईदृशी एतल्लक्षणविराजमाना भणिता प्रतिपादिता अकलङ्कदेवेनेति शेषः।

तववयगुणेहिं सुद्धा संजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य।
सुद्धा गुणेहिं सुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया॥ ५८॥

तपोव्रतगुणैः शुद्धा संयमसम्यक्त्वगुणविशुद्धा च।
शुद्धा गुणैः शुद्धा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता॥

तववयगुणेहिं सुद्धा तपोभिरिच्छानिरोधलक्षणैर्द्वादशभिः, व्रतैरहिंसादिभिः पंचभिः रात्रिभोजनपरिहारव्रतषष्ठैः, गुणैश्चतुरशीतिलक्षलक्षणैः शुद्धा उज्ज्वला। संजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य संयमा इन्द्रियप्राणसंयमलक्षणा द्वादश, सम्यक्त्वानि दशप्रकाराणि द्वित्रिप्रकाराणि च, ते च ते गुणा आत्मोपकारकाः परिणामविशेषास्तैर्विशुद्धा निर्मला प्रव्रज्या भवति। निसर्गजमधिगमजं सम्यक्त्वं द्विविधं, उपशमवेदकक्षायिकभेदात्सम्यक्त्वं त्रिविधं।

"आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढं च"

इत्यार्षकथिताः सम्यक्त्वस्य दशप्रकारा ज्ञातव्याः। तद्विवरणं वृत्तत्रये यथा—

आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञयैव
त्यक्तग्रन्थप्रपंचं शिवममृतपथं श्रद्दधन्मोहशान्तेः।
मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता-
या सद्ज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशादिरादेशि दृष्टिः॥ १॥

१ द्वादशाने पृष्टेऽप्युक्ताः। २ एते त्रयः श्लोकाः त्रयोदशमे पृष्टेऽप्युक्ताः सविवरणाः।

आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्दधानः
सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः ।
कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमशमवशाद्बीजदृष्टिः पदार्थान्
संक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साधु संक्षेपदृष्टिः ॥ २ ॥
यः श्रुत्वा द्वादशाङ्गीं कृतरुचिरिह तं विद्धि विस्तारदृष्टिं
संजातार्थात्कुतश्चित्प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थदृष्टिः ।
दृष्टिः साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा
कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा ॥ ३ ॥

सुद्धा गुणेहिं सुद्धा या प्रव्रज्या गुणैः कृत्वा शुद्धा सा शुद्धा कथ्यते न तु नाममात्रेण शुद्धेत्यर्थः । पव्वज्जा एरिसा भणिया प्रव्रज्या दीक्षेदृशी भणिता [illegible] ।

एवं आयत्तणगुणपज्जत्ता बहुविसुद्धसम्मत्ते ।
णिग्गंथे जिणमग्गे संखेवेणं जहाखादं ॥ ५९ ॥

एवं आयतनगुणपर्याप्ता बहुविशुद्धसम्यक्त्वे
निर्ग्रन्थे जिनमार्गे संक्षेपेण यथाख्याता ॥

एवं [illegible] आयत्तणगुणपज्जत्ता [illegible] आयतनगुण- [illegible] । बहुविसुद्धसम्मत्ते [illegible]

[illegible]

[illegible] ॥ १ ॥

[illegible]

निर्ग्रन्थे लिङ्गे । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] ।

पञ्चदशा–[illegible] [illegible] ।

प्रव्रज्या योऽस्य [illegible] [illegible] सूत्रपदानि [illegible]-[illegible]न्यानि । तथा हि

जातिर्मूर्तिश्च तत्रस्थं लक्षणं सुन्दराङ्गता।
प्रभामण्डलचक्राणि तथाभिषवनाथते ॥ १ ॥
सिंहासनोपधाने च छत्रचामरघोषणाः ।
अशोकवृक्षनिधयो गृहशोभावगाहने ॥ २ ॥
क्षेत्रज्ञाज्ञा सभा कीर्तिर्वन्द्यता वाहनानि च ।
भाषाहारसुखानीति जात्यादिः सप्तविंशतिः ॥ ३ ॥

इति त्रिभिः श्लोकैः सप्तविंशति प्रव्रज्यासूत्रपदानि ज्ञातव्यानि। एतेषां विवरणं तेनैव कृतं वर्तते । तथा हि—

जात्यादिकानिमान् सप्तविंशति परमेष्ठिनाम् ।
गुणानाहुर्भजेदीक्षां(क्षा) स्वेषु तेष्वकृतादरः ॥ १ ॥
जातिमानप्यनुत्सिक्तः संभजेदर्हतां क्रमौ ।
यतो जात्यन्तरे जात्यां याति जातिं चतुर्थीम् ॥ २ ॥

जातौ भवा ज्यात्या ता जात्यां उत्तमां जातिं मुनिर्याति । कस्मिन् जात्यन्तरे चतुःप्रकारजातिभेदे । किं कुर्वाणः ? अर्हत्क्रमौ भजमानः ।

जातिरैन्द्री भवेद्दिव्या चक्रिणां विजयाश्रिता ।
परमा जातिरार्हन्त्ये स्वात्मोत्था सिद्धिमीयुषाम् ॥ ३ ॥
मूर्त्यादिष्वपि नेतव्या कल्पनेयं चतुर्थी ।
पुराणज्ञैरसंमोहात्क्वचिच्च त्रितयी मता ॥ ४ ॥

कर्शयन् मूर्तिमात्मीयां रक्षन् मूर्तीः शरीरिणां।
तपोऽधितिष्ठेद्दिव्यादिमूर्तीराप्तुमना मुनिः ॥ ५ ॥
स्वलक्षणमनिर्देश्यं मन्यमानो जिनेशिनां।
लक्षणान्यभिसंधाय तपस्येत्कृतलक्षणः ॥ ६ ॥
म्लापयन् स्वाङ्गसौन्दर्यं मुनिरुग्रं तपश्चरेत्।
वाञ्छन् दिव्यादिसौन्दर्यमनिवार्यं परं परं ॥ ७ ॥
मलीमसाङ्गो व्युत्सृष्टस्वकायप्रभवप्रभः।
प्रभोः प्रभां मुनिर्ध्यायन् भवेत्क्षिप्रं प्रभास्वरम् ॥ ८ ॥
स्वं मणिस्नेहदीपादितेजोऽपास्य जिनं भजन्।
तेजोमयमयं योगी स्यात्तेजोवलयोज्वलः ॥ ९ ॥
त्यक्त्वाऽस्त्रवस्त्रशस्त्राणि प्राक्तनानि प्रशान्तभाक्।
जिनमाराध्य योगीन्द्रो धर्मचक्राधिपो भवेत् ॥ १० ॥
त्यक्तस्नानादिसंस्कारः संसृत्य स्नातकं जिनं।
मूर्ध्नि मेरोरवाप्नोति परं जन्माभिषेचनं ॥ ११ ॥
स्वं स्वाम्यमीदृशं त्यक्त्वा परमस्वामिनं जिनं।
सेवित्वा सेवनीयत्वमेष्यत्येष जगज्जनैः ॥ १२ ॥
स्वोचितासनभेदानां त्यागात्यक्ताम्बरो मुनिः।
सिद्धं विष्टरमध्यास्य तीर्थप्रणायको भवेत् ॥ १३ ॥
स्वोपधानाद्यनादृत्य योऽभून्निरुपधिर्मुनिः।
[illegible] ॥ १४ ॥
[illegible]
[illegible]
त्यक्त[illegible]नातपत्राणसकलात्मपरिच्छदः।
त्रिभिश्छत्रैः समुद्भासिरत्नैरुद्भासते स्वयं ॥ १६ ॥
विविधव्यजनत्यागादनुष्ठिततपोविधिः।
चामराणां चतुःषष्ट्या वीज्यते जिनपर्यये ॥ १७ ॥
उज्झितान (ने) कसंगीतघोषः कृत्वा तपोविधिं।
स्याद्दिव्यदुन्दुभिनिर्घोषैर्घुष्यमाणजयोदयः ॥ १८ ॥

[illegible] तपो [illegible] ।
[illegible] ॥ १९ ॥
[illegible] निर्ममत्वाश्रितः ।
[illegible] गुरुः ॥ २० ॥
[illegible] तपस्यतः ।
[illegible] पुंसां ॥ २१ ॥
तपोधिगमनादस्य [illegible] ।
त्रिजगज्जननाथानतः स्याद् [illegible] ॥ २२ ॥
[illegible] ।
स्याद्धति त्रिजगत् [illegible] ॥ २३ ॥
आत्माभिमानमुत्सृज्य मौनमास्थितवानथ ।
प्राप्नोति परमामार्हां सुरासुरशिरोधृतां ॥ २४ ॥
स्वामित्वमूत्यदभ्यादि [illegible] ।
परमात्मपदप्राप्ता [illegible] त्रिजगत्सभा ॥ २५ ॥
स्वगुणोत्कीर्तनं त्यक्त्वा त्यक्तकामो महातपाः ।
स्तुतिनिन्दासमो भूपः कीर्त्यते भुवनेश्वरैः ॥ २६ ॥
वन्दित्वा वन्द्यमर्हन्तं यतोऽनुष्ठितवांस्तपः ।
ततोऽयं वन्द्यते वन्द्यैरनिन्द्यगुणसन्निधिः ॥ २७ ॥
तपोऽयमनुपानत्कः पादचारी विवाहनः ।
कृतवान् पद्मगर्भेषु चरणन्यासमर्हति ॥ २८ ॥
वाग्गुप्तो हितवाग्वृत्या यतोऽयं तपसि स्थितः ।
ततोऽस्य दिव्यभाषा स्यात्प्रीणयन्त्यखिलां सभां ॥ २९ ॥
अनाश्वान्नियताऽऽहारपारणोऽतप्यत तपः ।
तदस्य दिव्यविजयपरमामृततृप्तयः ॥ ३० ॥
त्यक्तकामसुखो भूत्वा तपस्यत्स्थिरं यतः ।
ततोऽयं सुखसाद्भूतः परमानन्दथुं भजेत् ॥ ३१ ॥
किमत्र बहुनोक्तेन यद्यदिष्टं यथाविधं ।
त्यजेन्मुनिरसंकल्पस्तत्तत् सतेऽस्य तत्तपः ॥ ३२ ॥

ज्ञानादीन् गुणानुत्पादयति मुक्तिं गच्छति । एतदर्थं जिणा बिंति केव-लिनो जानन्ति ।

भावविसुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भन्तरगंथजुत्तस्स ॥३॥

भावविशुद्धिनिमित्तं बाह्यग्रन्थस्य क्रियते त्यागः ।
बाह्यत्यागो विफलः अभ्यन्तरग्रन्थयुक्तस्य ॥

भावविसुद्धिणिमित्तं भावस्यात्मनो विशुद्धिनिमित्तं कारणं । बाहिरगंथस्स कीरए चाओ बाह्यग्रन्थस्य क्रियते त्यागः वस्त्रादि-मोचनं विधीयते । बाहिरचाओ विहलो बाह्यत्यागो विफलोऽनर्थकृद् भवति । अब्भंतरगंथजुत्तस्स अभ्यन्तरपरिग्रहयुक्तस्य नग्नस्यापि व-स्त्रादित्यागाकांक्षायुक्तस्येति भावः । तथा चोक्तं—

बाह्यग्रन्थविहीना दरिद्रमनुजाः स्वपापतः सन्ति ।
यः पुनरन्तःसंगत्यागी लोके स दुर्लभः साधुः ॥ १ ॥

भावरहिओ ण सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ ।
जम्मंतराइं बहुसो लंबियहत्थो गलियवत्थो ॥४॥

भावरहितो न सिद्ध्यति यद्यपि तपश्चरति कोटिकोटी ।
जन्मान्तराणि बहुशः लम्बितहस्तो गलितवस्त्रः ॥

भावरहिओ ण सिज्झइ भावरहित आत्मसम्यक्त्वभावनारहितो जिनसम्य-क्त्वभावनारहितस्तपस्वी मुनिर्न सिद्ध्यति न सिद्धिं प्राप्नोति । जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ यद्यपि तपश्चरति कोटि कोटी-कोटी । जम्मंतराइं जन्मान्तराणि । बहुसो अनेकवारान् कोटीकोटीजन्मान-न्तरेषु । कायोत्सर्गस्थः सन्, लंबियहत्थो अधोलम्बितबाहुद्वयः । गलिय-वत्थो वस्त्ररहितोऽपि सन् ।

१ विफल०, म । २ बम म ब । ३ म. टी. ।

परिणामम्मि असुद्धे गंथे मुञ्चेइ बाहरे य जई।
बाहिरगंथच्चाओ भावविहूणस्स किं कुणइ ॥ ५ ॥

परिणामे अशुद्धे ग्रन्थान् मुञ्चति बाह्यान् च यदि।
बाह्यग्रन्थत्यागो भावविहीनस्य किं करोति ॥

परिणामम्मि असुद्धे परिणामे मनोव्यापारेऽशुद्धेऽपि विषयकषायादिभिर्मलिने सति। गंथे मुञ्चेइ बाहिरे य जई ग्रन्थान् मुञ्चति परिग्रहान् वस्त्रादीन् त्यजति यतिर्जिनलिंगधारी मुनिः। बाहिरगंथच्चाओ बाह्यग्रन्थत्यागो वस्त्रादित्यजनं। भावविहूणस्स किं कुणइ भावविहीनस्यात्मभावनारहितस्य बहिरात्मनो जीवस्य किं करोति, न किमपि कर्म संवरनिर्जरालक्षणं कार्यं करोतीति भावार्थः।

जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहिएण।
पंथिय सिवउरिपंथं जिणउवइट्ठं पयत्तेण ॥ ६ ॥

जानीहि भावं प्रथमं किं ते लिङ्गेन भावरहितेन।
पथिक ! शिवपुरीपथः जिनोपदिष्टः प्रयत्नेन ॥

जाणहि भावं पढमं जानीहि भावमात्मस्वरूपभावनां प्रथमं मुख्यं। किं ते लिंगेण भावरहिएण किं तव लिंगेन भावरहितेन किं, न किमपि संवरनिर्जरादिलक्षणं कार्यं, अपि तु न किमपि कार्यं भवति लिंगेन वस्त्रादित्यजनलक्षणेनात्मस्वरूपभावनारहितेन। पंथिय हे पथिक ! मोक्षमार्गमार्गक! सिवउरिपंथं मोक्षनगरीमार्गः। जिणउवइट्ठं जिनोपदिष्टः। प्रयत्नेन यतः कारणादिति शेषः।

भावरहिएण सउरिस अणाइकालं अणंतसंसारे।
गहिउज्झियाइं बहुसो बाहिरनिग्गंथरूवाइं ॥ ७ ॥

१ विहीनस्य. इति मूलगाथापाठः। किन्तु टीकायां क. ख. ग. घ. पुस्तके विहूणस्स इति पाठः। तदनुसारेण प्रवर्तितः। २ करइ इति मूलगाथापाठः २ ह. टी.।

भावरहितेन सत्पुरुष ! अनादिकालं अनन्तसंसारे ।
गृहीतोज्झितानि बहुशः बाह्यनिर्ग्रन्थरूपाणि ॥

भावरहिएण सउरिस भावरहितेन सत्पुरुष ! भावलिंगरहितेन [illegible] । अणाइकालं अणंतसंसारे अनादि[illegible] कालमनन्तसंसारे । गहिउज्झियाई बहुसो गृहीतोज्झितानि [illegible] बहुशोऽनेकवारान् । बाहिरणिग्गंथरूवाई बहिर्निर्ग्रन्थरूपाणि [illegible] [illegible] भावः ।

सीयत्ताणायवाईं सिसिराईं कुदेवगुणयाए।
पत्तोसि तिव्वदुक्खं भावहि जिणभावणा जीवं ॥ ८ ॥
[illegible]
[illegible] भावय जिनभावनां जीव ! ॥

सीयत्ताणायवाईं [illegible] । सिसिराईं [illegible] । कुदेवगुणयाए [illegible] । पत्तोसि तिव्वदुक्खं प्राप्तोऽसि तीव्र [illegible] । भावहि जिणभावणा जीव [illegible] [illegible] जिनभावनां [illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]

जिण पुज्जहि जिणवर थुणहि जिणहं म खंडहि आण ।
जे जिणधम्मिसु रत्तमण ते आणिज्जइ जाण ॥
पक्खहि फुल्लहि माहिदेइ जु सुरनरविंदडी ।
पडी करइ कुसादियपु भोलिम जिणवरतणी ॥

अन्यच्च—

सुखयतु सुरभूमिः कामिनं कामिनीव
सुतमिव जननी मां शुद्धशीला भुनक्तु ।
कुलमिव गुणभूषा कन्यका संपुनीता-
ज्जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः ॥ १ ॥

एवमर्थं ज्ञात्वा ये जिनपूजनस्नपनस्तवननवजीर्णचैत्यचैत्यालयोद्धारण-यात्राप्रतिष्ठादिकं महापुण्यं कर्म कर्मविध्वंसकं तीर्थंकरनामकर्मदायकं निरीहं निदानरहितं प्रभावनाङ्गं गृहस्थाः सन्तोऽपि निषेधन्ति ते पापात्मानो मिथ्यादृष्टयो नरकादिदुःखं चिरकालमनुभवन्ति अनन्तसंसारिणो भवन्तीति भावार्थः ।

सत्तसुनरयावासे दारुणभीसाइं असहणीयाइं ।
भुत्ताइं सुइरकालं दुक्खाइं निरंतरं सहियं[1] ॥ ९ ॥

सप्तसुनरकवासे दारुणभीष्माणि असहनीयानि ।
भुक्तानि सुचिरकालं दुःखानि निरन्तरं सहित ! ॥

सत्तसुनरयावासे सप्तानां सुनरकाणां महानरकाणां वासे निवासे सति हे जीव ! । दारुणभीसाइं दारुणानि तीव्राणि, भीष्माणि भयानकानि । असहणीयाइं असहनीयानि असह्यानि सोढुमशक्यानि । भुत्ताइं भुक्तानि अनुभूतानि । सुइरकालं सुष्ठु अतीव चिरकालं दीर्घकालं एकसागरमारभ्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमपर्यन्तमुत्कृष्टायुष्कं । दुःखान्य-

1 सहियं. क. ख. ग. पुस्तके मूलपाठः । टीकायां तु सहिय इति पाठः । तदनुसारेण प्रवर्तितः । भविदा इति. घ. पुस्तके । नार्थोऽस्य तत्र दत्तः ।

सातानि कष्टानि भुक्तानि निरन्तरमविच्छिन्नं । सहिय हे स्वहित ! हे आत्महित ! किं त्वया आत्मनो हितं कृतमित्याक्षेपः ।

खणणुत्तावणवालणवेयणविच्छेयणाणिरोहं च ।
पत्तोसि भावरहिओ तिरियगईए चिरं कालं ॥ १० ॥

खननोत्तापनज्वालनव्यजनविच्छेदनानिरोधं च ।
प्राप्तोऽसि भावरहितः तिर्यग्गतौ चिरं कालम् ॥

खणण पृथिवीकायस्त्वं यदा जातस्तदा खननं कुद्दालादिनाऽवदारणदुःखं त्वया सोढं । **उत्तावण** अप्कायस्त्वं यदाभूतस्तदाऽग्न्युपर्युत्तापनदुःखं त्वया क्षमितं । **वालणं** अग्निकायिको जीवो यदा त्वं जातस्तदा ज्वालनदुःखं त्वयानुभूतं । **वेयण** वायुकायिको जीवो यदा त्वं जातस्तदा व्यजनादिनावीजनदुःखं त्वया तितिक्षितं । **विच्छेयणा** हे जीव ! वनस्पतिकायिको जीवो यदा त्वं उत्पन्नस्तदा विच्छेदना कुठारादिना कर्षण दुःखं त्वया मृषितं । **णिरोहं च** शंखशुक्तिवृश्चिकगोभिभ्रमरमक्षिकावर्दीवर्दमहियादिकस्त्वं समुत्पन्नस्तदा निरोधादि दुःखं त्वया भुक्तं । इति स्थावरत्रसदुःखानि अनुक्रमेण सूचितानि भवन्तीति ज्ञातव्यं । **पत्तोसि भावरहिओ** प्राप्तोऽसि भावरहितो जिनभक्तिभ्रष्ट आत्मभावनादूरीकृतश्च । **तिरियगईए चिरं कालं** तिर्यग्गतौ दीर्घं कालं असंख्यातवर्षपर्यन्तं वनस्पतिकायापेक्षयानन्तकालं चेत्यागमानुसारेण ज्ञातव्यम् ।

आगंतुक माणसियं सहजं सारीरियं च चत्तारि ।
दुक्खाइं मणुयजम्मे पत्तोसि अणंतयं कालं ॥ ११ ॥

आगन्तुकं मानसिकं सहजं शारीरिकं च चत्वारि ।
दुःखानि मनुजजन्मनि प्राप्तोसि अनन्तकं कालम् ॥

---

१ तिरय इति मूलगाथापाठः ।

आगंतुक आगन्तुकं दुःखं विद्युत्पातादिकं । मानसिकदुःखं कटाक्षादिताडने सति तदप्राप्तौ भवति । तथा चोक्तं—

संसारे नरकादिषु स्मृतिपथेऽप्युद्वेगकारीण्यलं
दुःखानि प्रतिसेवितानि भवता तान्येवमेवासताम् ।
तत्तावत्स्मरसि स्मरस्मितशितापाङ्गैरनङ्गायुधै-
र्वामानां हिमदग्धमुग्धतरुवद्यत्प्राप्तवान्निर्धनः ॥ १ ॥

सहजं व्याधिवेदनोत्पन्नं दुःखं । शारीरिकं छेदनभेदनादिकं दुःखं । चकारात् दुर्जनमुखपार्श्वस्तेन खलजनोक्तमिथ्यावचनश्रवणे यद्दुःखं भवति तत् केनापि सोढुं न शक्यते । तदुक्तं रुद्रटेन महाकविना—

शक्यमपि स्फुरत्कुन्तैः सोढुं शक्येत हालाहलदिग्धं ।
धीरैर्न पुनरकारणकुपितखलालीकदुर्वचनं ॥ १ ॥

चत्तारि एतानि चत्वारि । दुक्खाइं दुःखानि । मणुयजम्मे मनुजजन्मनि मनुष्यभवे । पत्तोसि प्राप्तोऽसि हे जीव ! त्वं प्राप्तवानसि भवसि । अणंतयं कालं अनन्तकं कुत्सितमनन्तं कालं समयमिति ।

सुरनिलएसु सुरच्छरविओयकाले य माणसं तिव्वं ।
संपत्तोसि महाजस दुःखं सुहभावणारहिओ ॥ १२ ॥

सुरनिलयेषु सुराप्सरोवियोगकाले च मानसं तीव्रम् ।
संप्राप्तोऽसि महायशः ! दुःखं शुभभावनारहितः ॥

सुरनिलएसु स्वर्गेषु । सुरच्छरविओयकाले देवाविशेषावसरे च वल्लभदेवी जाता तस्य देवविरहकाले । माणसं तिव्वं इन्द्राणीदृशां मानसं मनसि भवं दुःखं त्वं प्राप्तः, तद्दुःखं [illegible] । मनुष्यभवे प्राप्तेऽपि निर्मलचारित्रं न पालितं [illegible] तु निरतिचारं चारित्रं [illegible] तेनात्र मम [illegible]

१ [illegible] म. ।

ददाति स तु दुरितक्रमः कथं मया नानुष्ठीयते इत्यादि मानसं तीव्रं दुःख हे जीव ! त्वं संपत्तोमि सम्यक्प्रकारेण प्राप्तोऽसि अनुभूतवानसि। महाजस महत् त्रैलोक्यव्यापनशीलं यशः पुण्यगुणानुकीर्तनं यस्य स भवति महायशाः तस्य सम्बोधनं क्रियते कुन्दकुन्दाचार्येण हे महायशः ! । दुक्खं सुह भावणारहिओ ईदृग्विधं दुःखं कस्मात्प्राप्तमित्याह–सुहभावणारहिओ–शुभस्य विशिष्टपुण्यस्य भावनारहितः । कासौ शुभभावना? दर्शनविशुद्धयादय षोडशभावना शुभास्तीर्थकरनामकर्मोपार्जनहेतुत्वात् । अतिशयेन शुभाऽत्र जिनसम्यक्त्वभावना, मिथ्यात्वभावना त्वतीव पापीयसी। तथा चोक्तं समन्तभद्रेण महाकविना–

न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥ १ ॥

सम्यक्त्वभावनया एकयापि तीर्थकरनामकर्म बद्ध्यते पंचदशापरभावना विनापि। तस्य सम्यक्त्वस्य शुद्धता चर्मजलघृततैलहिंगुवर्जनेन भवति। अन्येनाप्युपासकाध्ययनादिशास्त्रोक्तेनाचारेण विस्तरेण ज्ञातव्या। तथा चोक्तं शिवकोटिनाचार्येण––

चर्मपात्रगतं तोयं घृतं तैलं प्रवर्जयेत् ।
नवनीतप्रसूनादि शाकं नाद्यात्कदाचन ॥ १ ॥

कंदप्पमाइयाओ पंच वि असुहादिभावणाई य ।
भाऊण दव्वलिंगी पहीणदेवो दिवे जाओ ॥ १३ ॥

कान्दर्पीत्यादयः पंच अपि अशुभादिभावनाश्च ।
भावयित्वा द्रव्यलिङ्गी प्रहीणदेवः दिवि जातः ॥

कंदप्पमाइयाओ कान्दर्पी इत्येवमादिकाः । पंच वि असुहादिभावणाई य पंचापि अशुभशब्दादयो भावनाश्च कान्दर्पीप्रभृतयः

१ कंदप्पमाहियाओ इति. मूलगाथापाठः क. पुस्तके, न तु ख. पुस्तके। कंदप्पमादियाओ इति. ग. घ. पुस्तके।

पंचाशुभभावना इत्यर्थ। भाऊण दव्वलिंगी तास्त्वं भावयित्वा द्रव्यलिंगः सन्। पहीणदेवो दिवे जाओ प्रहीणदेवो—हीनदेवः प्रकर्षेण नीचदेवः किल्विषादिको देवः दिवे—स्वर्गे हे जीव! त्वं जात उत्पन्नः। कास्ताः पंचाशुभभावना इत्याह—कान्दर्पी, कैल्विषी, आसुरी, संमोही, आभियोगिकी चेति एतासां नामानुसारेणार्थश्चिन्तनीयः। उक्तं च शुभचन्द्रेण योगिना—

> कान्दर्पी कैल्विषी चैव भावना चाभियोगिकी।
> दानवी चापि सम्मोही त्याज्या पंचतयी च सा॥ १॥

> पासत्थभावणाओ अणाइकालं अणेयवाराओ।
> भाऊण दुहं पत्तो कुभावणाभावबीएहिं॥ १४॥

> पार्श्वस्थभावना अनादिकाले अनेकवारान्।
> भावयित्वा दुःखं प्राप्तः कुभावनाभावबीजैः॥

पासत्थभावणाओ पार्श्वस्थभावनाः। अणाइकालं अणेयवाराओ अनादिकालमादिरहितकालपर्यन्तं, अनेकवारानन्तवारान्। भाऊण दुहं पत्तो भावयित्वा दुःखं हे जीव! त्वं प्राप्तः प्राप्तवान्। कुभावणाभावबीएहिं कुभावनानां भावाः परिणामास्त एव बीजान्यंकुरोत्पत्तिहेतवस्तैः कुभावनाभावबीजैः। कास्ताः पार्श्वस्थपंचभावनाः? यो वसतिषु प्रतिबद्ध उपकरणोपजीवी श्रवणानां पार्श्वे तिष्ठति स पार्श्वस्थः। क्रोधादिकषायकलुषितात्मा व्रतगुणशीलैः परिहीनः संघस्याविनयकारी कुशील उच्यते। वैद्यकमंत्रज्योतिषोपजीवी राजादिसेवकः संसक्तः कथ्यते। जिनवचनानभिज्ञो मुक्तचारित्रभारो ज्ञानचरणभ्रष्टः करणालसोऽवसन्न आभाष्यते। त्यक्तगुरुकुल एकाकित्वेन स्वच्छन्दविहारी जिनवचनदूषको मृगचारित्रः परिभाष्यते स्वच्छन्द इति वा, एते पंच-

१ तथा च. स. २ तासां पंचतयैव सा इति पुस्तके पाठः। मूलपुस्तकं श्लाघ्यतरं दृष्ट्वा प्रवर्तितः।

दीर्घकालमनन्तकालमनादिकालं । अणेयजणणीण मुणिपवर गर्भवसतिषु अनेका अनन्ता जनन्यो जाताः, हे मुनिप्रवर ! हे मुनीनामुत्तम !।

पीओसि थणच्छीरं अणंतजम्मंतराइं जणणीणं ।
अण्णण्णाण महाजस सायरसलिलादु अहिययरं ॥ १८ ॥

पीतोऽसि स्तनक्षीरं अनन्तजन्मान्तराणि जननीनाम् ।
अन्यासामन्यासां महायशः ! सागरसलिलादधिकतरम् ॥

पीओसि थणच्छीरं पीतोऽसि पीतवान् धयितवानसि स्तनक्षीरं अपवित्रं वक्षोरुहक्षीरं स्तनदुग्धं । **अणंतजम्मंतराइं** अनन्तजन्मान्तराणि अनन्तभवान्तरेषु । **जणणीणं** जननीनां अनन्तमातॄणां । **अण्णण्णाण** अन्यासामन्यासां । **महाजस** महत् त्रैलोक्यव्यापकं यशो यस्य भवति महायशास्तस्य सम्बोधनं क्रियते हे महायश । **सायरसलिलादु अहिययरं** सागरसलिलादप्यधिकतरं अतिशयेनाधिकतरमनन्तसागरजलप्रमाणं ।

तुह मरणे दुक्खेणं अण्णण्णाणं अणेयजणणीणं ।
रुण्णाण णयणणीरं सायरसलिलादु अहिययरं ॥ १९ ॥

तव मरणे दुःखेन अन्यासामन्यासां अनेकजननीनाम् ।
रुदितानां नयननीरं सागरसलिलात् अधिकतरम् ॥

तुह मरणे दुक्खेणं तव मरणे सति दुःखेन कृत्वा "इसा दि दे इ ए तु ते तय तुब्भ तुब्भ तम्ह तुमाइ तुमो तुमे तुम तुव तुहं तइ तुज्झ" इति प्राकृतव्याकरणसूत्रेण तवशब्दस्य तुह इत्यादेशः । **अण्णण्णाणं** अन्यासामन्यासां मानुषीसिंहीव्याघ्रीमार्जारीमृगीगौरीवडवाकोकिलाप्रसूतीनां । **अणेयजणणीण** अनेकजननीनां प्रत्येकमनन्तमातॄणां । **रुण्णाण** रुदितानां । **णयणणीरं** लोचनवाष्पजलं । **सायरसलिलादु अहिययरं** सागरसलिलादधिकतरं प्रत्येकं समुद्रतोयादप्यधिकतरमनन्तसागरसलिलप्रमाणं भवति ।

भवसायरे अणंते छिण्णुज्झियकेसणहरणालट्ठी।
पुंजेइ जइ को वि जए हवदि य गिरिसमधिया रासी॥२०॥

भवसागरे अनन्ते छिन्नोज्झितकेशनखरनालास्थीनि।
पुञ्जयति यदि कश्चिद् देवो भवति च गिरिसमधिका राशिः॥

भवसायरे अणंते भवसागरेऽनन्ते संसारसमुद्रेऽन्तरहिते। छिण्णुज्झियकेसणहरणालट्ठी छिन्नानि उज्झितानि मुक्तानि क्षुरेण नखच्छुरिकया पूर्वं छिन्नानि पश्चादुज्झितानि केशनखरनालास्थीनि। पुंजेइ जइ को वि जए पुंजयति राशीकरोति यदि चेत् कोऽपि शक्रसन्तानागतः कश्चिद्देवः। हवदि य गिरिसमधिया रासी भवति च गिरेर्मेरोरपि समधिका राशिः केशादीनां प्रत्येकमनन्तमेरुसमा राशयो भवन्तीति भावार्थः।

जलथलसिहिपवणंबरगिरिसरिदरितरुवणाइं सव्वत्तो।
वसिओसि चिरं कालं तिहुवणमज्झे अणप्पवसो॥२१॥

जलस्थलशिखिपवनाम्बरगिरिसरिद्दरीतरुवनादिषु सर्वतः।
उषितोऽसि चिरं कालं त्रिभुवनमध्येऽनात्मवशः॥

हे जीव! हे चेतनात्मन्! त्वं जले उदके उषितोऽसि निवासं चकर्थ। थल स्थले भूम्यां। सिहि शिखिनि हुताशने। पवण पवने [illegible]। अंबर अम्बरे निरालम्बे। गिरि पर्वते। सरि सरिति नद्यां। दरि दर्यां गुहायां। तरुवणाइं [illegible]। सव्वत्तो सर्वतः बहुना किं सर्वत्र। वसिओसि चिरं कालं उषितोऽसि चिरं दीर्घकालं [illegible]। तिहुवणमज्झे अणप्पवसो त्रिभुवनमध्येऽनात्मवशः। कि-

१ म. टी.।

जशुद्धबुद्धैकस्वभावचिच्चमत्कारलक्षणटंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावात्मभावना जिनस्वामिसम्यक्त्वभावनाभ्रष्ट इत्यर्थः ।

गसियाइं पुग्गलाइं भुवणोदरवत्तियाइं सव्वाइं ।
पत्तोसि तो ण तित्तिं पुणरूवं ताइं भुंजंतो ॥ २२ ॥

ग्रसिताः पुद्गला भुवनोदरवर्तिनः सर्वे ।
प्राप्तोऽसि तन्न तृप्तिं पुनारूपं तान् भुंजानः ॥

गसियाइं पुग्गलाइं ग्रसिताः पुद्गलाः सर्वेऽप्यणवः । भुवणोदरवत्तियाइं सव्वाइं भुवनोदरवर्तिनः सर्वेऽपि । पत्तोसि तो ण तित्तिं प्राप्तोऽसि तदपि न तृप्तिं धृतिं । पुणरूवं ताइं भुंजंतो पुनारूपं पुनर्नवमिति तान् पुद्गलान् भुंजानः । उक्तं च पूज्यपादेन गणिना—

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः ।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥ १ ॥

तिहुयणसलिलं सयलं पीयं तिण्हाए पीडिएण तुमे ।
तो वि ण तिण्हाछेओ जाओ चिंतेह भवमहणं ॥ २३ ॥

त्रिभुवनसलिलं सकलं पीतं तृष्णया पीडितेन त्वया ।
तदपि न तृष्णाछेदो जातः चिन्तय भवमथनम् ॥

तिहुयणसलिलं सयलं त्रिभुवनसलिलं सकलं । पीयं पीतं त्वया । तिण्हाए तृष्णया । पीडिएण पीडितेनावगाढेन । तुमे त्वया भवता । " तुमइ तुमाइ तुमे तुमए तुमं त (तु) इ त (तु) ए ते दि दे भे टा " इति व्याकरणसूत्रेण टावचनेन सह युष्मदः तुमे आदेशः । तो वि

---

१ पुणरूवं. ग घ. । २ तण्हाइ. ग. घ. । अत्र तकारस्य प्राकृतत्वेन प्लुतं कार । ३ तृष्णाय. टी

तदपि । ण नैव । तिण्हाछेओ तृष्णाच्छेदः । जाओ जातः । चिंतेह भवमहणं हे जीव ! त्वं चिन्तय अन्वेषस्व भवस्य संसारस्य मथनं विनाशनं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमिति भावार्थः ।

गहिउज्झियाइं मुणिवर कलेवराइं तुमे अणेयाइं ।
ताणं णत्थि पमाणं अणन्तभवसायरे धीर ॥ २४ ॥

गृहीतोज्झितानि मुनिवर ! कलेवराणि त्वया अनेकानि ।
तेषां नास्ति प्रमाणं अनन्तभवसागरे धीर ! ॥

गहिउज्झियाइं गृहीतोज्झितानि । हे मुणिवर मुनिश्रेष्ठ ! । कलेवराइं कलेवराणि शरीराणि । तुमे अणेयाइं त्वयाऽनेकान्यनन्तानि । ताणं णत्थि पमाणं तेषां कलेवराणां नास्ति न विद्यते प्रमाणं गणनमनन्तत्वात् । अणतभवसायरे धीर अनन्तभवसागरेऽन्तातीतसंसारसमुद्रे हे धीर ! ध्येयं प्रति धियमीरयतीति धीरस्तस्य सम्बोधनं क्रियते हे धीर ! हे योगीश्वर ! भावचारित्रं विनेति शेषः ।

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसाणं ।
आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जए आऊ ॥ २५ ॥

विषवेदनारक्तक्षयभयशस्त्रग्रहणसंक्लेशानाम् ।
आहारोच्छ्वासानां निरोधनात् क्षीयते आयुः ॥

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसाणं विषवेदनारक्तक्षयभयशस्त्रग्रहणसंक्लेशानां । आहारुस्सासाणं आहारोच्छ्वासानां । णिरोहणा निरोधनात् । खिज्जए आऊ क्षीयते आयुः ।

हिमजलणसलिलगुरुयरपव्वयतरुरुहणपडणभंगेहिं ।
रसविज्जजोयधारणअणयपसंगेहि विविहेहिं ॥ २६ ॥

हिमज्वलनसलिलगुरुतरपर्वततरुरोहणपतनभङ्गैः।
रसविद्यायोगधारणानयप्रसंगैः विविधैः ॥

हिम केषांचिज्जन्तूनां मानवानां च शीतेनापमृत्युर्भवति । **जलण** केषांचिज्ज्वलनेनाग्निनापमृत्युर्भवति । **सलिल** केषांचित्सलिलेन समुद्रादिजलेनापमृत्युर्भवति । **गुरुयरपव्वयतरुरुहणपडणभंगेहिं** गुरुतरा अत्युन्नतशिखरास्ते च ते पर्वतास्तुंगीगिर्यादयः, तथा तरवो वृक्षा गुरुतरपर्वततरवस्तेषां रोहणेन पतनेन च कृत्वा ये भंगाः शरीरामर्दनानि ते तथा तैः हिमज्वलनसलिलगुरुतरतपर्वतरुरोहणपतनभंगैः । **रसविज्जजोयधारणअणयपसंगेहिं** रसस्य विषस्य या विद्या विज्ञानं तस्या योगोऽनेकौषधमेलनं तस्य धारणं सेवनमास्वादनं अनयप्रसंगश्चान्यायकरणं ते रसविद्यायोगधारणानयप्रसंगास्तै रसविद्यायोगधारणानयप्रसंगैः । **विविहेहिं** विविधैर्नानाप्रकारैः । तथा चोक्तं लक्ष्मीधरेण भगवता—

अण्णाए दालिद्दियहं अरे जिय दुहु आयाणु ।
लक्कडियए चिणु खोडयहं मग्गु सचिक्कलु दुग्गु ॥ १ ॥

इय तिरियमणुयजम्मे सुइरं उववज्जिऊण बहुवारं ।
अवमिच्चुमहादुक्खं तिव्वं पत्तोसि तं मित्त ॥ २७ ॥

इति तिर्यङ्मनुष्यजन्मनि सुचिरं उपपद्य बहुवारम् ।
अपमृत्युमहादुःखं तीव्रं प्राप्तोऽसि त्वं मित्र ! ॥

इय तिरियमणुयजम्मे इति पूर्वोक्तप्रकारेण तिर्यङ्मनुष्यजन्मनि । **सुइरं** सुचिरं सुष्ठु दीर्घकालं । **उववज्जिऊण बहुवारं** उपपद्य उत्पद्य जन्म गृहीत्वा बहुवारमनेकवारं । **अवमिच्चुमहादुक्खं** अपमृत्युमहादुःखं । **तिव्वं पत्तोसि** तीव्रं दुःसममहनीयमसमानं प्राप्तोऽसि । **तं मित्त** त्वं भवान् हे मित्र ! हे बन्धो ! हे सुहृत् ! ।

छत्तीसं तिण्णि सया छावट्ठिसहस्सवारमरणाणि ।
अंतोमुहुत्तमज्झे पत्तोसि निगोयवासम्मि ॥ २८ ॥

षट्त्रिंशत् त्रीणि शतानि षट्षष्टिसहस्रवारमरणानि ।
अन्तर्मुहूर्तमध्ये प्राप्तोऽसि निकोतवासे ॥

छत्तीसं तिण्णि सया षट्त्रिंशदधिकत्रिशतानि । छावट्ठिस्सहसवारमरणाणि षट्षष्टिसहस्रवारान् मरणानि ६६३३६। अंतोमुहुत्तमज्झे अन्तर्मुहूर्तमध्ये । पत्तोसि निगोयवासम्मि प्राप्तोऽसि निकोतवासे ।

वियलिंदिए असीदी सट्ठी चालीसमेव जाणेह ।
पंचिंदिय चउवीसं खुद्दभवंतोमुहुत्तस्स ॥ २९ ॥

विकलेन्द्रियाणामशीतिं षष्टिं चत्वारिंशदेव जानीत ।
पञ्चेन्द्रियाणां चतुर्विंशतिं क्षुद्रभवान् अन्तर्मुहूर्तस्य ॥

वियलिंदिए असीदी विकलेन्द्रियाणां द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजीवेषु अनुक्रमेण मरणसंख्यामन्तर्मुहूर्तस्य करोति । तथाहि । द्वीन्द्रिया जीवा अन्तर्मुहूर्तेन अशीतिवारान् म्रियन्ते । त्रीन्द्रिया जीवा अन्तर्मुहूर्तेन षष्टिवारान् म्रियन्ते। चतुरिन्द्रिया जीवा अन्तर्मुहूर्तेन चत्वारिंशतं वारान् म्रियन्ते। पंचिंदिय चउवीसं पंचेन्द्रिया जीवा अन्तर्मुहूर्तेन चतुर्विंशतिं वारान् म्रियन्ते । खुद्दभवंतोमुहुत्तस्स क्षुद्रभवा अन्तर्मुहूर्तस्य क्रमेण ज्ञातव्याः ।

रयणत्ते सुअलद्धे एवं भमिओसि दीहसंसारे ।
इय जिणवरेहिं भणियं तं रयणत्तं समायरह ॥ ३० ॥

रत्नत्रये सुलब्धे एवं भ्रमितोऽसि दीर्घसंसारे ।
इति जिनवरैर्भणितं तत् रत्नत्रयं समाचर ॥

रयणत्ते सुअलद्धे रत्नत्रये सुष्ठु अलब्धे सति । एवं भमिओसि दीहसंसारे एवममुनाप्रकारेण भ्रमितोऽसि पर्यटितवान् दीर्घेऽनादौ

१ द. टी. ।

संसारे भवे। इय जिणवरेहिं भणियं इत्येतद्वचनं जिनवरैस्तीर्थंकरपरमदेवैर्भणितं प्रतिपादितं। तं रयणत्तं समायरह तत्तस्मात्कारणात् तज्जगत्प्रसिद्धं वा तत् त्वं वा रत्नत्रयं वा समाचर सम्यगाद्रियस्व वा।

तं रयणत्तयं केरिसं हवदि। तं जहा। तद्रत्नत्रयं कीदृशं भवति ? तद्यथा—तदेवनिरूपयति—

अप्पा अप्पम्मि रओ सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो।
जाणइ तं सण्णाणं चरदिह चारित्तमग्गुत्ति ॥ ३१ ॥

आत्मा आत्मनि रतः सम्यग्दृष्टिः भवति स्फुटं जीवः।
जानाति तत् संज्ञानं चरतीह चारित्रमार्ग इति ॥

अप्पा अप्पम्मि रओ आत्मा आत्मनि रतः आत्मनः श्रद्धानपरः। सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो सम्यग्दृष्टिर्भवति स्फुटं निश्चयनयेन, व्यवहारनयेन तु तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं भवति, जीव आत्मा सम्यग्दृष्टिरिति ज्ञातव्यः। जाणइ तं सण्णाणं जानाति तं आत्मानं तत्सद्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानं भवति, व्यवहारेण तु सप्ततत्त्वानि जानाति तत्सम्यग्ज्ञानं भवति। चरदिह चारित्तमग्गुत्ति तमात्मानं जीवो यचरति तन्मयो भवति आत्मन्येकलोलीभावो भवति, इहास्मिन् संसारे, चारित्रमार्ग इति, व्यवहारेण तु पापक्रियाविरमणं चरणं भवति।

अण्णे कुमरणमरणं अणेयजम्मंतराइं मरिओसि।
भावहि सुमरणमरणं जरमरणविणासणं जीव ॥ ३२ ॥

अन्यस्मिन् कुमरणमरणं अनेकजन्मान्तरेषु मृतोऽसि।
भावय सुमरणमरणं जन्ममरणविनाशनं जीव ॥

अण्णे कुमरणमरणं अन्यस्मिन् भवसमूहे कुमरणमरणं-कुत्सितमरणमरणं यथा भवत्येवं। तथा अनेकजन्मान्तराण्यनन्तभवान्तरेषु। "अन्यार्थे

१-२ मन्दर्भ नास्ति. ख पुस्तके। ३ मओसि मूलाचारपाठः।

लम्या" इति प्राकृतव्याकरणसूत्रेण सप्तम्यर्थे द्वितीया । मरिओसि मृतोऽसि मरणं प्राप्तोऽसि । भावहि सुमरणमरणं भावय सुमरण-मरणं पंडितपंडितमरणं । कथंभूतं सुमरणमरणं, जरमरणविणासणं जरामरणविनाशने परममोक्षदायकं । हे जीव हे चेतनस्वभाव ! आत्मन्निति ।

समुद्रादिकल्लोलवत्प्रतिसमयमायुस्त्रुट्यति तदावीचिकामरणं स्थिति-प्रदेशावीचिकाभेदात्तद्द्विविधमप्येकविधं । भवान्तरप्राप्तिरनन्तरोपसृष्टपूर्व-भवविगमनं तद्भवमरणमुच्यते । तत् त्वनन्तशः प्राप्तं जीवेनेति ज्ञातव्यं, तेन तद्भवमरणं न दुर्लभं । अवधिमरणं नाम कथ्यते-यो यादृशं मरणं साम्प्रतमुपैति तादृशमेव यदि मरणं भविष्यति तदवधिमरणं, तद् द्विविधं देशावधिमरणं सर्वावधिमरणं चेति । तत्र सर्वावधिमरणं नाम यदायुर्यथाभूतमुदेति साम्प्रतं प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशैस्तथाभूतमेवायुः प्रकृत्यादिविशिष्टं पुनर्बध्नात्युदेष्यति च यदि सर्वावधिमरणं । यत्साम्प्र-तमुदेत्यायुर्यथाभूतं भूतमेव बध्नाति देशतो यदि तद्देशावधिमरणं । एतदुक्तं भवति—देशतः सर्वतो वा सादृश्येनावधीकृतेन विशेषितं मरण-मवधिमरणमिति । साम्प्रतेन मरणेनासादृश्यभावि यदि मरणमाद्यन्तमरण-मुच्यते । आदिशब्देन साम्प्रतं प्राथमिकं मरणमुच्यते, तस्यान्तो विनाश-भावो यस्मिन्नुत्तरमरणे तदेतदाद्यन्तमरणमुच्यते । प्रकृतिस्थित्यनुभव-प्रदेशैर्यथाभूतैः साम्प्रतमुपैति मृतिं तथाभूतां यदि सर्वतो देशतो वा नोपैति तदाद्यन्तमरणं । बालमरणमुच्यते—स च बालः पंचप्रकारोऽव्य-क्तबालो व्यवहारबालो ज्ञानबालो दर्शनबालश्चारित्रबालः । धर्मार्थकाम-कार्याणि न वेत्ति न तदाचरणसमर्थशरीरोऽव्यक्तबालः। लोकवेदसमयव्यव-हारान् न वेत्ति शिशुर्वा व्यवहारबालः । मिथ्यादृष्टयो दर्शनबालाः । वस्तुयाथात्म्यग्राहिज्ञानहीना ज्ञानबालाः । अचारित्राश्चारित्रबालाः । दर्श-

१ भाव. क. ।

नयालमरणं द्विविधं इच्छाप्रवृत्तमनिच्छाप्रवृत्तं चेति । तत्रेच्छाप्रवृत्तमग्निना धूमेन शस्त्रेण विषेणोदकेन मरुत्प्रपातेनोच्छ्वासरोधेन शीतपातेनोष्णपातेन रज्वा क्षुधा तृषा जिह्वोत्पाटनेन विरुद्धाहारसेवनेन च मरणमिच्छामरणं। कालेऽकाले वाऽध्यवसानादिना विना जिजीविषोर्मरणमनिच्छाप्रवृत्तं । पंडितमरणमुच्यते-पंडितश्चतुर्धा व्यवहारपंडितः सम्यक्त्वपंडितो ज्ञानपंडितश्चारित्रपंडितश्चेति । लोकवेदसमयगतव्यवहारनिपुणो व्यवहारपंडितः, अथवानेकशास्त्रज्ञः शुश्रूषादिबुद्धिगुणसमन्वितो व्यवहारपंडितः । त्रिविधान्यतमसम्यक्त्वः दर्शनपण्डितः । पंचविधज्ञानपरिणतो ज्ञानपंडितः । पंचविधचारित्रान्यतमचारित्रपरिणतश्चारित्रपंडितः । नरके भवनेषु विमानेषु ज्योतिष्केषु वानव्यन्तरेषु द्वीपसमुद्रेषु च ज्ञानपंडितमरणं । मनःपर्ययमरणं मनुष्यलोके एव मरणं । आसन्नमरणमुच्यते–निर्वाणमार्गप्रस्थितसंयतसार्थात् प्रच्युतः आसन्न उच्यते, तदुपलक्षणं पार्श्वस्थस्वच्छन्दकुशीलससक्तानां । ऋद्धिप्रिया रसेष्वासक्ता दुःखभीरवः सदा दुःखकातराः कषायपरिणताः संज्ञावशगाः पापश्रुताभ्यासकारिणः त्रयोदशक्रियास्वलसा सदा संक्लिष्टचेतसः भक्ते उपकरणे च प्रतिबद्धा निमित्तमंत्रौषधयोगोपजीविनः गृहस्थवैयावृत्यकरा गुणहीना गुप्तिसमितिष्वनुद्यता मन्दसंवेगा दशधर्माकृतबुद्धय शवलचारित्रा आसन्ना उच्यन्ते। ते यदन्ते आत्मशुद्धिं कृत्वा म्रियन्ते तदा प्रशस्तमेव मरणं । बालपंडितमरणं श्रावकस्य । सशल्यमरणं सुगमं । पलायमरणमुच्यते–विनयवैयावृत्यादावकृतादरः प्रशस्तक्रियोद्वहनालसः त्रयोदशचारित्रेषु वीर्यनिगूहनपरो धर्मचिन्तायां निद्राघूर्णित इव ध्यानननमस्कारादेः पलायते पलायमरणं । इन्द्रियवेदनाकषायनोकषायार्तमरणं वशार्तमरणं । अप्रसिद्धेऽननुज्ञाते च मरणे विप्पाण-

१ मरु. क. पर्वत ।

परमाणुर्यावन्तं प्रदेशं रुणद्धि तन्मात्रोऽपि निलयो नास्ति । स कः प्रदेशः, जत्थ यत्र प्रदेशे । दव्वसवणो द्रव्यदिगम्बरः मिथ्यादृष्टि-स्तपस्वी । ण जाओ न जातो नोत्पन्नः । ण मओ न मृतो न मरणं प्राप्तः । स निलयः कियान्, तियलोयपमाणिओ त्रिभुवनेनमितः । सव्वो समस्तोऽपि ।

कालमणंतं जीवो जम्मजरामरणपीडिओ दुक्खं ।
जिणलिंगेण वि पत्तो परंपराभावरहिएण ॥ ३४ ॥

कालमनन्तं जीव जन्मजरामरणपीडितः दुःखम् ।
जिनलिङ्गेन अपि प्राप्तः परम्पराभावरहितेन ॥

कालमणंतं जीवो काल समयमनेहसमिति यावत्, अनन्तमन्त-रहितं कर्मतापन्नं जीव आत्मा दुःखं प्राप्त इति क्रियाकारकसम्बन्धः । कालाद्यध्वदेशाभावानां कर्मसंज्ञा सिद्धैव वर्तते । कथंभूतो जीवः, जम्मजरामरणपीडिओ जन्मजरामरणपीडित चम्पितः । जिणलिंगेण वि अर्हद्रूपविशिष्टोऽपि, अपिशब्दादविशिष्टोऽपि । कथंभूतेन *जिनलिङ्गेन, परंपराभावरहिएण परम्परा* आचार्यप्रवाहस्तदुपदिष्टं शास्त्रं च परंपरा शब्देन लभ्यते तत्र भावरहितेन प्रतीतिवर्जि-तेन मिथ्यादृष्टिना जीवनेत्यर्थः । कासौ परंपरा ? अस्यामवसर्पिण्यां तृतीयकालप्रान्ते श्रीवृषभनाथेनार्थशास्त्रमुक्तं, वृषभसेनगणधरेण ग्रन्थः कृतः, तत्परम्परया वीरेण भगवतार्थः प्रकाशितः, गौतमेन गणिना ग्रन्थितः, तदनुक्रमेण पंचमकाले प्रमाणभूतैर्दिगम्बराचार्यैरारातीयैरुप-दिष्टं तच्छास्त्रं प्रमाणीकर्तव्यं विसंवादिभिर्मिथ्यादृष्टिभिः कृतं शास्त्रं न प्रमाणनीयं । अथ के ते आचार्या यैः कृतं शास्त्रं प्रमाणीक्रियते इत्याह–

श्रीमद्भद्रबाहुः श्रीचन्द्रो जिनचन्द्रो महामतिः ।
गृध्रपिच्छगुरुः श्रीमाँल्लोहाचार्यो जितेन्द्रियः ॥ १ ॥

शरीराणि गृहीतोज्झितानि। गहिउज्झियाइं बहुसो गृहीतोज्झितानि बहुशोऽनन्तवारान्। अणंतभवसायरे जीव अनन्तभवसागरेऽनन्तानन्तसंसारसमुद्रे हे जीव! हे आत्मन्निति। जिनसम्यक्त्वं विनेति भावार्थः जिनसम्यक्त्वभावेन त्वनन्तसंसार उच्छिद्यते स्तोककालेन मुक्तो भवति।

तेयाला तिण्णि सया रज्जुणं लोयखेत्तपरिमाणं।
मुत्तूणट्ठपएसा जत्थ ण दुरुढुल्लिओ जीवो ॥ ३६ ॥

त्रिचत्वारिंशत्त्रीणि शतानि रज्जूनां लोकक्षेत्रपरिमाणं।
मुक्त्वाऽष्टौ प्रदेशान् यत्र न भ्रमित जीवः॥

तेयाला तिण्णि सया त्रिचत्वारिंशदधिकत्रिशतरज्जुघनाकाररज्जूना च लोकक्षेत्रपरिमाणं भवति। मुत्तूणट्ठपएसा मुक्त्वाऽष्टौ प्रदेशान् मेरुकंदे गोस्तनाकारेण येऽष्टप्रदेशा वर्तन्ते तन्मध्ये जीवो नोत्पन्नो न मृतः अन्यत्र सर्वत्र जातो मृतश्चायं जीवः। तेऽष्टौ प्रदेशा निजात्मशरीरमध्ये गृहीतास्तन्मध्ये नोत्पन्न इति वृद्धा। जत्थ ण दुरुढुल्लिओ जीवो यत्रात्मा न पर्यटितः स कोऽपि प्रदेशो नास्ति। "पर परी दुस दुम कुम्म् गुम् मुम झंप ढंट तलयट भमाड भमड भम्मड चक्कम्म ढंढल्ल ढुढुल्ल टिरिटिल्ल दुरुढुल्ल भ्रमेः" इति प्राकृतव्याकरणसूत्रेण भ्रम्धातोः दुरुढुल्ल इत्यादेशः। धनपालकृतदेशीलक्ष्म्यां तु "घोलिय ढंढुल्लियाइ भमियत्थे" सूत्रं।

एक्केक्कंगुलिवाही छण्णवदी होंति जाण मणुयाणं।
अवसेसे य सरीरे रोया भण किंत्तिया भणिया ॥ ३७ ॥

एकैकाङ्गुली व्याधयः षण्णवतिः भवन्ति जानीहि मनुष्याणाम्।
अवशेषे च शरीरे रोगा भण कियन्तो भणिताः॥

१ पंचेव य कोडीओ तह चेव अडसट्ठिलक्खाणि।
णवणउदिं च सहस्सा पंचसया होंति चुलसीदी॥ १॥

एक्केक्कंगुलिवाही एकैकांगुलौ व्याधयो रोगाः । छण्णवदी होंति जाण मणुयाणं षण्णवतिर्भवन्ति हे जीव ! त्वं जानीहि मनुजानां मनुष्याणां शरीरे । अवसेसे य सरीरे अवशेषे च शरीरे एकाङ्गुलेरुद्धरितादवशिष्टे शरीरे । रोया भण कित्तिया भणिया रोगा व्याधयस्त्वं भण कथय कियन्तो भणिता इति ।

ते रोया वि य सयला सहिया ते परवसेण पुव्वभवे ।
एवं सहसि महाजस किं वा बहुएहिं लविएहिं ॥३८॥

ते रोगा अपि च सकलाः सोढा त्वया परवशेन पूर्वभवे ।
एवं सहसे महायशः[1] किं वा बहुभिः लपितैः ॥

ते रोया वि य सयला ते रोगाः सकला अपि सर्वेऽपि । सहिया ते परवसेण पुव्वभवे सोढास्त्वया परवशेन कर्माधीनतया पूर्वभवे पूर्वजन्मान्तरसमूहे । एवं सहसि महाजस एवममुनाप्रकारेण त्वं सहसेऽनुभवसि हे महायशः ! । किं वा बहुएहिं लविएहिं किं वा बहुभिर्लपितैर्जल्पितैः ।

पित्तंतमुत्तफेफसकालिज्जयरुहिरखरिसकिमिजाले ॥
उयरे वसिओसि चिरं नवदसमासेहिं पत्तेहिं ॥ ३९ ॥

पित्तान्त्रमूत्रफेफसयकृद्रुधिरखरिसकृमिजाले ।
उदरे उषितोऽसि चिरं नवदशमासैः प्राप्तैः[2] ॥

पित्तं च मायुः । अंत्राणि च पुरीतति । मूत्रं च प्रस्रावः । फेफसम् [illegible] । कालिज्जय यकृत् "दक्षो जलाधारो हृदयस्य दक्षिणे यकृत् [illegible] वामे प्लीहा पुप्फुस इति" वैद्याः । कालखण्ड इति देशभाषा । रुहिर रुधिरं च । खरिस खरिसम्, अपक्वद्रिधिरमिश्ररुधिरश्लेष्मा खरिसः कथ्यते । [illegible] देशजम् । किमि कृमयश्च द्वीन्द्रिया जीवविशेषाः जाल समूहो यत्रोदरे तत् पित्तान्त्रमूत्रफुप्फुसकालिखण्डरुधिरखरिसकृमिजाल

1 [illegible] । 2 [illegible] ।

तस्मिन् । उयरे वसिओसि चिरं उदरे कुक्षिमध्ये उषितोऽसि निवासं कृतवानसि त्वं चिरं दीर्घकालं, अनन्तगर्भग्रहणापेक्षया चिरमिति विशेषणं । नवदसमासेहिं पत्तेहिं नवभिर्दशभिर्वा मासैः प्राप्तैः परिपूर्णीभूतैः तन्मध्ये तदुपरि च कियान् कालो लभ्यते प्राप्तशब्देनेति ।

दियसंगट्ठियमसणं आहारिय मायभुत्तमण्णंते ।
छद्दिखरिसाण मज्झे जठरे वसिओसि जणणीए ॥४०॥

द्विजसङ्गस्थितमशनमाहृत्य मातृभुक्तमन्नान्ते ।
छर्दिखरिसयोर्मध्ये जठरे उषितोऽसि जनन्याः ॥

हे जीव ! त्वं जनन्या मातुः । जठरे उदरे उषितोऽसि निवासं चकर्थ । कथंभूते जठरे, छद्दिखरिसाण मज्झे छर्दिश्च वान्तमन्नं, खरिसश्च अपक्वं दर्दरं मलं रुधिरलिप्तं लेपः छर्दिखरिसाणं तयोः छर्दिखरिसयोर्मध्ये मध्यविशिष्टे । अथवा जठरे उषितोऽपि कुत्रोषितोऽसि छर्दिखरिसयोर्मध्ये समुषितोऽसि । किं कृत्वा पूर्वं, असणं आहारिय अशनं भोजनं आहृत्य आहारं कृत्वा । कथंभूतमशनं, दियसंगट्ठियं द्विजानां दन्तानां अस्थ्यङ्कुराणां संगे स्थितं, चर्वणवेलायां मातृमुखे दन्तानां समीपे स्थितं अस्थिभिः स्पृष्टं उच्छिष्टीकृतं । क उषितोऽसि, मायभुत्तमण्णंते यन्मात्रा भुक्तं तस्यान्नस्यान्ते मध्ये उषितोऽसि । अथवा मात्रन्नं भुक्त-भुक्तं तेत्वया । तथा चोक्तं—

मन्ये जन्मिनामपि च मरणात्तन्निमित्ताद्विभेमि ॥ १ ॥

सिसुकाले य अयाणे असुईमज्झम्मि लोलिओसि तुमं ।
असुई असिया बहुसो मुणिवर बालत्तपत्तेण ॥ ४१ ॥

विलोक्यन्ते ते सर्वेऽपि साकेतपतौ सगरे सन्तीत्युवाच । तच्छ्रुत्वा सा तत्र रक्ता बभूव । अतिथिस्तज्ज्ञात्वा युक्तिवचनैस्तं दूषयित्वा हे पुत्रि ! सुरम्यदेशे पोदनापुरे बाहुबलिकुले सर्वराजसु ज्येष्ठो मम भ्राता तृणपिङ्गल-राज्ञी सर्वयशास्तत्पुत्रो मधुपिङ्गलः सर्ववरगुणैराढ्यो नवे वयसि वर्तते स त्वया वरमालया मदाक्षेपेण माननीयः । साकेतपतिना सपत्नीदुःखदायिना किं करिष्यसि ? इत्यवदत् । सुलसा तु तदुपरोधं नामन्यत । अतिथिरुपायेन मंदोदरीप्रवेशं तत्र निवारयामास । सा निजस्वामिनं नष्टं कार्यं जगाद । राजाह–विश्वभूर्मन्त्रिन् ! इदं मम कार्यं त्वया सर्वथा कार्यं । तच्छ्रुत्वा तेन विश्वभुवा स्वयंवरविधानं नाम सामुद्रिकं शास्त्रं नवीनं रचयित्वा तत्पुस्तकं मंजूषायां निक्षिप्य यथा कोऽपि न जानाति तथा वनमध्ये भूतिरोहितं निदधे । तत्रोद्यानभूशोधनं कारयन् हलाग्रे लग्ना मंजूषा समानीय मया लब्धेयं चिरन्तनशास्त्रसंयुक्ता मंजूषा । स्वयमजानन्निव राजपुत्राणामग्रे वाचितवान् । वरपदस्य के कन्या पिङ्गाक्षं माल्यया न संभावयेत् । संभावयेच्चेत्तर्हि सा कन्या म्रियते । पिङ्गाक्षेण सभामध्ये न प्रवेष्टव्यं । पापभयाल्लज्जितव्यं च प्रयानाद्बिभेति च न लज्जते तदा स पापी निर्घाटनीय । तत्सर्वं श्रुत्वा तद्गन्धाल्लज्जया निर्गत्य हरिषेणगुरुपादमूले दीक्षां जग्राह । तज्ज्ञात्वा सगरो विश्वभूश्च मुदं प्रापतुः । अन्ये च कुटिला मुदं प्रापुः । सानुरागास्तद्बान्धवाश्च विषादं प्रापुः । वंचनाकृतं पापमर्थिनो न पश्यन्ति । अथाष्टदिनानि महापूजां जिनेशिनामभिषेकं च कृत्वा स्नानालंकृतां शुद्धनिश्चिताद्दिमणिभिः कन्यां पुरोहितो रथमारोप्य नीत्वा सुभटवाहिनी महामनास्मृतान् नृपान् स्वयंवरमण्डपे यथाक्रमं पृथक्पृथगासनादिकं विनिर्दिश्य विरराम । सा तु समामनाः सगरं वरमालया वरयामास ।

---

१ पुत्र इति ब. पुस्तके ।

निर्मत्सरं राजमण्डलं तु तुतोष । अनयोरनुरूपः संगमो विधात्रा कृत इति । विवाहविधौ च जाते सगरः सुलसासहितस्तत्र कानिचिद्दिनानि तत्र सुखेन स्थित्वा साकेतं गतः । भोगसुखमनुभवन् स्थितः । मधुपिंगलस्तु साधुः कस्मिंश्चित्पुरे भिक्षार्थं प्रविशन् केनचिज्जैनेन नैमित्तिकेन दृष्टः । राज्यार्हलक्षणोऽयं भिक्षाशी किंलक्षणशास्त्रेणेति निनिन्द । तदाकर्ण्यापर एवं बभाषे । राज्यलक्ष्मीं भुंजान एष सगरमंत्रिणा वृथा दूषितः कृत्रिमं सामुद्रिकं रचयित्वेति लज्जितस्तपो जग्राह । सुलसा सगरं च तच्छ्रुत्वा कोपाग्निदीपितो निदानं चक्रे, तपःफलेन सगरकुलं सर्वं जन्मान्तरे निर्मूलयिष्यामीति । ततोऽसौ मृत्वाऽसुरेन्द्रस्य प्रथममहिषानीके चतुःषष्टिसहस्रासुरस्वामी बभूव । स[1] महाकालासुरनामा निजदेवैर्वेष्टितो विभंगेन पूर्वभवसम्बन्धं ज्ञात्वा पापी चेतसा मंत्रिणि तत्प्रभौ सगरे च प्ररूढवैरोऽपि तौ हन्तुमनिच्छन्नत्युग्रं पापं तयोरिच्छन् तदुपायं सहायांश्च संचिन्त्य[3] स्थितः । मम महापापं भविष्यतीति नाचिन्तयत्[4] धिग्मूढतां । तदभिप्रायसाधनमिदनत्रान्यत्प्रकृतं । तथा हि । अत्र भरते धवलदेशे स्वस्तिकावति पुरे हरिवंशजो राजा विश्वावसुः । देवी श्रीमती । पुत्रो वसुः । तत्रैव क्षीरकदम्बनामा सर्वशास्त्रज्ञो ब्राह्मणोऽध्यापकोत्तमः पूज्यो विख्यातश्च । तत्पुत्रः पर्वतो देशान्तरागतो नारदो विश्वावसुपुत्रो वसुश्च एते त्रयोऽपि विद्यानां पारं प्रापुः । तेषु पर्वतोऽकीर्तिविपरीतार्थग्राही वसुनारदौ यथोपदिष्टार्थग्राहिणौ । ते त्रयोऽपि सोपाध्याया दर्भादिकं चेतुं वनं गताः । तत्र गिरिशिलोपरि स्थितः श्रुतधरगुरुः । मुनित्रयं तस्मादष्टाङ्गनिमित्तं पपाठ । तत्समाप्तौ स्तुतिं कृत्वा सुखं तस्थौ । तस्य निपुणतापरीक्षार्थं गुरुः पप्रच्छ । भो मुनित्रय[5] ! अविद्यमानस्य छात्रत्रय-

१ स इति पाठः ग. पुस्तके नास्ति । २ अभिलषन्निति ख. पुस्तके । ३ संचिन्त्य इति ग. पुस्तके । ४ नाचिन्तयदाद्. ग. । वसु. क. । ५ मुनेरिति ग. पुस्तके ।

स्यास्य किं नामकस्य किं कुलं को भाव: प्रान्ते कस्य का गतिर्भविष्यती-त्युक्ते एक: प्राह–अस्मत्समीपगो वसु:, राज्ञ: सुत:, तीव्ररागादिदूषित:, हिंसाधर्मं विनिश्चित्य नारको भावी। द्वितीयो मुनि: प्राह–मध्यस्थितो पर्वत:, द्विजपुत्र:, दुर्बुद्धि: क्रूर:,महाकालोपदेशादथर्वणं पापशास्त्रं पठित्वा दुर्मार्गदेशको हिंसैव धर्म इति रौद्रध्यानपरायणो बहून् नरके प्रवेश्य स्वयमपि नरकं यास्यति। तृतीयो मुनिरुवाच–एष पश्चात्स्थितो नारद:, द्विज:, धीमान्, धर्मध्यानपरायणोऽहिंसा लक्षणं धर्मं श्रितानां व्याकुर्वाणो भावी गिरितटाख्यपुरस्य स्वामी भूत्वा दीक्षित्वा सर्वार्थसिद्धिं यास्यति तन्मुनित्रयोक्तं श्रुतधर. श्रुत्वा साधु पठितं निमित्तं भवद्भिरिति तुष्टाव। क्षीरकदम्ब उपाध्याय: समीपतरतरुसमाश्रयस्तदाकर्ण्य तदेतद्विचेष्टितमशुभं धिगिति भणित्वा किमत्र मया क्रियते इति विचिन्त्य तत्र-स्थित एव मुनीनभिवन्द्य वैमनस्येन शिष्यै: सह नगरं प्रविवेश। तदनन्तरमेकवर्षेण शास्त्रेण बाल्ये पूर्णे जाते विश्वावसुर्वसवे राज्यं दत्वा दीक्षां जग्राह। वसुर्निष्कण्टकराज्यं कुर्वन्नेकदा वनं क्रीडितुं गत:। तत्राकाशे उड्डीयमाना: पक्षिण: स्खलित्वा पतितान् दृष्ट्वा चिन्तयामास। आकाशे उड्डीयमाना यत्पक्षिण: पतन्ति तत्र किमपि कारणं भविष्यतीति तस्मिन् प्रदेशे बाणं मुमोच। सोऽपि तत्र स्खलित:, तत्र स्वयं जगाम सारथिना सह तत्र परपर्श। आकाशस्फटिकस्तंभं विज्ञाय पैरविदितं तमानयामास। तस्य पादचतुष्टयं पृथु निर्माप्य तत्सिंहासनमारुह्य नृपादिभि: सेव्यमान: सत्यमाहात्म्यात् खे सिंहासने स्थितो वसुरिति विस्मयमानेन लोकेन घोषितोऽस्तीति तस्थौ। एवमस्य काले गच्छति पर्वतनारदावेकदा समित्पुष्पार्थं वनं गतौ। तत्र नदीतटे मयूरा जलं पीत्वा गतास्तन्मार्गदर्शनान्नारद: प्राह–ये मयूरा: पानीयं पीत्वा गतास्तेष्वेको मयूर: सप्तमयूर्यो वर्तन्ते। तच्छ्रुत्वा पर्वत:

१ स इति ख. पुस्तके। २ दु:खेन।

प्राह—मृषा वार्तेयं । मनस्यसहमानः पणितबन्धनं बबन्ध । तत्र किंचिदन्तरं गत्वा नारदोक्तं सद्भूतं ज्ञात्वा विस्मितोऽग्रे गत्वा करेणुनारीं ददर्श । [1]तां दृष्ट्वा नारद उवाच—एषा हस्तिनी गता, सा वामलोचनेनान्धा, तामारूढा गर्भिणी स्त्री, पट्टाम्बरसहिता, अद्य पुत्रमजीजनत् । अन्धसर्पबिलप्रवेशवत् पूर्वोक्तं तव वचनं यादृच्छिकं सत्यम[2]भूत्, इदं तु विद्या मयाऽविदितं किमस्तीति स्मित्वा स साभूयं विस्मयं चित्ते प्राप्य तदसत्यं कर्तुं हस्तिनीमनुगतः पुरं प्रविवेश । नारदोक्तं तथैव ददर्श । गृहमेत्य पर्वतो मातुरग्रे जगाद । किं जगाद ? मातः ! मे पिता यथा नारदं शिक्षितवांस्तथा मां नापीपठत्, अस्य चेतसि नारदो वर्तते नाहमिति । तेन वचनेन विप्राया हृदयं विदारितं । पापोदयाद्विपरीतं तया विचारितं । शोकं च ब्राह्मणी चकार । क्षीरकदम्बस्तु स्नात्वा अग्निहोत्रादिकं कृत्वा भुक्त्वा च स्थितः । तं प्रति ब्राह्मण्युवाच—त्वया पुत्रो न शिक्षितः, शोको व्युत्पादितः । क्षीरकदम्ब उवाच—प्रिये ! अहं निर्विशेषोपदेशः पुरुषं पुरुषं प्रति ददामि मतयस्तु भिन्नाः सन्ति । तेन नारदो कुशलो बभूव । प्रिये ! त्वत्पुत्रः स्वभावेन मन्दो नारदेऽसूयते किं क्रियते । इत्युक्त्वा स्त्रिया विश्वासमुत्पादयितुं पर्वतसमीपे नारदं पप्रच्छ । हे नारद ! त्वं वने भ्राम्यन् केन कारणेन पर्वतस्य बहुविस्मयं कारितवान् । नारद उवाच—स्वामिन् ! पर्वतेन सह [3]वनं गच्छन् नर्मकथापरः पीतवारां [4]मयूराणां [5]संघो [6]नद्या निर्वर्तने स्वचन्द्रककलापाम्बुलम्पनगौरवात् भीत्या व्यावृत्य विमुखं कृतपश्चात्पदास्थितिः शिखी च गतवानेकः । शेषाः स्त्रीपक्षलाञ्छिताः पक्षभागं विधूय ययुः । तं दृष्ट्वाहमुक्तवान्—पुमानेकः शेषाः

१ तद. क. २ अभूत्. ख. । ३ वने. ग. । ४ मयूरीणां. ख. । ५ संघो. ख. । ६ नद्यानिर्वर्तते ख. ।

म्रिय इत्यनुमानात्। ततो वनान्तरात्कश्चिदागत्य पुरसमीपे करिण्यारूढं म्रियं नयन् पुरं प्रति पश्चिमपादाभ्यां प्रयाणके स्वमूत्रघट्टनात् करिणी- मकथयं। दक्षिणे भागे तरुवीरुद्भंगेन वामलोचनेऽन्धा जगाद। मार्गा- त्प्रच्युत्य श्रमादारूढयोषित. शीतच्छायाभिलाषेण पुलिनस्थले सुप्ताया उदरस्पर्शमार्गेण गुल्मलप्रदशाया म्रिय विवेदं। करेणुश्रितमार्गे गृहोप- सितकेतुदर्शनेन पुत्रजन्मोक्तवान्। तच्छ्रुत्वा विप्रो निजापराधाभावं भार्याया अकथयत्। तदा पर्वतमाता प्रसन्ना जाता। प्रिये! मुनिना भाषितं यत्पर्वतो नरकं यास्यति। तत्प्रतीत्यर्थं भार्या स्वयं च एकान्ते गत्वा पिष्टेन द्वौ[१] बस्तौ निर्माय पुत्रच्छात्रभावपरीक्षणार्थं द्विजोत्तम एकं पुत्राय द्वितीयं छात्राय ददौ। परादृश्यप्रदेशे गत्वा गन्धपुष्पमगरैरर्चित्वा कर्णच्छेदं कृत्वा एतावदेवानयतं युवां। तत्र पर्वतः पापी अस्मिन् वने न कोऽपि वर्तते इति कर्णौ छेदयित्वा पितरमागत्य प्रुच। यथा त्वयोक्तं मया तथैव कृतमित्यवदत्। नारदस्तु वनं गत्वा विचारयति गुरुणोक्त- मदृश्यप्रदेशेऽस्य कर्णौ छेदनीयाविति। चन्द्र. पश्यति। रविर्निरीक्षते। नक्षत्राणि विलोकन्ते। ग्रहास्तारकाश्च पश्यन्ति। देवता निरीक्षन्ते। सन्निहिताः पक्षिणो मृगजातयश्च निषेद्धुं न शक्यन्ते इति विचार्य कर्ण- मोटछेदमकृत्वा गुरुसमीपमागतो नारदः। यतोऽयं भव्यात्मा वनेऽदृष्टदे- शास्यासंभवात्, नामस्थापनाद्रव्यभावानां विचारचतुर' पापाख्याति- कारणक्रियाणामकर्तव्यत्वादहमिमं छागं विच्छिन्नावयवं नाकार्ष- मित्युवाच। तच्छ्रुत्वा क्षीरकदम्बः स्वपुत्रस्य जडत्वभावं ज्ञात्वा विचारयामास। यन्मिथ्यादृष्टय एकान्तेन मुवन्ति कारणात्कार्यसिद्धि- रिति तदसत्यं अत्र कारणं गुरु. कार्यं शिष्यबुद्धयुत्कर्ष. तस्यैकान्तेन

१ पुस्तकद्वयेऽपि बवेद इति पाठ. । २ द्वे. ग. । छाग.।

ति यतो मयि पाठयत्यपि मत्पुत्रो जड इति तेन धिगेकान्तं मतं
तमेव । कारणानुगतं कार्यं क्वचिद्भवत्येव क्वचिन्न भवत्येवेत्यने-
तमतं सत्यमित्यनेकशस्तुष्टाव । नारदस्य योग्यत्वं ज्ञात्वा नारद !
त्र सूक्ष्मबुद्धिर्यथार्थज्ञाता । अद्यप्रभृत्युपाध्यायपदे त्वं मया स्थापितः ।
शास्त्राणि त्वया व्याकर्तव्यानि इति तं प्रपूज्य प्रावर्त्तयत् । धीमतां
वित्र गुणैरेव प्रीतिः । निजसन्मुखं स्थितं पुत्रं जगाद-त्वं विवेकमन्त-
णैव एतद्विरूपकं चकर्थ, शास्त्रादपि तव कार्याकार्यविवेको नास्ति,
मच्चक्षुःपरोक्षे त्वं अरे कथं जीविष्यसि मूर्ख ।। एवं शौकेन दत्तशिक्षो
नारदे बद्धवैरो बभूव । कुधियामीदृशी गतिर्भवति । उपाध्यायस्त्वेकदा
गृहादिकं त्यजन् वसुं गत्वोवाच-पर्वतस्तन्माता च द्वावपि मन्दधियौ
तथापि मत्परोक्षे त्वया सर्वथा भद्र । पालनीयाविति । वसुरुवाच-हे
पूज्यपाद ! भवदनुग्रहादहं प्रीतोऽस्मि । एतदनुक्तमेव सिद्धं । अस्मिन्
कार्ये ममेदं किं वक्तव्यं । अत्र सन्देहो न कर्तव्यः । यथोचितं पर-
लोकं कर्तुमर्हति भवान् । इति मनोहरकथाम्लानमालया द्विजोत्तमं नृप
आनर्च । क्षीरकदम्ब उपाध्यायस्तु सम्यक्संयमं प्राप्य संन्यासं कृत्वो-
त्तमं स्वर्गलोकमवाप । पर्वतस्तु पितृस्थानमध्यास्य विश्वदिक्शिक्षाणां
व्याकर्तुं रतिं चकार । तस्मिन्नेव नगरे नारदो विद्वज्जनान्वितः सूक्ष्म-
सुस्थिरविहितस्थानो व्याख्याया यशो बभार । एवं तयोः काले गच्छति
सत्येकदा विद्वत्सभायां "अजैर्यष्टव्यमिति" वाक्यस्यार्थप्ररूपणे महान् वि-
वादो बभूव । नारदः प्राह-अंकुरशक्तिरहितं यवबीजं त्रिवर्षस्थं अज-
मिति कथ्यते तद्विकारेण वन्हिमुखे देवार्चनं विद्वांसो यज्ञं वदन्ति ।
पर्वत उपन्यसति स्म-अजशब्देन पशुभेदस्तद्विकारेण हिरण्यरेतसि
होत्रं यज्ञो विधीयते । इति तयोः सुधीप्रधोरुपन्यासं श्रुत्वा ब्राह्मण-
मुख्याः साधवः प्राहुः प्राणिवधाद्धर्मो न भवति । नारदे मत्सरि

... इति पाठः क. पुस्तके ।

त्वात् पर्वतोऽवन्यामधर्मं प्रवर्तयित्वं दुरात्मोपन्यास्यत्। पतितोऽयमयोग्यः सहसंभाषणादिषु, इत्युक्त्वा चपेटाभिस्ताडितः निर्भर्त्सितोऽयं पापात्मा लोके घोषितः। दुर्बुद्धेः फलमत्रैवेदृशं भवति। एवं सर्वैरपि बहिष्कृतो मानभंगाद्वनं जगाम। तत्र ब्राह्मणवेषेण कृतान्तारोहणासन्नसोपानपदवीमिव बलीरुद्धहता अम्बचक्षुरेव मुहुः स्खलता विरलेन सितेन मूर्धजेन तत राजत शिरस्त्राणं समीपयमजाद्भयादिव दधता जराङ्गनासमासक्तमुखेनेव मीलच्चक्षुषा चलच्छिन्नकरेण करिणेव कुपितसर्पेणेव उर्ध्वश्वासिना राजवल्लभेनेवाऽप्रतो स्फुटं पश्यता भग्नपृष्ठेन अपटुजल्पितेन असमेन योग्यदण्डेन राज्ञेव त्रिगुणीकृतमुपवीतं धारयता विश्वभूपमुखसाधु निजं बद्धक्रोधं वक्तुमिव स्वामिमतारंभसिद्धिगवेषिणा पर्वते पर्यटन् पर्वतो महाकालासुरेण दृष्ट सन् तमभिगम्यानम्य चाभिवादनमभ्यधात्। महाकालस्तं समाश्वास्य सादरं तव स्वस्त्यस्त्वित्युवाच। तमविज्ञातपूर्वत्वात्प्राह त्वं कुतस्त्यो वने पर्यटनं कस्मादिति। पर्वतस्तु निजवृत्तान्तमादित. प्राह। तच्छ्रुत्वा महाकालश्चिन्तयामास। मम शत्रुं सगरं निर्वंशीकर्तुं समर्थ एष स्यात्। भोः पर्वत! तव पिता स्थंडिलः अहं विष्णुरूपमन्युः। एतौ द्वावपि भौमोपाध्यायशिष्यौ शास्त्राभ्यासमकारिषाताम्। त्वत्पिता मम धर्मभ्राता तमहं द्रष्टुमागत. ममागमनं त्वन्तर्गडु जात। पुत्र पर्वत! मा त्वं भैषीः तव शत्रुविध्वंसेऽहं सहायो भविष्यामि। इति क्षीरकदम्बपुत्रेष्टार्थस्यानुगता अथर्वणगता. षष्टिसहस्रप्रमिताः पृथक् ऋचो वेदरहस्यानीति स्वयमुत्पाद्य पर्वतमध्याप्य शान्तिपुष्टयभिचारात्मक्रियाः पूर्वोक्तमंत्रैर्निशितो पवनोपेताग्निज्वालासमा इष्टेः फलमुत्पादयिष्यन्ति, पशुहिंसनात्प्रयुक्ताः सत्य इति। ततः

१ विहिताः ख. । २ द. ख.।

साकेतपुरमध्यास्य शान्तिकादिफलप्रदं हिंसायागं समारभ्य प्रभावं वयं कुर्महे। इति पर्वतमुक्त्वा वैरिविनाशार्थं निजतीव्रदैत्यान् सगरराष्ट्रस्य बाधां ज्वरादिभिर्यूयं कुरुध्वमिति संप्रेष्य पर्वतेन युतः साकेतं महाकालासुरो गतः। पर्वतो मंत्रगर्भिताशीर्वादेनालोक्य सगरस्य स्वप्रभावं प्रकाशितवान्। हे राजन्! त्वद्देशप्राप्तं विषममशिवं अहं सुमित्रेण यज्ञेन लघु शोषयिष्यामि।

"यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।
यज्ञो हि भूत्यै सर्वेषां तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः॥"

इति कारणात् स्वर्गमहासुखसाधनं पुण्यमेव भविष्यतीति पापी प्रत्याय्य तं जगाद। हे राजन्! यागसिद्ध्यर्थं पशूनां षष्टिसहस्राणि तद्योग्यमन्यद्द्रव्यं च संगृहाण। सगरोऽपि सर्वं मेलयित्वा तस्मै समर्पितवान्। पर्वतो यागं प्रारभ्य पशूनभिमंत्रयामास। महाकालासुरस्तान् वषट्कृतान् शरीरेण सह स्वर्गं गतोऽयं स्वर्गं गतोऽयमिति विमानारूढानाकाशे नीयमानान् दर्शयामास। देशस्याशिवोपसर्गं तदैव निराचकार। तद् दृष्ट्वा मुग्धाः प्राणिनस्तद्वंचनया मोहिताः सन्तः स्वर्गगतये स्पृहयन्तो यागमूर्तिं भृशमाचकांक्षुः। सुमित्रयज्ञावसाने जात्यश्वमेकं विधिपूर्वकं हुतवान्, राजाज्ञया सुलसां च खलो वषट्चकार। प्रियकान्तावियोगदुःखदावानलज्वालाभिः प्लुष्टकायो राजा नगरं प्रविष्टः, शय्योपरि शरीरं निचिक्षेप। प्राणिहिंसनं महदिदं वृत्तं किमयं धर्मः किमधर्मः इति संशयानः स्थितः। अन्यस्मिन्नहनि यतिवरनामानं मुनिमाभिवन्द्य विज्ञप्तवान्। भट्टारक! मयारब्धं कर्म पुण्यं पापं वा सम्यक्कथय। यतिवरः प्राह– धर्मशास्त्रबाह्यमिदं कर्म कर्तारं सप्तमं नरकं प्रापयेत्। स्वामिन्नस्ति

१ यस्मिन् यज्ञे चतुःषष्टिसहस्राणां पशूनां वधः क्रियते स सुमित्रो यज्ञः कथ्यते।

तत्राभिज्ञानं । मुनिराह—राजन् सप्तमे दिने तव मस्तकेऽशनिः पतिष्यति इत्यभिज्ञानेन त्वं सप्तमे नरके यास्यसि । तदाकर्ण्य राजा भीत्वा पर्वताय निवेदयामास । पर्वत प्राह—राजन्नसौ नग्नः क्षपणकः किं वेत्ति तथापि यदि तव शंका वर्तते तदत्र शान्तिर्विधीयते इति वचनैस्तस्य मनः सन्धार्य शिथिलीचकार । पुनः सुमित्रमेव यज्ञं प्रारब्धवान् । ततः सप्तमे दिने पापासुरस्य मायया सुलसा आकाशे स्थिता देवत्वं प्राप्ता पूर्वपर्यायप्रेसरी यागमृत्युफलेनैव मया देवगतिर्लब्धा । तं प्रमोदं तव निरूपयितुमहं विमानेनागता । तव यज्ञेन देवाः पितरश्च प्रीणिता इत्यभाषत । तद्वचनात्प्रत्यक्षं यागमृत्युफलं दृष्टं, जैनमुनेर्वाक्यमसत्यं जातं । तदनु राजा तीव्रेण हिंसानुरागेण सद्धर्मद्वेषेण सञ्जातदुष्परिणामेन मूलोत्तरविकल्पितात् तत्प्रायोग्यसमुत्कृष्टदुष्टसंक्लेशसाधनात् नरकायुरादिकर्मसञ्चितस्थितेः अनुभागबन्धनिकाचितबन्धने सति भीषणाशनिरूपेण कालासुरे तन्मस्तके पतिते सति यागकर्मासक्तनिखिलप्राणिभिः सह सगरः सप्तमे नरके पपात । स कालासुरस्तत्क्षणेन महाक्रोधस्तं दण्डयितुं तृतीयनरकपर्यन्तं प्रवृत्तो जगाम । तमदृष्ट्वा साकेतमागतः । विश्वभूप्रभृतिवैरिवर्गमारणार्थं निःशूकः सुलसासंयुक्तं सगरं विमानमारूढं व्योम्नि दर्शयामास । पर्वतप्रसादेन यज्ञपुण्येनाहं स्वर्गं गतः सुखं प्राप्तवानिति प्रशशंस । सगरपरोक्षे विश्वभूमन्त्री राजा जातः । महामेधे उद्यमं चकार । महाकालासुरेण विमानगता देवाः पितरश्चाकाशे सर्वेषां व्यक्तं दर्शिताः । ते ऊचुः—भो विश्वभूस्त्वया महामेधे कृतं पुण्यवता त्वत्प्रसादेन वयं सर्वेऽपि वषट्कृताः स्वर्गसुखं प्राप्ता इति स्तुतिं चक्रुः । नारदस्तापसाश्च तच्छ्रुत्वानेन दुरात्मना एष दुर्मार्गोऽधिकृतो लोकस्य

१ पूर्वं मे पशवो हतास्तेषां मध्येऽहमप्रेसरी मुख्यदेवत्वं प्राप्ता ।

प्रकारितः, धिक् पर्वतं, निवारणीयोऽयमुपायेन केनचित् पापपण्डितोऽयमिति साकेतमागताः। यथाविधि विश्वभुवं विलोक्य ऊचुः—ये पापिनो नरा भवन्ति तेऽपि सर्वार्थे कामार्थे च प्राणिनां वधं न कुर्युः। केऽपि क्वापि धर्मार्थं प्राणिनां घातकाः किं सन्ति। अहो पर्वत! वेदविद्भिर्ब्रह्मनिरूपिते वेदे अहिंसक एव वेद उक्तः। अहिंसा तु मातेव सखीव कल्पवल्लीव जगते हितोक्ता इति पूर्वर्षिवाक्यस्य प्रामाण्यं त्वयेच्छता कर्मनिबंधनं कर्मैतद्वधप्रायं त्याज्यमेवेति तापसैरुक्तं। ते तापसाः सर्वप्राणिहितैषिणः। विश्वभूरुवाच—भोस्तापसाः! साक्षात्स्वर्गसाधनं दृष्टं कर्म कथं त्याज्यं मयेति। नारदो विश्वभुवं प्रत्याह—सचिवोत्तम! त्वं विद्वान् किमिदं कर्म स्वर्गसाधनं भवति?। सपरीवारं सगरं निर्मूलयितुं कांक्षता केनचित्कुहकेनायमुपायः कृतो मुग्धानां मोहकारणं। ततः शीतोपवासादिकं कर्म स्वर्गसाधनमार्षागमोक्तं त्वयाप्याचर्यतां। विश्वभूः पर्वतं प्राह—पर्वत! नारदः किलैवं वक्ति तत्त्वया श्रुतं! पर्वतोऽनुरोक्तेन शास्त्रेण मोहितो दुर्मतिः प्राह—हंहो सचिवोत्तम। इदं शास्त्रं नारदः किं न शुश्राव। मम गुरुरस्य च मम पितैवासीत्। न चान्यः कोऽपि एष नारदः। तदापि मयि समत्सरः। इदानीं किं वोच्यते। मम गुरोर्धर्मभ्राता स्थविरनामा जगति विख्यातः। सोऽपि श्रौतं रहस्यं यागमृत्युफलमेव प्रतिपादितवान्। मयापि साक्षात्प्रकटीकृतं। यदि तव प्रत्ययो नास्ति तर्हि विश्ववेदसमुद्रपारगं वसुं पृच्छेः। यः सत्येन गगने स्थितो वर्तते। तच्छ्रुत्वा नारद उवाच—को दोषः स एव पृच्छयतां। इदं तावद्विचारार्हं, चेद्वधोऽत्र धर्मसाधनं तर्हि अहिंसादानशीलादि पापप्रसाधनं भवेत्। एवं चेदस्ति तर्हि दासादीनां परमागतिरस्तु सत्यधर्मतपोब्रह्मचारिणां अधोगतिरस्तु। यज्ञे पशु-

१ मद्गुरोः ख.।

वधाद्धर्मो वर्तते नान्यत्रेति चेन्न वधस्य दुःखप्रत्ययत्वे उभयत्र सादृश्यात् फलेनापि सदृशेन भाव्यं। अथ त्वं एवं वक्षि, पशूनां सृष्टिः स्वयंभुवा यज्ञार्थं कृता तत्र, अन्यथा विनियोगस्यागच्छमानत्वात्। अयमागमोऽतिमुग्धाभिलापः विदुषा गर्हितः। यदर्थं सृष्टं ततोऽन्यत्र विनियोगोऽर्थकृत् कथं स्यात्। श्लेष्मादिशमनौषधं ततोऽन्यत्र कथमुपयोगि स्यात्। क्रयविक्रयादौ हलानोभारवाहनादौ महादोषः स्यात्। दुर्बलं त्वा वादिनं दृष्ट्वा सम्मुखमागत्य ब्रूम. । यथा शस्त्रादिभिः प्राणिघाती पापेन बध्यते तथा मंत्रादिनापि घातकृत्पापेन बध्यते एवाविशेषत्वात्। हंहो पर्वत! पश्वादिलक्षणा सृष्टिर्व्यज्यतेऽथवा क्रियते? चेत्क्रियते तर्हि खपुष्पादिकमप्यविद्यमानं कथं न क्रियते। अथ विद्यमानैव सृष्टिर्यज्ञार्थं व्यज्यते तर्हि पूर्ववचन करणप्रतिपादकमनर्थकं स्यात् प्रदीपज्वलनमेव घटादेः पूर्वमन्धकारप्ररूपकं यत्नः। अनावृतस्यैव व्यक्तिः क्रियते इति चेत्तर्हि सृष्टिवादो भवद्भिः पूर्वं क्रियतां। इति नारदेन कृतमुपन्यासमाकर्ण्य सर्वेऽपि सभास्तारास्तं तुष्टुवुः। अथ सभ्या ऊचुः—द्वयोर्विवादो वसुना चेच्छेद्यते तर्हि स एव अभिगम्यतां। इति श्रुत्वा ताभ्यां नारदपर्वताभ्यां सर्वापि संसत् स्वस्तिकावतीमुच्चचाल। तत्र पर्वतः सर्वं वृत्तान्तं स्वमात्रे निवेदयामास। सा तेन युता वसुं ददर्श। पुत्र वसो! पर्वतोऽपरिणीतः। तपोयता गुरुणापि तवायमर्पितः। नारदेन सह तव प्रत्यक्षे वादो भविष्यति, तत्र यद्यस्य भंगो भविष्यति तदास्य यमगृहप्रवेशो भविष्यतीति निश्चिनु। अस्य शरणमन्यो न वर्तते। वसुरुवाच। मातः! गुरुशुश्रूषकोऽहं वर्ते। "गुरुवद्गुरुपुत्रे गुरुकलत्रे च वर्तेत" इत्यहं नीतिज्ञोऽस्य जयं करिष्यामि। त्वं भैर्षीर्मा। अथान्येद्युस्ते तथाविधं सिंहासनमारूढं वसुं ददृशुः। तत्र विश्वभूप्रभृतयः

१ दुर्वलत्वं ख.।

संपप्रच्छुः । हे राजन् ! त्वत्तः पूर्वमपि अहिंसाधर्मरक्षणे तत्परा अत्र चत्वारो राजानो हिमगिरिमहागिरिसमगिरिवसुगिरिनामानो हरिवंशजाः पुरा च संजाताः। तत्रैव वंशे विश्वावसुमहाराजः संजातः। ततश्च भवान् संबभूव। तत्राहिंसाधर्मरक्षित्वे किमुच्यते। त्वमेव सत्यवादीति प्रघोषस्त्रिभुवने वर्तते। वस्तुसंदेहे त्वं त्रिपदवत् वन्हिवत् तुलावत् वर्तसे। प्रत्ययोत्पादी त्वमेव तेनास्माकं प्रभो ! संशयं छिन्द्धि। नारदः खल्वहिंसालक्षणं धर्मं पक्षं कक्षीचकार। पर्वतस्तु तद्विपरीतमाचिक्षेप। तत्कथयतु भवानुपध्यायस्योपदेशमित्यभ्यर्थितः। गुरुपत्न्या पुरा प्रार्थित उपाध्यायोपदेशं जानन्नपि राजा महाकालोत्पादितमहामोहो दुःषमकालनिकटवर्तित्वात् विषयसंरक्षणानन्दनामरौद्रध्यानतत्परः पर्वतोक्तं तत्वं वर्तते। प्रत्यक्षे वस्तुन्यनुपपन्नता का। पर्वतोक्तयागेन सश्रीकः सगरः स्वर्गमवाप। ज्वलन्तं प्रदीपं कोऽन्यो दीपो यस्तं प्रकाशयेत्। तेन पर्वतोक्तं यज्ञं स्वर्गसाधनं भयं त्यक्त्वा यूयं कुरुध्वं। इति हिंसानृतानन्दबद्धनारकायुर्मिथ्यापापादपवादाद्याभीरुर्जगाद। तदा ब्रह्माण्डं स्फुटितमिवाकारी ध्वनिः संजातः, आकाशः खल्वित्याक्रोशं चकार च। किमाक्रोशयदाकाशः अहो नारद ! अहो तापसाः ! पृथिवीपतेर्मुखादीदृशमपूर्वं घोरं वचनं संजातमिति। नद्यः प्रतिकूलजलस्रवः संजाताः। सरांसि सद्यः शुष्काणि। रुधिरवर्षणमनारतं बभूव। सूर्यांशवो मन्दाः संजाताः। सर्वा दिशो मलीमसाः सम्पद्यन्ते स्म। भयविह्वलाः प्राणिनः कम्पं दधुः। तदा भूमिर्द्विधा भक्तिं गता। तस्मिन् महारन्ध्रे वसोः सिंहासनं ममज्ज। आकाशे स्थिता देवविद्याधरेशा इत्यूचुः—अहो वसुनरेन्द्र महाबुद्धे ! धर्मविध्वंसनं मार्गं मा त्वमीदृशं वादीरित्यपोदयन्। सिंहासने निमग्ने सति पर्वतो वसुश्च परिम्लानमुखौ बभूवतुः। तौ

१ महमोहो. क २ वदतेव. क.

तादृशौ निरीक्ष्य महाकालस्य किंकरास्तापसाकारं गृहीत्वा समूचुः—हे पर्वत ! हे वसो ! युवां भीतिं मा कार्ष्टामित्युक्त्वा स्वयमुत्थापितं सिंहासने दर्शयामासुः । तत्र स्थितो वसुरुवाच । अहं सत्यवित् कथं बिभेमि पर्वतस्य सत्यवचनं जानन्निति ब्रुवाणः कण्ठपर्यन्तं निमग्नवान् । तद् दृष्ट्वा साधवो जगदुः । अनेन मिथ्यावादेन भूपतेरियमवस्था संजाता । हे राजन् ! अद्यापि मिथ्यामार्गं त्यजेति साधुभिः प्रार्थितोऽपि तथापि मूर्खो यज्ञमेव सन्मार्गं कथितवान् । भूम्या कुपितया सर्वाङ्गोऽपि निगीर्णः सप्तमं नरकं जगाम । तदा कालासुरो लोकप्रत्ययनिमित्तं गगने स्थितं सगरसुलसाद्वयं दिव्यं दर्शयामास । आवां यागश्रद्धया दिवमवापाव यूयं नारदस्य वचनं मा मानयतेति प्रोच्य अन्तर्दधौ कालासुरः । अथ शोकाश्चर्ययुक्तेन जनेन वसुः स्वर्गं गतो न हि न हि नरकं गत इति विसंवदमानेन सह विश्वभूः प्रयागं गत्वा राजसूयविधिं विदधे । महापुराधिपप्रमुखा लोकस्य मध्ये निन्दन्तः परमेश्वरनिर्दिष्टमार्गं मनाक् स्थितास्तस्थुः । नारदेन धर्ममर्यादा रक्षितेति तं प्रशस्य गिरितटनाम्नीं पुरीं तस्य ददुः । तापसास्तु दयाधर्मनाशस्य कारणं कलिकालं कथयन्तो यथास्थिति त्रिपुरगता जग्मुः । अथान्यद्युर्नारदो दिनकरदेवं विद्याधरं निजसभीदं प्रत्युवाच—पर्वतस्य विस्ताचरणं त्वया निवार्यतामिति । सोऽपि तथा करिष्यामीति स्वस्थानं गत्वा निर्वर्तनया धारणगानादुत्र सर्वं निवेदयामास । धारणभगवान् संग्रामे कालासुरं मत्वा यागविघ्नं चक्रुः । विश्वभूपर्वतौ तद् दृष्ट्वा इत्थमन्वेषणौ कारणमाला नास्मरकालमसुरं चिन्तं ददतुः । तस्मै ते वृत्तान्तं निवेदयामासतुः । कालासुर उवाच—अमरदेविनां नागरोरगमुख्यसां विदितः । विद्यानुप्रवादीनां नागविद्यानामां विमर्दनं जिनबिम्बाधस्तादुपरि न भवति तत्र मुक्त्वा जिनाकारान् चतुर्षु दिक्षु निवेश्य

---

१ अवर्तिष्ट । २ अन्विषन् ।

पूजयित्वा च यज्ञविधिं युवां कुरुतमिति। तमुपायं श्रुत्वा तौ तथा चक्रतुः। पुनर्विद्याधराधिपो यागविघ्नं कर्तुमागतः। जिनबिम्बानि दृष्ट्वा नारदाय कथयति स्म। यन्मे विद्या अत्र न क्रामन्तीति स्वस्थानं जगाम। तदनन्तरं यज्ञो निर्विघ्नो बभूव। तदनु विश्वभूः पर्वतश्च सप्तमं नरकं गतौ। दीर्घकालं महादुःखमनुबभूवतुः। अथ महाकालोऽभिप्रेतं साधयित्वा निजरूपं धृत्वा लोकान् प्रत्याह–पोदनापुरे पूर्वभवेऽहं मधुपिंगलो नाम राजा आसं। सुलसानिमित्तं मया महत्पापमुपार्जितं। अहिंसालक्षणो धर्मो जिनेन्द्रैः कथितः स भवद्भिः कर्तव्यो धर्मिष्ठैरिति संप्रोच्य अन्तर्दधौ। पुनर्दयार्द्रधीः सन् सुदुश्चेष्टा पापस्य प्रायश्चित्तं स्वयं चकार। किं प्रायश्चित्तं ? सम्मोहात्कृतस्य पापस्य निवृत्तिरेव प्रायश्चित्तं तोमसौ चकार। अथ दिव्यबोधैर्मुनिभिरित्युक्तं-विश्वभूप्रमुखा हिंसाप्रवर्तका नारका बभूवुः। तच्छ्रुत्वा पर्वतोदिष्टं दुमार्गं केचित् पापभीरवो नाशिश्रियुः। केचित्तु दीर्घसंसारिणस्तस्मिन्नेव दुर्मार्गे स्थिता इति।

इति श्रीभावप्राभृते मधुपिंगलद्रव्यलिंगिनः कथा समाप्ता।

अण्णं च वसिट्ठमुणी पत्तो दुक्खं णियाणदोसेण।
सो णत्थि वासठाणो जत्थ न ढुरुढुल्लिओ जीवं॥ ४६॥

अन्यच्च वसिष्ठमुनिः प्राप्तः दुःखं निदानदोषेण।
तन्नास्ति वासस्थानं यत्र न भ्रान्तो जीव !॥

अण्णं च वसिट्ठमुणी अन्यच्च भावरहितद्रव्यमुनिदृष्टान्तकथानकं वर्तते। तत्किं वसिष्ठमुनिः। **पत्तो दुक्खं णियाणदोसेण** प्राप्तो दुःखं निदानदोषेण शत्रुवधप्रार्थननिदानदोषेण नवमेन विष्णुना यः कंसनामा नृपो मारितः स वसिष्ठमुनिचरो मल्लयुद्धे मरणदुःखं प्राप्तः। **सो णत्थि**

१ तं स। २ जीवो ग. घ.।

वासठाणो तन्नास्ति वासस्थानं जन्ममरणस्थानं। जत्थ न दुरुदुल्लिओ जीव हे जीव ! हे आत्मन् ! यत्र त्वं न जातो नोत्पन्नश्च दुरुदुल्लिओ-भ्रान्त इति । वसिष्ठस्य कथा यथा—गंगागन्धवत्योर्नद्योः संगमे जठरकौशिकं नाम तापसानां पल्ली बभूव । तत्र वसिष्ठो नायकः पंचाग्निमतं चरन्नास्ते स्म । तत्र गुणभद्रवीरभद्रनामचारणमुनिवरौ जगदतुः—अज्ञानकृतमिदं तप इति । तच्छ्रुत्वा वसिष्ठः क्रुधीः सक्रोधं तयोः पुरतः स्थित्वा पप्रच्छ—कस्मान्मेऽज्ञानतेति । तत्र गुणभद्रो भगवानाह—यतः सत्पुरुषा हि हितभाषिणो भवन्ति । जटाकलापसंजातयूकालिक्षाभिघट्टनं सततं स्नानेन जटामध्यलग्नमृतमीनकान् दह्यमानकाष्ठमध्यस्थितकीटकान् प्रदर्श्य इदं तवाज्ञानमिति प्राबोधयत् । काललब्धिमाश्रित्य स वसिष्ठः सुधीर्भूत्वा गुणभद्रचरणान्ते तपो निर्ग्रन्थं गृहीत्वा सोपवासमातापनयोगे जग्राह । तत्तपोमाहात्म्यात् सप्तव्यन्तरदेवता अग्रतः स्थित्वा ब्रुवन्ति स्म—मुने ! आदेशं देहीति । मुनिराह—इदानीं मम प्रयोजनं नास्ति गच्छत यूयं । जन्मान्तरे मच्छिष्टं करिष्यथ । एवं तपः कुर्वन् वसिष्ठः क्रमेण मथुरापुरीमाजगाम । तत्र मासोपवासी सन्नातापनयोगे स्थितवान् । स उग्रसेनेन राज्ञा दृष्टः । भक्तिवशेन पुर्यां घोषणां कारयामास—अयं मुनिर्मद्गृहे एव भिक्षां गृह्णातु नान्यत्रेति । सोऽपि पारणादिने मथुरां जगाम । तत्राग्निमुत्थितं दृष्ट्वा व्याघुट्य वनमाजगाम । पुनर्मासोपवासं जग्राह । पुनः पारणार्थं मासोपवासावसाने पुरं गतः । तत्र वारणस्तम्भक्षोभं दृष्ट्वा वनमागतः । पुनर्मासोपवासपारणायां नगरं गतः । तदा जरासन्धपत्रकं दृष्ट्वा राजनि व्यग्रचित्ते सति पुनर्वलितः । तदा क्षीणशरीरं वसिष्ठमुनिं दृष्ट्वा लोको जगाद—अनेन राज्ञा मुनिर्मारितः स्वयं भिक्षां न ददाति परान् वारयतीति न ज्ञायते कोऽभिप्रायो नृपस्येति । तच्छ्रुत्वा वसिष्ठो मुनिः पापोदयान्निदानं चकार । मम दुष्कर-

रतपःफलादस्य राज्ञः पुत्रो भूत्वा अमुं निगृह्य तस्य राज्यं गृह्णामीत्यनेन दुष्परिणामेन मृत्वा पद्मावतीगर्भे पुत्रतया स्थितः। सा गर्भार्भकक्रौर्येण दोहदं चकार—राज्ञो हृदयमांसमश्नामीति। तदप्राप्नुवन्ती दुर्बला बभूव। तज्ज्ञात्वा मंत्रिणः प्रयोगेण विहितं दोहदं पूरयन्ति स्म। विद्वांसः किन्न कुर्युः। तदा सा पूर्णमनोरथा सुतपातकमसूत। मातापितरौ दष्टोष्टं सभ्रूभंगं वद्धमुष्टिं तं दृष्ट्वा न पोदने योग्योऽयमिति विचिन्त्य तद्विसर्जनोपायं चक्रतुः। कंसमयीं मंजूषामानीय सपत्रकं कंसं तस्यां निधाय यमुनाप्रवाहे मुमुचतुः। कौशाम्बीपुरे मन्दोदरी नाम कल्लपाली, तया प्रवाहे मंजूषामध्ये स दृष्टः पुत्रतया पालितश्च। तपस्विनां हीनानपि पुण्यानि किं न कुर्युः। कैश्चिद्दिनैर्लब्धनादिशहं वय प्राप। आक्रीडमानो निष्कारणं सकलबालकान् चपेटया मुष्टिना दण्डादिना च प्रहारं ददाति वधपापं बध्नाति। तद्दुराचारोपलंभान् असहमाना मन्दोदरी तं तत्याज पुत्रं। सोऽपि शौर्यपुरं गत्वा वसुदेवपदातिर्भूत्वा तत्सेवां करोति यावत्। अत्रान्तरे जरासन्धो राजा त्रिखण्डमेदिनीपतिरपि कार्यंतोपवान् वर्तते। सुरम्यदेशे पोदनापुराधीशं सिंहरथं युद्धे बद्ध्वा य आनयति तस्मै देशार्धं मत्सुतां कालिन्दसेनाख्यां जातां जीवद्यशोनाम्नीं ददामीति पत्रमालां राज्ञां समूहान् प्रति प्रेषयामास। तत्र वसुदेवो गृहीत्वा प्रचलितवान्। [illegible] तं सिंहरथं [illegible] संमुखे तं जित्वा कंसेन निजभृत्येन बन्धयित्वा निजरथं राज्ञे अर्पयामास। जरासन्धस्तु तुष्टो निजपुत्रीं देशार्धं च ददौ। वसुदेवस्तु [illegible] सप्ते—देव! नाहं सिंहरथं बद्धवान्, [illegible] कंसः [illegible] दर्शितवान्। [illegible] [illegible] मन्दोदरी प्रति दूतं प्रेषितवान्। [illegible]

१ [illegible] क.। २ [illegible] क.।

मन्दोदरी मम पुत्रः किं तत्रापि कृतापराध इति भीत्वा समंजूषा तत्र जगाम। जरासन्धाग्रे मंजूषां निक्षिप्य इयमस्य मातेत्युवाच। देव! कंसमंजूषामधिष्ठायाऽर्भक आगतो यमुनाजले मया लब्धः प्रतिपाल्य वर्धितश्च तत एव नाम्ना कंस कृतः। अयं स्वभावेन शौर्यदर्पिष्ठः शिशुत्वेऽपि निरर्गल पश्चादुपालंभशतैर्लोकानां मया वर्जितः। तच्छ्रुत्वा मंजूषायाः पत्रे गृहीत्वा उच्चैर्वाचयामास। उग्रसेन-पद्मावत्योः सुतं विज्ञाय सुतामर्धराज्यं च तस्मै वितताऱ। कंसोऽपि जातमात्रोऽहं नद्यां प्रवाहित इति कोपेन मथुरापुरं स्वयमादाय मातर-पितरौ बन्धस्थौ कृत्वा गोपुरे धृतवान्। विचारविकलाः पापीयांसः कुपिता किं किं न कुर्युरिति। अथ वसुदेवं महीपतिं पुरमानीय निजानुजां देवकीं दत्वा तत्र तं स्थापितवान् महाविभूतिमन्तं तं चकार। एवं सुखेन कंसस्य काले गच्छति सत्येकदाऽतिमुक्तको मुनिर्भिक्षार्थं राजमन्दिरं प्रविष्टः। तं दृष्ट्वा जीवयशा हर्षमाणा तं हास्येनोवाच–हे मुने! देवकी तव लघुभगिनी पुष्पमानन्दवस्त्रं तवेदं दर्शयति बन्धेन स्वचेष्टितं प्रकाशयतीति। तच्छ्रुत्वा मुनिः कोपं कृत्वा वाग्गुप्तिं भित्त्वा अगाद्–मुग्धे! किं हसमि देवक्या यो भविष्यति पुत्रः स तव भर्तारमवश्यं हनिष्यति। तच्छ्रुत्वा जीवयशा कोपेन तद्वस्त्रं द्विधा चक्रे। मुनिरगाद्–मुग्धे! न केवलं तव पतिमेव हनिष्यत्यनेन पितरमपि तव हनिष्यति। इत्युक्ते सा कुपिता तद्वस्त्रं पादाभ्याममर्दयत्। तद्दृष्ट्वा मुनिर्जगाद–मुग्धे! अनेन सागरान्ता पृथ्वी नारीमिव पालयिष्यति। जीवयशास्तच्छ्रुत्वा स्त्रीकान्तं भर्त्रे निवेदयामास। कंसो भीत्वा हास्ये-नापि प्रोक्तं मुनेः सफलं भविष्यतीति वसुदेवं गत्वा गत्वा सप्तेदमिद-

१ कंसस्य पूर्वचरितस्य मंजूषा वा। २ तव पतिमेव। ३ कुपिता म.।

मयाचत-देवकी मम गृहान्तरं प्रसूतिं कुर्यान्मतादिति। वसुदेवस्तेनोपरुद्धः संस्तथास्त्विति जगाद । अवश्यंभाविकार्येषु मुनिरपि मुह्यति । अथैकदा स मुनिर्देवकीगेहे भिक्षार्थं प्रविवेश । वसुदेवो देवकी च तं प्रतिगृह्य भोजयित्वा आवयोर्दीक्षा भविष्यतीति छद्मना जगदतुः । मुनिस्त-दिङ्गितं ज्ञात्वोवाच—युवयोः सप्त पुत्रा भविष्यन्ति तेषु षड् पुत्राः परस्थाने वृद्धिमित्वा मोक्षं यास्यन्ति सप्तमस्तु पुत्रो निजच्छत्रच्छायया पृथ्वीं निर्धाय चक्रवर्ती दीर्घकालं पालयिष्यति । देवकी ततस्त्रिर्यमान् लेभे । तान् ज्ञानवान् शक्रश्चरमाङ्गान् ज्ञात्वा नैगमर्षं देवं प्रोवाच—एतांस्त्वं रक्ष । स च भद्रिलपुरे अलकाया वणिक्पुत्र्याः पुरो निक्षिप्य तत्पुत्रांस्तदा तदा भूतान् गृहीत्वा मृतान् यमान् देवक्यग्रे निचिक्षेप । कंसस्तान् मृतान् यमान् दृष्ट्वा किममी मे मृताः करिष्यन्तीति मुने-र्वाक्यमसत्यमभूदिति प्रोच्य साशंकः शिलायामास्फालयामास । पश्चाद्दे-वकी सप्तमं पुत्रं सप्तम एव मासे जनितवती निजगृहे एव महाशुक्रा-च्च्युतं निर्नामिकचरं मुनिवरं । वसुदेवो बलभद्रश्च नीतिमन्तौ, देवकीं ज्ञापयित्वा गृहीतवन्तौ, बलेन बाल उद्धृतः, पित्रा धृतच्छत्रो रात्रावेव निष्कासितः । तत्पुण्येन पुरदेवता वृषभरूपेणाग्रेऽग्रे निजशृङ्गमणिदी-पिकाकृतोद्योता मार्गं दर्शयामास । तद्बालपादस्पर्शाद्गोपुरमुद्राटितोररं सद्यो जातं । तत्र बन्धनस्थित उग्रसेन उवाच-कपाटोद्घाटनं कः करोति ! बलदेव उवाच—यस्त्वां बन्धान्मोचयिष्यतीति तूष्णीं तिष्ठेति । उग्रसेन एवं भवत्वित्याशीर्भिरभिनन्द्य स्थितः । तौ तु यमुनामितौ । सा भविष्य-च्चक्रिप्रभावेन द्विधा भूत्वा मार्गं ददौ । सवर्णः को वा बन्धुतां सार्द्रो न कुर्यात् । तौ विस्मितौ यमुनां व्यतिक्रम्य बालिकामुद्धृत्यागच्छन्तं नन्द-गोपतिं ददृशतुः । तं दृष्ट्वा तावूचतुः—भद्र ! त्वमसहायो रात्रावत्र कि-

१ पूर्वदत्तवरदानात् । २ अस्मादग्रे उवाचेति पदं । ३ त्रिद्मल. स. । ४ शब्दं ।

मित्यागतः । स प्रणम्योवाच–मम प्रिया युष्मत्प्रचारिका पुत्रार्थं गन्धादिभिः पूजयित्वा देवतां याचितवती–देवि ! पुत्रं मे देहीति । सोच रात्रौ पुत्रीं लेभे । सोवाचेति स्त्र्यपत्यं ताभ्य एव देहि । तस्याः सशोकायाः वचनादिदं स्त्र्यपत्यं देवताभ्यो दातुं मम प्रयासोऽयं स्वामिन्निति जगाद। तद्वचनं तौ श्रुत्वाऽस्मत्कार्यं सिद्धमिति प्रहृष्य तमूचतुः–त्वमस्माकममीष्टतेन तव गुह्यं कथ्यते, अयं बालश्चक्री भविष्यति त्वं पालयेति । इयं तु बालिकाऽस्मभ्यं दीयतामिति। तां गृहीत्वा गूढतया पुरं गतौ । नन्दगोपस्तु गृहं गत्वा प्रियां प्राह–प्रिये ! देवता तुष्टा महापुण्यं पुत्रं तुभ्यं ददुः प्रसन्ना इति प्रोच्य त पुत्रं तस्यै समर्पयामास । कंसस्तु देवकी पुत्रीं प्रसूतवतीति श्रुत्वा तत्र गत्वा तां सुतां भग्ननासां चकार । मात्रा तु सा बालिका भूमिगेहे वर्धिता प्रौढयौवना नासाविकृतिं विलोक्य आर्यिकापार्श्वे सुव्रतां दीक्षां जग्राह शोकेनेति । विन्ध्यपर्वते स्थानयोगं गृहीत्वा स्थिता । वनवासिषु देवतेति पूजयित्वा गतेषु रात्रौ व्याघ्रेण भक्षिता स्वर्गलोकं जगाम । अथापरस्मिन् दिने व्याधैर्हस्ताङ्गुलित्रयं दृष्टं । क्षीरकुंकुमादिभि पूजितं देशवासिभिर्मिमूढात्मभिरमावार्या विन्ध्यवासिनी देवतेति प्रमाणिता। अथ तस्मिन् पुरे महोत्पाता प्रसृता । तान् दृष्ट्वा कंसेन वरुण पृष्ट किमेषां फलमिति । स आह–तव शत्रु समुत्पन्नो महान् इति । नैमित्तिकवचनं श्रुत्वा राजा चिन्ताचिन्तो बभूव । तदा पूर्वोक्ता देवता समागता किं कर्तव्यमिति पप्रच्छुः । स आह–मम शत्रुं पापिष्ठं कचिद् पत्तनं गत्वा मारयत यूयं । तच्छ्रुत्वा सर्वापि स्तावत्तदास्थिते । तत्र पूतना विभंगात् ज्ञात्वा वासुदेवं मारयितुं यशोदारूपमातृरूपं गृहीत्वा विषस्तनपानोपायेन दुष्टा मारणे चिकीर्षिता । तद्वाऽपाऽन्तोनुका कानिदन्या देवता स्तनदा-

१ यशोदा ।

नावसरे महत्तोत्रं चकार। तयोरिदं सोऽसमर्था पूतनाभिधानकोटं कृत्वा पलायिता (१)। द्वितीया देवता शकटाकारं गृहीत्वा शिशूपरि धावन्ती तेन पादाभ्यां ताडिता नष्टा (२)। अपरेद्युर्नन्दगोपी कलशानुद्धृत्य बद्ध्वा जलमानेतुं गता तथापि शिशुरुल्वणमगमत्। तदा तं बालं मारयितुं द्वे देवते अर्जुनतरू भूत्वा तदुपरि पतन्त्यौ मूलादुन्मूलयामास (३–४)। विष्णोर्गमनवेलायामेका तालतरुर्भूत्वा तन्मस्तके फलानि दृषदोऽपि निष्ठुराणि पातयितुमुद्यता (५)। अपरा रासभी भूत्वा तं दष्टुमागता। तां रासभीं चरणे धृत्वा तथैव तं वृक्षमताडयत् (६)। अन्यस्मिन् दिनेऽन्या देवता तुरंगमी भूत्वा तं मारयितुमागता। तस्य वदने मुष्टिना जघान (७)। एवं सर्वत्र देवताः कंसमागत्योचुः—वयं तव शत्रुमाहन्तुं न समर्थाः स्म इति। विद्युत इव विलीनाः। देवतानामपि शक्तयः पुण्यवज्जने न समर्थाः शक्रवज्रेऽरिशस्त्राणीव। अन्यस्मिन् दिनेऽरिष्टनामा देवस्तत्पराक्रमं द्रष्टुं तत्पुरमागतः कृष्णवृषभाकारः, तस्य ग्रीवाभंजने स उद्यमं चकार। तन्माता यशोदापि तं तर्जयति स्म—पुत्र! एवमादित एवाकष्टचेष्टितात् श्रेशान्तरसम्पादकाद्विरमेति पुनः पुनर्निवारितोऽपि मदोत्कटस्तच्चेष्टितं चकार। महौजसोऽपदाने निवारयितुं न शक्यन्ते। तत्पौरुषं ख्यातं लोकवचनादाकर्ण्य देवकीवसुदेवौ तद्दर्शन उत्कण्ठितौ। गोमुखीनामोपवासमिषेण सीरिणा सह महत्यां विभूत्या गोदावनं गोष्ठं परिवारेण सह गतौ। तस्मिन्नेव दर्पवद्वृषभेन्द्रग्रीवाभंगावसरे कृष्णं महामल्लं समारम्भ्य स्थितं दृष्ट्वा गन्धमाल्यादिसन्मानानन्तरं भूषयामासतुः। तदनन्तरं प्रदक्षिणं कुर्वत्या देवक्याः शातकुंभकुंभसदृशयोः स्तनयोः क्षीरं मुमोच कृष्णस्याभिषेकं कुर्वत्या इव। बलस्तद्वीक्ष्य मंत्रभेदभयादुपवासप-

१ महोजसोपदानि. रा.। २ शुद्रकर्मनि इत्यर्थः। ३ बलभद्रेण। ४ महाविभूत्या. ख.। ५ गुआव. रा.। ६ बलदेव।

रिश्रान्ता माता मूर्छितेति जल्पन् सुधीः कुंभपूर्णपयोभिस्तां समन्ततोऽभ्युक्षितवान्। ततो गोष्ठवृद्धादीनामपि तद्योग्यं पूजनं कृत्वा गोपालकुमारैः सह कृष्णं भोजयित्वा स्वयं च भुक्त्वा माता पिता च विकुर्वाणौ पुरं प्रविविशतुः। कदाचिन्महावर्षपाते जाते गोवर्धनाख्यं पर्वतमुद्धृत्य हरिर्गवामावरणं चकार। तेन ज्योत्स्नेव तत्कीर्तिरखिलं जगत् व्याप्नोति स्म शत्रुमुखकमलसंकोचकारिणी। तन्नगरस्थापनाहेतुभूतजिनालयसमीपे पूर्वदिशि देवतागृहे हरिपुण्यातिरेकात् नागशय्या धनुः शंखश्च त्रीणि रत्नानि देवतारक्षितानि नारायणस्य भविष्यल्लक्ष्मीसूचकानि समुत्पन्नानि। तानि दृष्ट्वा कंसो वरुणं सभयं पप्रच्छ—एतेषां प्रादुर्भूतेः किं फलमिति। स प्राह—हे राजन्! एतानि त्रीणि रत्नानि शास्त्रोक्तविधिना यः साधयति स चक्रवर्ती भविष्यतीति। तच्छ्रुत्वा कंसः स्वयं तन्नितयं साधयितुमिच्छुरपि साधयितुमशक्तो मनाक् खिन्नः साधनाद्विरराम। उक्तवांश्च यो नागशय्यामारुह्यैकेन हस्तेन शंखं पूरयति द्वितीयेन करेण धनुरारोपयति युगपत्कार्यत्रयं करोति तस्मै निजपुत्रीं दास्यामीति स्वशत्रुं परिज्ञातुं साशकं पुरे घोषणामचीकरत्। तद्वार्तां श्रुत्वा सर्वे राजान आगताः। राजगृहात् कंसस्यालकः स्वर्भानुनामा भानुनामानं स्वपुत्रं भानुसदृशमादायाजगाम। निवेशं चिकीर्षुर्गोदावनसमीपे महासर्पनिवाससरोवरतटे निवासं कर्तुमना गोपालकुमारेभ्यः श्रुत्वा कृष्णं विनाऽस्य सरसो जलमानेतुं परैर्न शक्यमिति तमाहूय यथास्थानं स्कन्धावारं निवेशयामास। कृष्ण उवाच—राजन्! त्वया कुत्र गम्यते इति। स्वर्भानुर्मथुरागमनप्रयोजनं तस्योक्तवान्। कृष्ण उवाच—राजन्! एतत्कर्म किमस्मद्विधैरपि कर्तुं भवेत्। तच्छ्रुत्वा स्वर्भानुश्चिन्तयामास-

१ वृषा॰ ख.। २ हर्षमाणौ। ३ प्रविशशतुः क.। प्रविशतुः ख।

सौ शिशुः पुत्त्रादिकं केनकौ न वर्तते इति। तस्य कर्मणः शक्र-दानाष्टेति निजपुत्रमिव तं गृहीत्वा सुभानुनामा स्वर्भानुर्मधुरां जगाम। यथार्ह कंसं ददर्श। तत्कर्मकरणे बहून् भ्रममानान् दृष्ट्वा कृष्णः स्वर्भानुतुलं भानुं नमीत्वा कृत्वा धनुत्रयं समकालं चकार। ततः सु-भानुना स्थिरपादस्थः कृष्णो गोष्ठं जगाम। केश्चित्पुरुषैः कंसो भणितः "तत्कर्म भानुना कृतं"। केचित्तदक्षकैरुक्तं "न भानुना तत्कर्म कृतं अन्येन कुमारेणेति"। तच्छ्रुत्वा कंसः प्राह—सोऽन्योऽन्विष्यानीयतां तस्मै कन्या प्रदीयते इति। स कस्य, किं कुलं, कस्मिन्निति। तावन्न-न्दगोपेन सम्यग्विज्ञातं अनेन मत्पुत्रेण तत्कर्म सम्यक्कृतमिति भीत्वा गोमण्डलं नीत्वा पलायांचभूवे। शिलास्तंभमुद्दधुं तत्र सर्वे जनाः प्रा-प्तास्ते नाशक्नुवन्। कृष्णेन केवलेनैव समुद्धृतः। तत्सारत्सान् सर्वे जना विस्मयं जग्मुः। पटार्घ्यांशुकाभरणादिदानेन पूजयामासुः। नन्दगोपस्तु ममात्र पुत्रप्रभावेन कुतोऽपि भयं नास्तीति प्राक्तनमेव स्थानं गोकुलं निनाय। अन्वेषकैस्तु नन्दगोपसुतेनैतत्कर्म कृतमिति राज्ञे निवेदते स्म। तथापि तदनिश्चये सहस्रदलं कमलमहीशार-क्षितं प्रेष्यतामिति राज्ञा नन्दगोप आज्ञापितः शत्रोर्निज्ञाशया। तच्छ्रुत्वा नन्दगोपः शोकाकुलो बभूव "राजानः किल प्रजानां पालका भवन्ति कष्टमेतत् तेऽद्य मारकाः संजाता इति।" निर्विय पुत्र! त्वं पाहि राजनिर्देशितदर्शी वर्तते इति। त्वमेवोत्तरपरक्षितानि कमलानि राज्ञः प्रदातव्यानीति जगाद। कृष्णः प्राह—कोऽपि पदार्थः किं दुष्करो मम वर्तते इत्यभ्युपेतज्ञा नागसरो जगाम। त्वरितं तत्र निःशंकं प्रविवेश च। तं ज्ञात्वा कोपेन वेपमानो दृष्टिहानः स्वनिःश्वाससमुद्धूतज्वल-

---

१ ख. पुस्तके नास्त्ययं पाठः। २ आज्ञा।

ज्वालाकणान् किरन् फणारत्नप्रभाभासिफणाप्रकटाटोपभयानकः प्रचण्डरसैनायुगलो विस्फुरद्दीर्क्षणाऽत्युग्रवीक्षणः प्रत्युत्थाय कृतान्ताकारस्तं निगरितुमुद्यतः । कृष्णस्तु मम वसनमिदमस्य ताडने शुद्रशिला भवितेति जलार्द्रं पीतवस्त्रं मुक्त्वा फटायां तं निष्ठुरं ताडयामास। तस्माद्वज्रपाताद्वज्रपातादपि दुर्धरात् पूर्वपुण्योदयाच्च भीतः कालियाहिः फणीन्द्रोऽदृश्यतां जगाम । हरिर्यथेष्टं कमलानि गृहीत्वा शत्रोः समीपं प्रापयामास। तानि दृष्ट्वा कंसो निजशत्रुं दृष्टवानिव नन्दगोपसमीपे मम शत्रुर्वर्तते इति निश्चिकाय । एकदा नन्दगोपालमादिष्टवान् मल्लयुद्धमीक्षितुं निजमल्लैः सहाऽऽगच्छेरिति । स च तत्सन्देशं श्रुत्वा कृष्णादिभिर्मल्लैः सह प्रविवेश । तत्र मत्तगजं वीतबन्धनं कृतान्ताकारं मन्दगन्धाहृतरवद्भ्रमरसेवितं नियमच्युतराजकुमारवत् निरङ्कुशं दन्तमुशलाघातनिर्भिन्नसुधामन्दिरमाधावन्तं विलोक्य कश्चित् सम्मुखं प्रढौक्य दन्तमेकमुत्पाट्य तेनैव तं ताडयामास। गजोऽपि भीतो दूरं जगाम। तद्दृष्ट्वा हरिर्भृशं तुष्टः सन्नुवाच–अनेन निमित्तेन कुटुम्बप्रकटीकृतो जयोऽस्माकं भविष्यतीति गोपान् समुत्साह्य कंससदः विवेश। वसुदेवोऽपि राजा कंसाभिप्रायं विदित्वा निजसेनां सन्नाह्यैकत्र स्थितः । बलभद्रोऽपि कृष्णेन सह रंगं प्रविष्ट इव दोर्दण्डास्फालनध्वनिं कृत्वा समन्तात् परिभ्रमन् कंसविनाशोऽद्य तव समय इति समाख्याय निर्जगाम। तदा कंसादेशेन विष्णुविधेया गोपकुमाराः प्रदर्पयन्तः भुजानास्फाल्य गृहीतमल्लपरिच्छदाः कर्णानन्दकारिवादित्रचटुलध्वनिभिरेकत्रीभूत्वा चरणोत्क्षेपविनिक्षेपाः प्रोन्नतभुजद्वयोत्कटाः पर्यायनर्तितप्रेक्षणीयभ्रूभगभयानकरान्दोलितवर्तनशतावर्तनमंभ्रमणवल्गनप्लवनसमवस्थानैरपरैश्च स्फुटैः करणैः रंगसमीपमलंकृत्य नयन-

१ रसज्ञा. क. २ नेत्र। ३ अवलोकनीयः । ४ द्वयोत्क्षेपा. ख ।

मनोहराम्बरास्थितांनः। कंसमल्लाश्च मौष्टिकचाणूरप्रमुखा विक्रमैकरसा रंगाभ्यर्णं समाक्रम्य स्थितवन्तः । विष्णुश्च रंगस्य मध्ये समुदात्तमनःप्रसरो वीर हरमल्लाग्रणी प्रतिमल्लयुद्धविजयं प्रागेव प्राप्त इव दीप्ततेजा देवोऽवतीर्णोऽधुना मल्लत्वे प्राप्तो भास्वानिव सहं जेष्यामीति प्ररूढपराक्रमैकरसः स्वयं संभावयन् निबिडपरिगृहीतपरिधानः प्रबद्धकेशैः स्वभावेन मसृणाङ्गो विकूर्चविस्तृतचिविचोऽप्रतिमल्लैर्निरन्तराभ्यस्तनियुद्धत्वाद्विफललब्धजयलाभः सर्वैरपि संभावितोत्साहः स्थिरतरपादनिवेशो वज्रसारास्थिबन्धो भुजार्गलापरिबाधी मुष्टिसंमायिमध्यप्रदेशः कृतानेककरणमल्लो लघुसंचरणप्रवीणोऽतिकठिनविस्तीर्णवक्षःस्थलो बृहन्नीलपर्वतोत्तुङ्गो दर्पप्रवृद्धित्रिगुणितनिजमूर्तिर्ज्वलितचलितनेत्रत्वाद्दुर्निरीक्ष्यसांमुख्योतिशयेनाशनिपातवद्दुष्प्रो नन्दनन्दनः स्थितः सन् यमस्याप्युच्चैर्भयमसहनीयमुत्पादयन् धरनखिलं शौर्यं मूर्तिमन्मिलितमिव समस्तं रंहो मनुष्याकारमागतमिव सिंहाकारः सहसाकृतसिंहध्वनिः रंगाद्गगनमिव नभोङ्गणमलंघत पुनराकाशादशनिवद्धरणिमापत्य आत्मपादपाताभिघातचलिताचलसन्धिबन्धो मुहुर्वल्गन् परिसरंश्च प्रतिजृंभमाणसिंदूररंजितभुजदण्डौ समुद्गौ क्रुद्धः प्रचलयन् श्रोणीद्वितयभागविलंबिपीतवस्त्रो नियुद्धकुशलं पर्वतशिखरोन्नतं प्रतिमल्लं चाणूरमाहत्य सहसा सिंहवदाबभासे । तं दृष्ट्वा रुधिरोद्गमोग्रलोचनः कंसः स्वयं मल्लतां प्राप्यागच्छति स्म । तमुग्रसेनतनयं जन्मान्तरद्वेषात् करेण चरणे संगृह्याकाशे भ्रामयन्नलपाण्डमिव यमराजस्य समीप उपायनीकर्तुमिव स कृष्णो भूमावास्फालयामास । तदा कृष्णमस्तके व्योम्नः कुसुमानि प्रपेतुः देवदुंदुभयो ध्वनिं चक्रुः । वसुदेवसेना समुद्रे प्रक्षोभणात् कोलाहलब्र-

---

१ केशः. ख. । २ अप्रतिमैर्गोपमल्लैः. ख. ।

निरुत्तस्थे । मुशलीवीरवरो विरुद्धनृपतीनाक्रम्य रंगे स्थितः । स्वात्मुनं स्वीकृत्य गर्जितं चकार । विष्णुस्त्रिखण्डलक्ष्म्या कटाक्षितः ।

इति श्रीभावप्राभृते द्रव्यलिंगिनो वसिष्ठमुनेः कथा परिसमाप्ता ।

सो णत्थि तं पएसो चउरासीलक्खजोणिवासम्मि ।
भावविरओ वि सवणो जत्थ ण दुरुदुल्लिओ जीवं ॥४७॥

स नास्ति त्वं प्रदेशः चतुरशीतिलक्षयोनिवासे ।
भावविरतोऽपि श्रवणो यत्र न भ्रान्तः जीव ! ॥

पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । हे **जीव** ! हे चेतनस्वरूपात्मन् ! । **जत्थ** यत्र प्रदेशे । **तं** त्व भवान् । **ण दुरुदुल्लिओ** न भ्रान्तः स प्रदेशः ससारे नास्ति । कस्मिन्, **चउरासीलक्खजोणिवासम्मि** चतुरशीतिलक्षयोनिवासे स्थाने । कथंभूतस्त्वं, **भावविरओ वि सवणो** श्रवणो दिगम्बरोऽपि सन् भावविरतो जिनसम्यक्त्वरहितः । उक्तं च गुम्मटसारग्रन्थे नेमिचन्द्रेण गणिना—

णिच्चिदरधादु सत्तय तरु दस वियलिंदिएसु छच्चेव ।
सुरनरयतिरियचदुरो चउदस मणुए सदसहस्सा ॥ १ ॥

अस्या अयमर्थः:—नित्यनिकोतजीवाना सप्तलक्षा जातय ७०००००। इतरनिगोदजीवानां जातयः सप्तलक्षाः ७०००००। धातूना पृथिवीकायजीवाना अप्कायजीवाना तेज कायजीवाना वायुकायजीवानां जातयः चतुर्णा प्रत्येकं सप्तलक्षा । पृथ्वी ७०००००। अप् ७०००००। तेजः ७०००००। वायु ७०००००। तरु दह—वनस्पतिकायजीवानां जातयो दशलक्षा १०००००० । वियलिंदिएसु छच्चेव—द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजीवानां जातयः समुदायेन षड्लक्षाः । द्वीन्द्रिय

१ जीवो. ग. घ. ।

२०००००। त्रीन्द्रिय २०००००। चतुरिन्द्रिय २०००००। सुरनर-यतिरियचदुरो–सुराणां जातयश्चतस्रो लक्षाः ४०००००। नारकाणां जातयश्चतस्रो लक्षाः ४०००००। तिरश्चां जातयश्चतस्रो लक्षाः ४०००००। चोद्दस मणुए–चतुर्दश लक्षा जातयो मनुजे मनुष्यजीवानां १४०००००। सदसहस्सा–शतसहस्राः ।

भावेण होइ लिंगी ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण ।
तम्हा कुणिज्ज भावं किं कीरइ दव्वलिंगेण ॥ ४८ ॥

भावेन भवति लिङ्गी न हु भवति द्रव्यमात्रेन ।
तस्मात् कुर्याः भावं किं क्रियते द्रव्यलिङ्गेन ॥

भावेण होइ लिंगी भावेन निदानादिरहिततया जिनसम्यक्त्वसहिततया लिङ्गी सन् लिङ्गी भवति निदानादिसहितो जिनसम्यक्त्वरहितो लिङ्गी मुनिलिङ्गी जिनलिङ्गी सल्लिङ्गी न भवति । **ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण** न हु–स्फुटं लिङ्गी सन्नपि लिङ्गी न भवति द्रव्यमात्रेण शिरोलोचमयूरपिच्छकमण्डलुग्रहणवस्त्रत्यजनमात्रेण लिङ्गी सन्नपि लिङ्गी न भवति पुनः संसारपतनहेतुत्वात् । **तम्हा कुणिज्ज भावं** तस्मात्कारणात् कुर्यास्त्वं । कं, भावं–जिनसम्यक्त्वनिर्मलपरिणामं । **किं कीरइ दव्वलिंगेण** पूर्वोक्तद्रव्यलिङ्गेन किं क्रियते न किमपि मोक्षसुखं क्रियत इति भावः ।

दंडयणयरं सयलं डहिउं अब्भंतरेण दोसेण ।
जिणलिंगेण वि बाहू पडिओ सो रउरवं णरयं ॥ ४९ ॥

दण्डकनगरं सकलं दग्ध्वा अभ्यन्तरेण दोषेण ।
जिनलिङ्गेनापि बाहुः पतितः स रौरवं नरकम् ।

दंडयणंयरं सयलं दण्डकस्य राज्ञो नगरं सकलं । **डहिउं अब्भं तरेण दोसेण** दग्ध्वा अभ्यन्तरेण दोषेण क्रोधेन कृत्वा । **जिणलिंगेण वि बाहू** जिनलिंगेनापि जिनलिंगसहितोऽपि बाहुर्नाममुनिः । **पडिओ सो रउरवं नरयं** पतितो गतः रौरवं नाम नरकं । अस्य कथा– दक्षिणापथे भरतदेशे कुम्भकारकटनगरे दण्डको नाम राजा । तन्म हादेवी सुव्रता । बालको नाम मंत्री । तत्र अभिनन्दनादयः पंचश तमुनयः समागताः । खण्डकेन मुनिना बालको मंत्री वादे जितः ततो रुष्टेन तेन भंडो मुनिरूपं कारयित्वा सुव्रतया समं रममाणो दर्शितः भणितं च तेन देव ! दिगम्बरेषु भक्त्यातिमुल्योऽसि येन भार्यामपि तेभ्यो दातुमिच्छसि । ततो रुष्टेन राज्ञा मुनयो यंत्रे निष्पीडिताः । ते तमुपसर्गं प्राप्य परमसमाधिना सिद्धिं गताः । पश्चात्तन्नगरं बाहुर्नाम मुनिरागतः । स लोकैर्वारितः । अत्र नगरे राजा दुष्टो वर्तते तेन पंच शतमुनयो यंत्रे पीडिता भवन्तमपि तथा करिष्यति । तद्वचनेन बाहु रुष्टः । तेजोऽशुभसमुद्घातेन राज्ञा मंत्रिणा च सह सर्वं नगरं भस्मीच कार । स्वयमपि मृतः । रौरवे नरके पतितं राजानं मंत्रिणं चानवेष्टु मिव तत्र गतः । को नाम रौरवो नरक इति चेत् ? सप्तमे नरके पंच बिलानि वर्तन्ते तेषु पूर्वदिशि रौरव । दक्षिणेऽतिरौरवः । पश्चिमेऽसि पत्रः । उत्तरे कूटशाल्मलिः । मध्ये कुंभीपाक इति ।

अवरोवि[1] दव्वसवणो दंसणवरणाणचरणपब्भट्ठो ।
दीवायणुत्ति णामो अणंतसंसारिओ जाओ ॥५०॥

अपर इति द्रव्यश्रमणो दर्शनवरज्ञानचरणप्रभ्रष्टः ।
दीपायन इति नामा अनन्तसंसारिको जातः ॥

---

१ म. टी. । २ वि. मूलगाथा पाठः ।

अवरोत्ति दव्वसवणो अपर इति द्रव्यश्रवणो भावरहितो मुनिः जिनवचनप्रतीतिरहितः। **दंसणवरणाणचरणपब्भट्टो** दर्शनेन जिनसम्यक्त्वेन वरं श्रेष्ठं यज्ज्ञानं चरणं च चारित्रं तेभ्यस्त्रिभ्योऽपि प्रभृष्टः पतितः सम्यग्दर्शनां मुनीनामपाङ्क्तेयः। **दीवायणुत्ति णामो** द्वीपायन इति नामा। **अणंतसंसारिओ जादो** अनन्तसंसारिकः अनन्ते संसारे नियुक्तः नियोगवान् कर्मपरवश इत्यर्थः, जातो भवति स्म। द्वीपायनस्य कथा यथा—श्रीनेमिनाथो बलभद्रेण पृष्टः स्वामिन्! इयं द्वारवती पुरी किं कालान्तरे समुद्रे निमंक्ष्यति कारणान्तरेण वा विनंक्ष्यति? भगवानाह-रोहिणीभ्राता द्वीपायनकुमारस्तव मातुलोऽस्याः पुर्या रुषा दाहको भविष्यति द्वादशे वर्षे मद्यहेतुत्वात्। तच्छ्रुत्वा द्वीपायनकुमार इदं जैनवचनमसत्यं चिकीर्षुर्दीक्षां गृहीत्वा पूर्वदेशं गतः। द्वादशावधिपूरणार्थं तपः कर्तुमारब्धवान्। जरत्कुमारेण कृष्णमरणमाकर्ण्य बलभद्रादयो नेमिनाथं नमस्कृत्य सर्वेऽपि यादवा द्वारवतीं विविशुः। ततः कृष्णो बलभद्रश्च पुर्यां घोषणां मद्यनिषेधिनीं कारयामासतुः। ततो मद्यपैर्मद्यभाण्डानि पिष्टकिण्वादीनि मद्यानि च कदम्बवने गिरिगह्वरे शिलाभाण्डानि आस्फालितानि। सा मदिरा कदम्बवनकुण्डेषु गता। कर्मविपाकहेतुत्वेनावस्थिता। श्रीनेमिनाथः पल्लवदेशं गतः। जिनेन सह भव्यलोक उत्तरापथमुच्चलितः। द्वीपायनस्तु द्वादशं वर्षं भ्रान्त्याऽतीतं मन्वानो जिनादेशो व्यतिक्रान्त इति ध्यात्वा सम्यक्त्वहीनो द्वारवतीमागत्य गिरिनिकटनगरबाह्यमार्गे आतापनयोगे स्थितः। वनक्रीडापरिश्रान्तास्तृष्णया व्याकुलीभूताः कादम्बकुण्डेषु जलमिति ज्ञात्वा शंभवादयस्तां सुरां पिबन्ति स्म। कदम्बवनस्थितां कदम्बकतया स्थितां विलुप्तां कादम्बरीं पीत्वा कुमारा विकारांश्च प्रापुः। सा पुराणापि वारुणी परिपाकवशात् तरुणीवत्तरुणान् वशेऽकरोत्। ते कुमारा असंबद्धं गायन्तो नृत्यन्तश्च स्खलितपादाः

प्रमुक्तकुन्तला पुष्पकृतावतंसाः कण्ठालम्बितपुष्पमालाः सर्वे पु[illegible] समागच्छन्तः सूर्यप्रतिमास्थितं द्वीपायनमुनिं दृष्ट्वा घूर्णमाननयना इत्यूचुः सोऽयं द्वीपायनो यतिर्यो द्वारवतीं धक्ष्यति सोऽस्माकमग्रतः क [illegible] यास्यति [illegible] इति प्रोच्य सर्वतो लोष्टुभिः पाषाणैश्च तावत्प्रजघ्नुः यावद्भूमौ पपात। एवं तैर्निर्घृणैस्ताडित उत्पन्नाधिकक्रोधो दष्टोष्ठो यदूनां स्वतपसश्च विनाशाय भृकुटिं चकार। कुमारास्तु पुरीं प्रति गमनं चक्रुः कैश्चिद्यादवैर्विष्णोर्बलस्य च लघु निवेदितं। तच्छ्रुत्वा द्वारवत्या [illegible] विलोक्य [illegible] तदापि [illegible] परिच्छदरहितौ मुनिसमीपं गतौ। [illegible] दुर्निरीक्ष्येक्षणं [illegible] दृष्टवन्तौ। कृताञ्जलिपुटौ महाद[illegible] [illegible] मोहाशान्वितवन्तौ। हे साधो! [illegible] [illegible] प्रमादबहुलैर्दुर्बोधैः [illegible] कृतं क्षम्यतां [illegible] अस्माकं प्रमादः [illegible] प्रार्थितवन्तौ तथापि [illegible] सर्वथा [illegible] पापी कृत[illegible] [illegible] अतिवर्ति[illegible] [illegible] तदा [illegible] वभूव। [illegible] द्वारवतीं [illegible] दक्षिणापथं वनं प्रविष्टौ। तत्र

१ छिदे०। २ तदर्थं मम्य म०। ३ समीपमागतौ, म०।

विष्णुर्जरत्कुमारभिल्लेन पादे बाणेन ताडितो मृतः प्रथमं नरकं जगाम। द्वीपायनस्तु अनन्तसंसारी बभूव ।

भावसवणो य धीरो जुवईयणवेढिओ विसुद्धमई ।
णामेण सिवकुमारो परित्तसंसारिओ जादो ॥ ५१ ॥

भावश्रमणश्च धीरो युवतिजनवेष्टितो विशुद्धमतिः ।
नाम्ना शिवकुमारः परीतसंसारिको जातः ॥

भावसवणो य धीरो भावश्रमणश्च जिनसम्यक्त्ववासितः धीरो दृढसम्यक्त्वः अविचलितामलिनमनाः । **जुवईयण वेढिओ विसुद्धमई** युवतिजनवेष्टितः हावभावविभ्रमविलासोपेतराजकन्यारूपयुवतिभिर्मुहुरवेष्टितोऽपि विशुद्धमतिः निर्मलजलपर्यन्तिस्फटिकदर्पणचित्तः । **णामेण सिवकुमारो** नाम्ना कृत्वा शिवकुमारो नरेन्द्रपुत्रः । **परित्तसंसारिओ जादो** अल्पसंसारिकः परिमितसंसार आसन्नभव्यो जातः, इह भरतक्षेत्रे जम्बूनामान्त्यकेवली बभूवेति क्रियाकारकसम्बन्धः । शिवकुमारस्य कथा यथा—अथ श्रेणिकः श्रीवीरं विपुलगिरौ समवसृतं प्रणम्य श्रीगौतमस्वामिनं प्रत्याह—अत्र भरतक्षेत्रे पश्चिमकेवली को भविष्यति भगवन्निति । ततः कथां वाचयितुमपि श्रेणिकस्य वदनं करोति स्म तस्मिन्नेवावसरे महाकल्पाधीशो महद्धिमान् विमानगो विद्युन्माली प्रभावलयमानतेजोविराजमानमुकुटः स्वनाम्ना स्वदर्शनेन च त्रियो विद्युन्मालिविद्युत्प्रभादिनिजदेवीभिर्वृतः आगत्य जिनं वन्दित्वा यथास्थानं स्थितः । हे श्रेणिक राजन्! अनेन देवेन सप्तमे दिने परिनिर्वाणमिति निर्दिष्टमिति । तच्चरितं कथयिष्यामि । अस्मिन्नेव भरते विदेहे महेन्द्रः वर्णमुख्येषु वीतशोकनगरे महारथवसन्ते विजयार्धजिनालयैर्युते

सरोवरं शालिवन निर्धूमानलं प्रज्वलज्ज्वालं स्वर्गकुमारसमानीयमानजम्बूफलानि च स्वप्ने दर्शयित्वा महाद्युतिर्जम्बूनामाऽनावृतदेवाप्तपूजोऽतिविख्यातो विनीतः सुतो भविष्यति। यौवनारम्भेऽपि निर्विक्रियो भावी। तस्मिन् जम्बूस्वामियौवनकाले श्रीवीरभट्टारकः पावापुरे मुक्तिं यास्यति तस्मिन्नेव समये मम केवलज्ञानमुत्पत्स्यते। सुधर्मगणधरेण सह संसाराब्धिमग्नाना भव्यप्राणिनां धर्मामृतोदकेनाल्हादं करिष्यन्निदमेव राजगृहपत्तनमागत्यास्मिन्नेव विपुलाचलेऽहं स्थास्यामि। तत्समाकर्ण्य चेलनीसुतः कुणिको नृपः सर्व परिवारेण समागत्य मां सुधर्मं च पूजयित्वा दानशीलोपवासादिकं स्वर्गमोक्षसाधक धर्मं ग्रहीष्यति। तेन सहागतो जम्बूनामा निर्वेदं प्राप्य दीक्षाग्रहणोत्सुको भविष्यति। तं कुटुम्बं वदिष्यति स्तोकेषु वर्षेषु गतेषु त्वया सह वयं सर्वेऽपि दीक्षां ग्रहीष्याम इति। तेन प्रोक्तं सोढुमशक्नुवन्निराकर्तुं च तदक्षमः पुरमायास्यति। तस्य मोहमुत्पादयितुं सुखबन्धनं[२] विवाह आरप्स्यते तेन कुटुम्बवर्गेण। बान्धवा हि श्रेयसो विघ्नाः। सागरदत्तपद्मावत्योः सुता श्रियोत्कृष्टा सुलक्षणा पद्मश्रीः, कुबेरदत्तकनकमालयोः सुता सुलोचना कनकश्रीः, वैश्रवणदत्तविनयवत्योर्दुर्दा[३] मृगलोचनावलोकनीया विनयश्रीः तस्यैव वैश्रवणदत्तस्य धनश्रियाः सुता रूपश्रीः एताश्चतस्रो विधिपूर्वकं परिणीय सौधागारे समीचीनरत्नदीपदीप्तिभिर्निरस्तान्धकारे नानारत्नसमीचीनचूर्णरंगवल्लीसंशोभिते विचित्रपुष्पोपहारसहिते जगतीतले स्थास्यति। एतस्य माता अयं मे सुतो[४] रागेण प्रेरितः स्मितहासकटाक्षेक्षणादिना विकृतिं भजन् किं भवेन्न वा भवेदित्यात्मान तिरोधाय पश्यन्ती स्थास्यति। तस्मिन्नवसरे सुरम्यदेशपोदनापुरेशविद्युद्राजविमलवत्योः सुतः पापिष्ठानां धुरि स्मर्यो दुरात्मनो

---

२ बो स. कर्तुं। ३ म. ध.। ४ सुता. ध.।

वन्दनीयोऽगुणवानुत्सुकश्च तीक्ष्णो विद्युत्प्रभनामा केनापि कारणेन निजज्येष्ठभ्रात्रे कुपित्वा पंचशतसुभटैर्निर्गतो विद्युच्चोरनामानमात्मानं कृत्वा चौरशास्त्रोपदेशेन मंत्रतंत्रविधानादद्दश्यशरीरत्वकपाटोद्घाटनादिकं जानन्नर्हद्दासगृहाभ्यन्तररत्नधनादिकं चोरयितुं प्रविश्य जिनदासीं नष्टनिद्रां विलोक्याल्मानं निवेद्य किमर्थं विनिद्रा त्वमेवमिति प्रक्ष्यति ? मम एक एव पुत्रः प्रातरेवाहं तपोवनं गमिष्यामीति संकल्पस्थितो वर्तते तेनाहं शोकिनी सती जागर्मि । त्वं बुद्धिमान् दृश्यसे यदि त्वमिममाग्रहादुपायैर्वारयसि तत्त्वदभीप्सितं धनं सर्वमहं दास्यामीति वदिष्यति । सोऽपि तत्प्रतिपद्यैवं सम्पन्नभोगोऽयं किल विरंस्यति, इह धनमाहर्तुं प्रविष्टं मां धिगिति स्वनिन्दनं कुर्वन्निःशंकं तदन्तिकं प्राप्य तं तासां कन्यकानां साम्प्रतमाधिष्ठितं कुमारं प्रस्तरस्तद्बुद्धिं पंजरगतं पक्षिणमिव, जाललग्नं मृगबालकमिव, अपारकर्दमे मग्नं भद्रजातिगजाधिपतिमिव, लोहपंजरैर्निरुद्धं सिंहमिव प्रत्यासन्नसंसारक्षयं सम्प्राप्तनिर्वेदं समीक्ष्य विद्युच्चोरः सुधीरद्याख्यानकं वदिष्यति । हे कुमार ! त्वया श्रूयतां—कश्चित्क्रमेलकः स्वेच्छया चरन्नेकदा गिरेरुन्नतप्रदेशात् तृणं खादन्नेतन्मधुरसोन्मिश्रं सकृदास्वाद्योत्सुकस्तादृशमेवाहमाहरिष्यामीति मधुपानाभिवाञ्छया तृणान्तरचरणातिपराङ्मुखस्तस्थौ मम्रे च तथा त्वमप्येतानुपस्थितान् भोगाननिच्छन् स्वर्गभोगार्थी बुद्धिरहितः क्रमेलकावस्थां प्राप्स्यसि (१) । इति चौरप्रतिपादितं श्रुत्वा कुमारः प्रत्युत्तरं दास्यति—कश्चित्पुमान् महादाहकरेण रविणा परिपीडितो नदीसरोवरतडागादिपानीयं पुनः पुनः पीत्वा तथापि न विनष्टतृष्णस्तृणाग्रस्थितजलकणं पिबन् किं तृप्तिं याति तथायं जीवोऽपि चिरकालं दिव्यसुखं भुक्त्वाप्यतृप्तोऽनेन मनुष्यभव-

१ विलसति स. ।

जातेन स्वल्पेन गजकर्णास्थिरेणास्वादुना तृप्तिं यायात्–अपि तु न यायात् (२)। इति तद्वाचं श्रुत्वा स एकागारिकः कथयिष्यति कथां–एकस्मिन् वने किरातश्चण्डो महातरुमाधारं कृत्वा गण्डान्तं धनुराकृष्य बाणेन वारणं जघान। तरुकोटरस्थितसर्पदष्टस्तं सर्पं मारयित्वा स्वयं च मृतः। अथ तान् त्रीन् किरातसर्पगजान् मृतान् दृष्ट्वा क्रोष्टाऽतिलुब्धस्तावदेतौत्री त्रामि पूर्वं धनुर्मौर्वी प्रान्तस्थितां च स्नसां भक्षयामीति कृतोद्यमस्तच्छेदं वैधेयश्चकार। सद्यो धनुरग्रनिर्भिन्नगलः सोऽपि मृतः। ततोऽतिगृध्नुता त्वया त्याज्या (३)। इति श्रुत्वा कुमारश्चिन्तयित्वा सूक्तं प्रवक्ष्यति–चतुर्मार्गसमायोगदेशमध्ये सुमहं रत्नराशिं प्राप्य पथिको मूर्खस्तदात्मना दायकेनापि कारणेन गतः पुनर्वेनादागत्य तं देशं त रत्नपुञ्जं किं पुनर्लभते तथा गुणमाणिक्यसंचयं दुष्प्रापमगृह्णन् संसारसमुद्रे कथं पुनः प्राप्नुयात् (४)। तदा मलिम्लुचोऽन्यदन्यायसूचनमुपाख्यानं वदिष्यति–कश्चिच्छृगालो मुखस्थितं मांसपिण्डं मुक्त्वा संक्रीडमानं मीनं भक्षितुं जले पपात। जलवेगवहत्प्रवाहेण प्रेर्यमाणो मृतः। मीनस्तु दीर्घायुर्जलमध्ये सुखं तस्थौ। एवं शृगालवदतिलुब्धो मरिष्यति (५)। एवं मुख्यतस्करवाचं श्रुत्वा प्रत्यासन्नमुक्तिः कुमारो भणिष्यति–कश्चिन्निद्रालुको वणिक् निद्रासुखरतः परार्घ्यरत्नगर्भनिजकच्छपुटे सुप्तः। चौरैः पट्टते माणिक्यसचये तद्दुःखेन दुर्मृतिर्मृतिं प्राप। तथायं जीवो निद्यालपसुखासक्तो रागचौरैर्दर्शनज्ञानचारित्ररत्नेभ्यपट्टतेषु निर्मूलं नश्यति (६)। दस्युरथ गदिष्यति–स्वमातुलानी दुर्वचनकोपेन काचित्कन्या तरुतले सर्वाभरणमण्डिता स्थिता। मरणोपायमजानती व्याकुलमनाः सुवर्णदारकेण पापिना मार्दङ्गिकेण दृष्टा। तदाभरणानि जिघृक्षुणा तस्या

१ वैधेयः स.। २ तदात्मना क.।

लम्बनोपायं दर्शयामास । स्वकीयं मर्दलं वृक्षतले समुद्रं संस्थापयांबभूव । तस्या गलपाशदानशिक्षणार्थं मर्दलोपरि पादौ धृत्वा गले पाशं चकार । केनापि कारणेन मर्दले पतिते मार्दङ्गिकस्य गले पाशो लग्नस्तेनाविर्लीभूतकण्ठः प्रोद्गतलोचनः शमनमन्दिरं प्राप । कन्या तद्दृष्ट्वा मरणभयात् गृहमागता तथा कुमार ! त्वया लोभो हेयः (७)। इति तस्य वाग्जालमाकर्ण्य जम्बूनामा कुमारोऽसहमानस्तं प्रति भणिष्यति— कस्यचिद्राज्ञो महादेवी ललिताङ्गनामधेयं धूर्तविटं दृष्ट्वा मदनविह्वला संजाता । तस्य विटस्यानयननिरन्तरोपायनियुक्ता तद्धात्री तं गुप्तमानीतवती । सा महादेवी यथा भर्ता न जानाति तथैकान्तप्रदेशे यथेष्टं तं रममाणा स्थिता । बहुभिर्दिनैः शुद्धान्तरक्षकैः ज्ञाता राज्ञो ज्ञापिता च । उपपत्यपनयनोपायमजानत्यः परिसारिकास्तं खलं नीत्वा वर्चस्कगृहे निक्षिप्तवत्यः । स तत्रातिदुर्गन्धेन तत्कीटैश्च दुःखं प्राप । पापोदयेनात्रैव नरकावासं प्राप्तः । तद्वदल्पसुखाभिलाषिणो जीवस्यातिघोरनरकादिषु महापदो भवन्ति (८)। कुमारः पुनरप्येकं प्रपंचं कथयिष्यति येन श्रुतेन सतां लघु संसारनिर्वेगो भवति । जीवोऽयं पथिकः संसारकान्तारे भ्राम्यन् मृत्युमत्तगजेन जिघांसुना स्वानुपातोऽतिभीरुः पलायमानो मनुष्यत्वतरुवरान्तर्हितस्तन्मूले कुलगोत्रादिविचित्रवल्लीसमाकुले जन्मकूपे पतित आयुर्वल्लीलग्नकायः सितासितदिवसानेकमूषिकोच्छिद्यमानतद्वल्लीकः सप्तनरकप्रसारितमुखसप्तसर्पनिकटः तद्वृक्षोदार्थपुष्पोत्पन्नसुखमधुरसलालसस्तद्ग्रहणोत्थापितसमुत्पन्नमक्षिकाभक्षितः तत्सेवासुखं ज्ञात्वा सर्वोऽपि विषयलंपटो दुर्बुद्धिर्जीवति तथा धीमान् दुर्वहं तपोऽकुर्वन्नत्यक्तसंगः कथं वर्तते । इति तस्य वचनमाकर्ण्य माता कन्याश्चौरश्च संसारशरीरभोगेष्व-

१ अवलंबीभूत. ख. । २ यममन्दिरं. ख. ।

तिविरागत्वं यास्यन्ति । तदान्धकारं निराकृत्य कोकं प्रियया कुमारं दीक्षयैव योजयन् निजकरैः समाक्रम्य कुमारस्य मनःकमलमिव रंजयन्नुदयाद्रेः शिखरे रविस्तपसि कुमार इवोद्यस्यति । सर्वसन्तापकारी तीक्ष्णकरोऽनवस्थितः क्रूरो दिवाकुवलयध्वसी तदा सूर्य. कुनृपस्योपमां धरिष्यति । निर्गोदयो सुधाधीशोऽखण्डविधुद्रमण्डलः प्रवृद्धः पद्माह्लादी सुराजत्वं वार्द्ध्यमाजेष्यति । अस्य कुमारस्य बान्धवा भववैमुख्यं विज्ञाय कुणिपमहाराजश्रेणयोऽष्टादशापि देवोऽनावृतश्च सर्वे सगम्य मंगलकलशैरभिषेकं करिष्यन्ति । अथ कास्ता अष्टादशश्रेणय·—सेनापतिर्गणको राजश्रेष्ठी दण्डाधिपो मंत्री महत्तरो बलवत्तरः चत्वारो वर्णाः चतुरङ्गं बलं पुरोहितोऽमात्यो महामात्य इति । असौ कुमारस्तत्कालोचितवेषो देवनिर्मितां शिबिकामारुह्य भूरि भूत्या उच्चैर्विपुलाचलशिखरे स्थित मा महामुनिभिर्निषेवितं समभ्येत्य भक्त्या त्रिःपरीत्य यथाविधि प्रणम्य वर्णत्रयसमुत्पन्नैर्भूयोभिर्विनयैर्विधुच्चोरेण तत्पंचशतसेवकैश्च समं सुधर्मगणधरपादमूले समचित्त. संयमं ग्रहीष्यति । द्वादशवर्षान्ते मयि मोक्षं गते सुधर्मा केवली भविष्यति जम्बूनामा श्रुतकेवली भविष्यति । ततो द्वादशवर्षपर्यन्ते सुधर्मणि निर्वाण गते जम्बूनाम्नः केवलज्ञानमुत्पत्स्यते । जम्बूनाम्नः शिष्यो भवो नाम चत्वारिंशद्वर्षाणीह भरतक्षेत्रे विहरिष्यति। तदाकर्ण्य श्रेणिके स्थितेऽनावृतो देवो मदीयवंशस्येदं माहात्म्यमुद्भृतमीदृशमन्यत्र न दृष्टमित्युच्चैरानन्दनाटकं दृष्ट्वा श्रेणिक उवाच-कस्मादनेन बन्धुत्वमस्य देवस्येति ? भगवान् गौतमो बभाण-जम्बूनाम्नो वंशे पूर्वं धर्मप्रियश्रेष्ठी गुणदेवी श्रेष्ठिनी । तयोरर्हद्दासः सुतो धनयौवनमदेन पितुः शिक्षामगणयन् कर्मवशात् सप्तव्यसनेषु निरंकुशो बभूव । निजदुरा-

---

१ तपति स.

चारेण दरिद्री संजातः । पश्चादुत्पन्नपश्चात्तापो मत्पितुः शिक्षा मया न श्रुता, उत्पन्नशमभावः किंचित्पुण्यमुपार्ज्यानावृतनामा व्यन्तरो जातः, तत्र समुत्पन्नसम्यक्त्वसम्पदिति बन्धुता प्रीतिरस्य । अथ श्रेणिकः प्राह–स्वामिन्नयं विद्युन्माली देवः कस्मादागतः, किं पुण्यं पूर्वभवे कृतवान्, अस्य प्रभा आयुरन्तेऽप्यनाहतेति । तदनुग्रहबुद्ध्यैव भगवान् गौतमः प्राह–अत्र जम्बूद्वीपे पूर्वविदेहे पुष्कलावतीविषये वीतशोकपत्तने महापद्मो राजा । तन्महादेवी वनमाला । तयोः सुतः शिवकुमारः नवयौवनसम्पन्नः सवयोभिर्वनं विहृत्य पुनरागच्छन् गन्धपुष्पादिमंगलद्रव्योत्तमपूजया सह जनानागच्छतो दृष्ट्वा समुत्पन्नविस्मयो बुद्धिसागरमंत्रिणः पुत्रं किमेतदिति पप्रच्छ । सप्राह–कुमार ! शृणु–सागरदत्तनामा मुनीन्द्रः श्रुतकेवली दीप्ततपोमण्डितो मासोपवासपारणार्थे पुरं प्रविष्टः । कामसमुद्रो नाम श्रेष्ठी विधिपूर्वकं भक्त्या दानं दत्वा पंचाश्चर्यं प्राप्य[1] तेनोत्पन्नकौतुकाः पौरास्तं मनोहरोद्यानवासिनं पूजयित्वा[2] वन्दितुं परमभक्त्या यान्तीति । शिवकुमारः प्राह-अयं सागरदत्ताख्यां सश्रुतां विविधर्द्धींश्च कथं प्राप । मंत्रिपुत्रोऽपि यथा श्रुतं तथा प्राह-पुष्कलावतीविषये पुण्डरीकिणी नगरी, तस्याः पतिश्चक्री वज्रदत्तः । तस्य महादेवी यशोधरा गर्भिणी समुत्पन्नदौहदा । सा सीतासागरसंगमे महाविभूत्या गत्वा महाद्वारेण समुद्रं प्रविष्टा । जलकेलीविधाने जलजानना आसन्ननिर्वृतिं पुत्रं प्राप । तेन हेतुनास्य सर्नाभयः[3] सागरदत्ताख्यां चक्रुः । अथ सागरदत्तः परिप्राप्तयौवनः स्वपरिवारमण्डितो हर्म्यतले स्थितो नाटकं पश्यन्नुकूलाख्यनाम्ना चेटकेनोक्तः । हे कुमार ! त्वमाश्चर्यं पश्य मेर्वाकारोऽयं

१ ग. पुस्तकेऽस्य स्थाने प्रासेनेति पाठः सोऽप्यशुद्धोऽवभाति । अतोऽस्य स्थाने प्राप्तः इति प्राप इति वा पाठेन भवितव्यं । २ पूजयितुं इति ख. पुस्तके । एतदेव सम्यग्भाति । ३ गोत्रिणः ।

मेघस्तिष्ठति । तं मेघं लोचनप्रियं सोन्मुखो निरीक्षितुमैहिष्ट । स मे
स्तत्काल एव नष्टः । सागरदत्तश्चिन्तयामास यौवनं धनं शरी
जीवितमन्यच्च सर्वं वस्तु विनश्वरं वर्तते यथार्थ मेव इति निर्वेगं गतः
अपरेद्युर्मनोहरोद्याने धर्मतीर्थनायकममृतसागरं नाम तीर्थकरं वज्रदत्ते
निजवप्त्रा सह वन्दितुमितः । तत्र धर्मं श्रुत्वा निश्चितसर्वस्थिति
सर्वबन्धुविसर्जनं कृत्वा बहुभी राजभिः समं संयमं जग्राह । मनःपर्
यर्द्धिसम्पदं प्राप्य धर्मोपदेशेन देशान् विहृत्यात्र वीतशोकपुरमागतः
इति मंत्रिपुत्रवचनानि श्रुत्वा शिवकुमारः प्रीतमनाः स्वयं
गत्वा मुनिवरं स्तुत्वा धर्मामृतं ततः पीत्वा जगाद । भगवन्
भवन्तं दृष्ट्वा मम महान् स्नेहः संजातः । तत्र कः प्रत्यय इत्यपृच्छत्
भगवान् सागरदत्तः प्राह–अत्र जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे मगध
देशे वृद्धग्रामे राष्ट्रकूटो नाम वणिक् । तस्य भार्या रेवती । तयोर्
पुत्रौ भगदत्तभवदेवौ । तयोर्मध्ये भगदत्तः सुस्थितनामगुरुं नत्वा दीक्ष
जग्राह । विनयान्वितो गुरुणा सह नानादेशान् विहृत्य स्वजन्मग्राम
माजगाम । तदा तद्बान्धवाः सर्वेऽपि हर्षमाणाः समेत्य मुनिं सुस्थित
प्रदक्षिणीकृत्य संपूज्य चागन्तुमुद्यताः । तत्रैव ग्रामे दुर्मर्षणो नाग
गृहपतिः । तस्य नागवसुर्भार्या । तयोः पुत्री नागश्रीः । सा विधि
पूर्वकं भवदेवाय ताभ्यां ददे । भगदत्तागमनं श्रुत्वा भवदेवोऽपि विकु
र्वाणोऽत्रागत्य भगदत्तं विनयात्प्रणम्य तद्दत्ताशीर्वादेनार्द्रितमनास्तस्थि
वान् । भगदत्तो धर्मस्वरूपं संसारवैरूप्यं व्याख्याय गृहीतकर एकान्ते
भ्रातः ! त्वया संयमो गृहीतव्य इत्याह । भवदेव उवाच–नागश्रीमोक्षणं
विधाय भवत उदितं करिष्यामि । भगदत्त उवाच–हे भ्रातः ! संसारे
जायादिपाशबद्धो जीवः कथमात्महितं करोति परित्यज मोहमेतमिति ।
तदा भवदेव उत्तरमपश्यन् ज्येष्ठानुरोधेन दीक्षायां मतिं विदधौ । भग-

दत्तः स्वगुरुसुस्थितसमीपं तं नीत्वा संसारच्छेदनार्थं मोक्षीं दीक्षां मंक्षु ग्राहयांबभूव। सतां सौदर्यमीदृग्भवति। भवदेवो द्रव्यसंयमी भूत्वा गुरुभिः समं द्वादशवर्षाणि विहृत्यापरेद्युर्विधीरसहायो निजं वृद्धग्रामं गत्वा सुव्रतां गणिनीं समीक्ष्य तां प्राह—हेऽम्ब! काचिन्नागश्रीर्नाम काचिदस्ति। सा तस्येङ्गितं ज्ञात्वा जगाद—मुने! तद्वृत्तमहं सम्यग्न वेदेति। तदौदासीन्यं प्राप्तं तं संयमे स्थिरीकर्तुं गुणवृत्यार्यिकां प्रति अर्थाख्यानकं जगाद। सर्वसमृद्धनामा वैश्यः, तद्दासीसुतोऽशुचिर्दारुकाभिधेयः स्वमात्रा प्रोचे—अस्मच्छ्रेष्ठ्युच्छिष्टभोजनं तु त्वयाऽशनीयमिति। निर्बन्धाद्भोजितः। स जुगुप्सया वान्तवान्। तत् कंसपात्रेण धृत्वाऽऽच्छाय धृतं। दारुकः पुनर्बुभुक्षुः स्वमातरं भोजनं ययाचे। तया तत्कंसपात्रं वान्तभृतमुपढौकितं। क्षुत्पीडितोऽपि स आत्मवान्तं न जग्राह। सोऽशुचिरपि चेत्तादृशस्तर्हि साधुः कथं त्यक्तमभीप्सतीति (१)। गुणवति! पुनरेकमर्थाख्यानकं निजं मनो निश्चलं कृत्वा त्वं शृणु। नरपालनामा नरेन्द्र एकं श्वानं कुतूहलेन मृष्टान्नेन संपोष्य कनकाभरणभूषितं सदा वनक्रीडादौ सुवर्णरचितां शिबिकामारोप्यैवं मन्दमतिस्तमपालयत्। एकदा शिबिकारूढः सरमासुतो गच्छन् बालविष्टामालोक्य तामालेढुमापपात। तद्दृष्ट्वा राजा लकुटीताडनेन तमपाचकार। तथा पुत्रि! साधुः सर्वेषां पूजनीयः पूर्वत्यक्तं पुनर्वाञ्छन् पराभवं प्राप्नोति (२)। हे गुणवति! पुनरेकां कथां शृणु—कश्चित्कोपि पथिकस्तद्वनान्तरे सुगन्धिफलपुष्पादिसेवया युतस्तं तरुं त्यक्त्वा सन्मार्गं विहाय महाटवीसंकटे पतितः। तत्र जिघांसुकं चमूरं दृष्ट्वा ततो भीत्वा धावन्नेकस्मिन् भीमे कूपे बिभ्यत् पपात। तत्र पापाच्छीतादिभिर्दोषत्रयसंभवे वाग्दृष्टि-

१ मोक्षदीक्षां. स.। २ क्षयानः। ३ तत्पित्रादुच्छिष्ट॰. स.।

श्रुतिगतिप्रभृतिहीनं सर्पादिबाधानिकटं तस्मान्निर्गमनोपायमजानन्तं कोऽपि भिषग्वरो यदृच्छया गच्छन् दृष्ट्वा दयार्द्रचित्तः केनाप्युपायं महादरान्निष्काश्य मंत्रौषधिप्रयोगेण विहितचरणप्रसारणं सूक्ष्मरूपस्य लोकनोन्मीलितनेत्रं स्फुटाकर्णनं विज्ञाननिजशक्तिकर्णयुगलं व्यक्तवाक्प्रसरसंयुक्तजिह्वं स चकार। पुनः सर्वरमणीयं पुरं तन्मार्गदर्शि प्रस्थापयामास। निर्मलहृदयाः कस्योपकारं न विदधतु। पुनः स वि यासक्तमति पथिकदुर्मति. प्रकटीकृतदिग्भागमोहः प्राक्तनकूपकं सम्प्रा तस्मिन् पुनः पतितः तथा कश्चित्संसारे मिथ्यात्वादिकपंचोग्रव्याध दीप्त्युपागता जन्मकूपे क्षुधादाहार्तमङ्गिनं वीक्ष्य गुरु सन्मतिर्वै दयालुत्वाद्धर्मोद्धारोपायपण्डितस्तस्मान्निर्गमय्य जिनवागौषधिनिषेव (णा) त् सम्यक्त्वलोचनमुन्मील्य सम्यग्ज्ञानश्रुतियुगलमुद्घाटय सद्वृत्तपादौ प्रसारितौ विधाय दयामयीं जिह्वां व्यक्तां विधा विधिपूर्वं पंचप्रकारस्वाध्यायवचनानि तं वादयित्वा स्वर्गापवर्गयोर्मा सुधी. साध्वगमयत्। तत्र केचिद्दीर्घससारा. स्वपापोदयात् भ्रमरा इ सुगन्धिबन्धुरोद्भिन्नचम्पकसमीपवर्तिनस्तत्सौगन्ध्यावबोधरहिताः पार्श्व स्थाख्या· सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसमीपवर्तनात्, क्रोधादिकषायस्पर्शा दिविषयलौकिकज्ञानचिकित्सादिकुज्ञाना. जिह्वायामष्टधा स्पर्शेषु च लम्पटा दुराशयाः कुशीलनामान., निषिद्धेषु द्रव्येषु भावेषु च लोलुपा संसक्ताव्हयाः, हीयमानज्ञानादिका अवसानसज्ञाः, समाचारबहिर्भूता मृग चर्यानामधेयका महामोहा निवृत्य कृत्वा आजवजवाऽन्धकूपे पेतुर्निप तन्ति च (३)। भवदेव इति श्रुत्वा सम्प्राप्तशान्तभावो बभूव। सुव्रता गणिनी सर्वार्याग्रेसरी तद्विज्ञाय दारिद्र्योत्पादितदौस्थित्यां नागश्रियमा नाय्य तं दर्शयामास। भवदेवोऽपि तां दृष्ट्वा संसारस्थितिं स्मृत्वा वि-

१ आजवंजवान्धकूपे ख.पाठः।

भार्याः पद्मकनकविनयरूपश्रियो भूत्वा निजभर्त्रा सह दीक्षित्वाऽच्युतकल्पं गत्वा स्त्रीलिंगच्युता देवा भूत्वा पश्चादत्रागत्य मोक्षं यास्यन्ति। सागरदत्तनामा स्वर्गं गत्वात्रागत्य निर्वाणं यास्यति। इति जम्बूस्वामिचरित्रं श्रुत्वा श्रेणिको जहर्ष।

इति श्रीभावप्राभृते शिवकुमारकथा समाप्ता।

अंगाइं दस य दुण्णि य चउदसपुव्वाइं सयलसुयणाणं।
पढिओ[1] अ भव्वसेणो ण भावसवणत्तणं पत्तो ॥ ५२ ॥

अङ्गानि दश च द्वे च चतुर्दशपूर्वाणि सकलश्रुतज्ञानम्।
पठितश्च भव्यसेनः न भावश्रवणत्वं प्राप्त. ॥

अंगाइं दस य दुण्णि य अंगानि दश च द्वे च अङ्गे। **चउदसपुव्वाइं** चतुर्दशपूर्वाणि सकलश्रुतज्ञानं। **पढिओ अ** पठितश्च। **भव्वसेणो** भव्यसेननामा मुनिः। **ण भावसवणत्तणं पत्तो** भावश्रवणत्वं न प्राप्तः। जैनसम्यक्त्वं विनाऽनन्तसंसारी बभूवेति भावार्थः। अत्र भव्यसेनो मुनिरेकादशाङ्गानि शब्दतोऽर्थतश्च पठितस्तद्बलेनैव द्वादशस्याङ्गस्य चतुर्दशपूर्वाणां चार्थपरिज्ञायकत्वात् श्रीकुन्दकुन्दाचार्येण सकलश्रुतमधीत प्रोक्तमिति ज्ञातव्यं सकलश्रुतेऽधीती संसारे न पततीत्यागमः। भव्यसेनस्य कथा यथा–विजयार्द्धगिरौ दक्षिणश्रेणौ मेघकूटपत्तने राजा चन्द्रप्रभः सुमतिमहादेवीकान्तश्चन्द्रशेखराय राज्यं दत्वा परोपकारार्थं जिनमुनिवन्दनाभक्त्यर्थं च काश्चन विद्या दधानो दक्षिणमथुरामागत्य मुनिगुप्ताचार्यसमीपे क्षुल्लको जातः। स एकदा जिनमुनिवन्दनाभक्त्यर्थमुत्तरमथुरां चलितः सन् श्रीमुनिगुप्तमाचार्यं पप्रच्छ–किं कस्य कथ्यत इति। गुरु उवाच–सुव्रतमुनेर्नमोऽस्तु वरुणमहा-

1 घो. मूलगाथापाठः। २ घ. पुस्तके तु पूर्वत एव अभव्यसेन इति नाम कृत, रत्नकरण्डकटीकायामत्र च पश्चात्।

राजमहादेव्या रेवत्या धर्मवृद्धिरिति वक्तव्यं त्वया । एवं त्रीन् वारान् पृष्टो मुनिस्तदेवोवाच । क्षुल्लकः स्वगतं एकादशाङ्गधारिणो भव्यसेनाचार्यस्यान्येषां च नामापि भगवान् नादत्ते तत्र प्रत्ययेन भवितव्यमिति विचार्य तत्र गतः । सुव्रतमुनेर्भट्टारकीयां वन्दनां कथयित्वा तदीयं विशिष्टं वात्सल्यं च दृष्ट्वा भव्यसेनवसतिं जगाम । तत्र भव्यसेनेन संभाषणमपि न कृतं । कुण्डिकां गृहीत्वा भव्यसेनेन सह बहिर्भूमिं गत्वा विकुर्वणां कृत्वा हरितकोमलतृणाङ्कुरच्छन्नो मार्गो दर्शितः । तं मार्गं दृष्ट्वा भव्यसेन आगमे किलैते जीवाः कथ्यन्ते इति भणित्वा आगमेऽरुचिं कृत्वा तृणानामुपरि गतः । शौचसमये कुण्डिकाजलं शोषयित्वा क्षुल्लक उवाच—भगवन्! कुण्डिकायामुदकं नास्ति तथा विकृतिचेष्टिकादिका कापि नाहमीक्षे । अतोऽत्र निर्मलसरोवरे मृत्स्नया शौचं कुरु । ततस्तत्रापि तथैव भणित्वा शौचं चकार । ततस्तं मिथ्यादृष्टिं द्रव्यलिंगिनं ज्ञात्वा भव्यसेनस्याभव्यसेनोऽयमिति नामान्तरं चकार । ततोऽन्यदिने पूर्वस्यां दिशि पद्मासनस्थं चतुर्वक्त्रमुपवीतदर्भमुंजदण्डकमण्डलुप्रभृतिसहितं देवदानववन्द्यमानं ब्रह्मरूपं दर्शयामास । तत्र राजादयो भव्यसेनादयश्च गताः । रेवती कोऽयं ब्रह्मनाम देव इति भणित्वा लोकैः प्रेरितापि तत्र न गता । अन्यस्मिन् दक्षिणस्यां दिशि गरुडारूढं चतुर्भुजं चक्रशंखगदादिधारकं वासुदेवरूपं दर्शयामास । पश्चिमदिशि वृषभारूढं सार्धचन्द्रजटाजूटगौरीगणोपेतं शंकररूपं, उत्तरस्यां दिशि समवशरणमध्ये प्रातिहार्याष्टकसहितं सुरनरविद्याधरमुनिवृन्दवन्द्यमानं पर्यंकस्थं तीर्थकररूपं दर्शयति स्म । तत्र सर्वे लोका गच्छन्ति स्म । रेवती तु लोकैः प्रेर्यमाणापि न गता । नवैव वासुदेवाः, एकादशैव रुद्राः, चतुर्विंशतिरेव तीर्थकरा जिनागमे प्रतिपादितास्ते तु सर्वेऽ-

प्रतीताः । कोऽप्ययं मायावी वर्तते इति विचिन्त्य स्थिता । ब्रह्मा तु कोऽपि नास्ति । उक्तं च—

आत्मनि मोक्षे ज्ञाने वृत्ते ताते च भरतराजस्य ।
ब्रह्मेति गीः प्रगीता न चापरो विद्यते ब्रह्मा ॥ १ ॥

अन्यस्मिन् दिने चर्यावेलायां व्याधिपीडितक्षुल्लकरूपेण रेवतीगृहसमीप-प्रतोलीमार्गे मायामूर्च्छया पतितः । रेवती तदाकर्ण्य भक्त्योत्थाप्य नीत्वोपचारं कृत्वा पथ्यं विधापयितुमारेभे । स च सर्वमाहारं भुक्त्वा दुर्गन्धवमनं चकार । तदपनीय हा ! विरूपकं पथ्यं मया दत्तमिति रेवतीवचनमाकर्ण्य प्रतोषान्मायामुपसंहृत्य तां देवीं वन्दित्वा गुरोराशीर्वादं पूर्ववृत्तान्तं च कथयित्वा लोकमध्ये तस्या अमूढदृष्टिमुच्चैः प्रशस्य स्वस्थानं चन्द्रप्रभो जगाम । वरुणमहाराजस्तु शिवकीर्तये निजपुत्राय राज्यं दत्वा दीक्षामादाय माहेन्द्रकल्पे देवो बभूव । रेवती तु तपः कृत्वा ब्रह्मकल्पे देवो बभूव ।

इति श्रीभावप्राभृते भव्यसेनमुनिकथा समाप्ता ।

तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य ।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ ॥ ५३ ॥

तुषमाषं घोषयन् भावविशुद्धो महानुभावश्च ।
नाम्ना च शिवभूतिः केवलज्ञानी स्फुटं जातः ॥

तुसमासं घोसंतो तुषमाषशब्दं घोषयन् पुनः पुनरुच्चारयन् मा विस्मृतिं यासीदिति कारणात् । **भावविसुद्धो** भावविशुद्धः । **महाणुभावो य** महानुभावश्च महाप्रभावयुक्तश्च । **णामेण य सिवभूई** नाम्ना च शिवभूतिः चकारादर्थेन च शिवभूतिः शिवाना सिद्धानां भूतिरैश्वर्यं अनन्तचतुष्टयलक्षणं त्रैलोक्यनायकत्वं यस्य स भवति शिवभूतिः । **केवलणाणी फुडं जाओ** केवलज्ञानी केवलज्ञानवान् लोकप्रकाशकपंचमज्ञानवान्

स्फुटं शक्रादिदेवैः प्रकटीकृतघातिक्षयजातिशयदशकः सर्वप्रसिद्धः संजात इति । अस्य कथा यथा—कश्चिच्छिवभूतिनामासन्नभव्यजीवः परमवैराग्यवान् कस्यचिद्गुरोः पादमूले दीक्षां गृहीत्वा महातपश्चरणं करोति पट्प्रवचनमात्रामात्रं जानाति परं वैदुष्यं किमपि तस्य नास्ति । आत्मानं शरीरकर्मचयाद्भिन्नं जानाति । तद्ग्रन्थं नायाति गुरुणा प्रोक्तं दृष्टान्तं पुनः पुनस्तीक्ष्णी करोति तुपान्मापो भिन्न इति यथा तथा शरीरादात्मा भिन्न इति । तं शब्दं घोपयन्नपि कदाचिद्विस्मृतवान् । अर्थं जानन्नपि शब्दं न जानाति । एकाकी विहरति च । शब्दविस्मरणक्लेशावर्ती कांचिद्युवतिं वटकादिकपचनार्थं मापान् सूर्पीकृतान् जलमध्येप्लावितांस्तुपेभ्यो भिन्नान् कुर्वन्ती दृष्ट्वा पृष्टवान्—किं कुरुपे भवति ! इति । सा प्राह—तुपमापान् भिन्नान् करोमि । स आह-मया प्राप्तमिति काचिद्गतः । तावन्मात्रद्रव्यभावश्रुतेनात्मन्येकलोलीभावं प्राप्तोऽन्तर्मुहूर्तेन केवलज्ञानं प्राप्य नवकेवललब्धिमान् देशान् विहृत्य भव्यजीवानां मोक्षमार्गं प्रदर्श्य मोक्षं गत इति।

इति श्रीभावप्राभृते शिवभूतिमुन्युपाख्यानं समाप्तं ।

भावेण होइ णग्गो बाहिरलिंगेण किं च नग्गेण ।
कम्मपयडीण णियरं णासइ भावेण दव्वेण ॥ ५४ ॥

भावेन भवति नग्नः बहिर्लिङ्गेन किं च नग्नेन ।
कर्मप्रकृतीनां निकरं नश्यति भावेन द्रव्येण ॥

भावेण जिनराजनम्यरूपेण । होइ णग्गो भवति नग्नो निर्ग्रन्थस्वरूपः । बाहिरलिंगेण किं च नग्गेण बहिर्लिङ्गेन किं च बाह्यनग्नतया न किमपि मोक्षलक्षणं कार्यं सिद्ध्यति पशूनामिव । कम्मपय-

१ लसिंति ग. पुस्तके नास्ति । २ नग्गो इति टीका पाठः

डीण णियरं कर्मप्रकृतीनां निकरं समूहः अष्टचत्वारिंशदधिकशतसं-ख्यानां वृन्दं। णासइ भावेण दव्वेण नश्यति भावेन द्रव्येण चेति। ये मिथ्यादृष्टयो गृहस्था अपि सन्तोऽस्माकं भावो विद्यते इति वदन्ति स्त्रीभिः सह ब्रह्मचर्यं च भजन्ति ते लौकिका चार्वाकसदृशा नास्तिकास्त-न्मतनिरासार्थमिदं वचनमुक्तं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यस्वामिभिः "णासइ भावेण दव्वेण" भावेणं–कर्मक्षयो भवति भावपूर्वकद्रव्यलिंगेन गृहीतेन द्वाभ्यां भावद्रव्यलिंगाभ्यां कर्मप्रकृतिनिकरो नश्यति न त्वेकेन भाव-मात्रेण द्रव्यमात्रेण वा कर्मक्षयो भवति। इति व्याख्यानबलेन ते नास्तिका पूर्ववच्छिक्षणीया इति भावार्थः।

णग्गत्तणं अकज्जं भावणरहियं जिणेहिं पण्णत्तं।
इय णाऊण य णिच्चं भाविज्जहि अप्पयं धीर ॥ ५५ ॥

नग्नत्वं अकार्यं भावरहितं जिनैः प्रज्ञप्तम्।
इति ज्ञात्वा च नित्यं भावयेः आत्मानं धीर। ॥

णग्गत्तणं अकज्जं नग्नत्वं सर्वबाह्यपरिग्रहरहितत्वं अकार्यं सर्वकर्म-क्षयलक्षणमोक्षकार्यरहितं। कथंभूतं नग्नत्वं, भावणरहियं जिणेहिं पण्णत्तं भावनारहितं पंचपरमेष्ठिबाह्यभावनारहितं निजशुद्धबुद्धै-कस्वभावात्मान्तरङ्गभावनारहितं च जिनैस्तीर्थकरपरमदेवैरनगारके-वलिभिर्गणधरदेवैश्च प्रज्ञप्तं प्रणीतं प्रतिपादितं कथितं भणितमिति यावत्। इय णाऊण य णिच्चं इति ज्ञात्वा विज्ञाय नित्यं सर्वकालं। भाविज्जहि अप्पयं धीर भावयेस्त्वं आत्मानं वहिरत्वं च हे धीर! योगीश्वर! इति सम्बोधनपदेन धैर्यं प्रति धियमीरयन्ति प्रेर-यन्ति इति धीरा योगीश्वरा एव ग्राह्या न तु गृहस्थवेषधारिणः पापिष्ट-

१ नियरं टीकापाठ। २ नासइ टीकापाठः। ३ भावेणेति पाठः क. पुस्तके नास्ति।

[illegible] । [illegible]

[illegible] —

[illegible] ।
[illegible] ॥ १ ॥

तं भावलिंगं केरिसं हवदि तं जहा —

[illegible]

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ॥ ५६ ॥

देहादिसंगरहितः मानकषायैः सकलपरित्यक्तः ।
आत्मा आत्मनि रतः स भावलिंगी भवेत् साधुः ॥

देहादिसंगरहिओ देहः शरीरं स आदिर्येषां पुत्रकलत्रमित्र- [illegible] [illegible] ते देहादिसंगाः । [illegible]—

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदं ।
हिरण्यं च सुवर्णं च कुप्यं भांडं बहिर्दश ॥ १ ॥
मिथ्यात्ववेदहास्यादिषट् कषायचतुष्टयं ।
रागद्वेषौ च संगाः स्युरन्तरङ्गाश्चतुर्दश ॥ २ ॥

इति श्लोकद्वयकथितक्रमेण चतुर्विंशतिपरिग्रहास्तेभ्यो रहितो देहादिसंगरहितः । माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो मानकषायैः सकल-

---

१ पंचाक्षरेण विरहिते मतनिकरोऽपि न तिष्ठति ।
दुःखमरति कथं हंस ························ ॥

भावयत भावशुद्धं आत्मानं सुविशुद्धनिर्मलं चैव ।
लघु चतुर्गतिं त्यक्त्वा यदि इच्छत शास्वतं सुखम् ॥

भावेह भावसुद्धं भावयत यूयं कथं ? यथा भवति भावसुद्धं-भावशुद्धं परिणामस्य निष्कुटिलत्वं मायामिथ्यानिदानशल्यत्रयरहितत्वं यथा भवत्येवं आत्मानमर्हत्सिद्धादिकं च हे भव्याः ! भावयत । "इजित्था मध्यमस्य" इति सूत्रेण तत्स्थाने ह । **अप्पा सुविसुद्धनिम्मलं चेव** आत्मानं सुविशुद्धनिर्मलं चैव । आत्मानं कथंभूतं, सुविशुद्धनिर्मलं सुष्ठु अतिशयेन विशुद्धं कर्ममलकलंकरहितं निर्मलं रागद्वेषमोहमलरहितं । **लहु चउगइ चइऊणं** लघु शीघ्रं चतुर्गतिं त्यक्त्वा प्रमुच्य। **जइ इच्छह सासयं सुक्खं** यदि चेत्, इच्छत यूयं शाश्वतमविनश्वरं सौख्यं परमानन्दलक्षणमिति ।

जो जीवो भावंतो जीवसहावं सुभावसंजुत्तो ।
सो जरमरणविणासं कुणइ फुडं लहइ णिव्वाणं ॥६१॥

यो जीवो भावयन् जीवस्वभावं सुभावसंयुक्तः ।
स जरामरणविनाशं करोति स्फुटं लभते निर्वाणम् ॥

जो जीवो भावंतो यो जीव आसन्नभव्यः भावंतो-भावयन् भवति । कं भावयन् भवति ? **जीवसहावं** जीवस्वभावमात्मस्वरूपं अनन्तज्ञानानन्तदर्शनानन्तवीर्यानन्तसुखस्वरूपं केवलं केवलज्ञानमयं वा आत्मानं । कथंभूतः सन्, **सुभावसंजुत्तो** शोभनपरिणामसंयुक्तो रागद्वेषमोहादिविभावपरिणामरहितः । **सो जरमरणविणासं कुणइ फुडं** स जीवोऽन्तरात्मा भेदज्ञानबलेन जरामरणविनाशं करोति पुनर्जराजीर्णो न भवति न च म्रियते, कथं ? फुडु-स्फुटं निश्चयेन तीर्थंकरो भवति । **लहइ णिव्वाणं** लभते किं निर्वाणं सर्वकर्मक्षयलक्षणं मोक्षं अनन्तसुखं प्राप्नोतीत्यर्थः ।

जीवो जिणपण्णत्तो णाणसहाओ य चेयणासहिओ ॥
सो जीवो णायव्वो कम्मक्खयकारणणिमित्ते ॥ ६२ ॥

जीवो जिनप्रज्ञप्तः ज्ञानस्वभाव चेतनासहितः ।
स जीवो ज्ञातव्यः कर्मक्षयकारणनिमित्ते ॥

जीवो जिणपण्णत्तो जीव आत्मा जिनप्रज्ञप्तः श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञ-वीतरागेण प्रणीतः कथितः। जीवो नास्तीति ये चैवाक्कुशिष्या वदन्ति तन्मतमनेन पदेन निरस्तं भवतीति ज्ञातव्यं। तथा चोक्तं—

तदर्हजस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः ।
भूतानन्वयनाज्जीवः प्रकृतिज्ञः सनातनः ॥ १ ॥

कथंभूतः प्रणीतः, **णाणसहाओ य** ज्ञानस्वभावो ज्ञानस्वरूपः । तथा चोक्तं—

विभावसोरिवोष्णत्वं चरण्येोरिव चापलं ।
शशाङ्कस्येव शीतत्वं स्वरूपं ज्ञानमात्मनः ॥ १ ॥

इत्यनेन ये सांख्याः कापिलाः सत्कार्यापरनामानो मिथ्यादृष्टयो वदन्ति "जीवः खलु मुक्तः सन् ग्राह्यग्राहकरहितो भवति" तन्मतं निराकृतं भवतीति वेदितव्यं। तथा चोक्तं—

कपिलो यदि वाञ्छति चित्तिमचिति सुरगुरुर्गीर्गुकेष्वेव पतति ।
चैतन्यं ग्राह्यग्राहकरहितमुपयोगि कस्य यद् तत्र विदित ॥ १ ॥

चेयणासहिओ चेतनासहितः प्रतिपद्विराजमान इत्यनेन लोकायतमतं निरस्तमिति ज्ञातव्यं। एवं गुणविशिष्टेन जीवेन किं कार्यं भवतीति पर्यनुयोगे सतीदं प्राहुः—**सो जीवो णायव्वो** स जीवः

---

१ चार्वाककु॰ स. । २ चो. टी. । ३ चरेग्णोनुर. स. ।

स आत्मा ज्ञातव्यः। **कम्मक्खयकारणणिमित्ते** कर्मक्षयकारणनिमित्ते कर्मणां ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाणां सत्त्वकार्यं क्षपणे जीवपदार्थ एव समर्थ इति ज्ञातव्यं। अनन्तसौख्यदानहेतुरात्मेति भावः।

जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ।
ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमतीदा॥ ६३॥

येषां जीवस्वभावो नास्ति अभावश्च सर्वथा तत्र।
ते भवन्ति भिन्नदेहाः सिद्धा वचोगोचरातीता॥

जेसिं जीवसहावो येषामासन्नभव्यानां जीवस्वभाव आत्मस्वभाव आत्मनोऽस्तित्वमस्ति। **णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ** नास्त्यभावश्च सर्वथा तत्र। तत्रात्मनि अभावश्च नास्ति "अस्त्यात्मानादिबद्धः" इति वचनात्। **ते होंति भिण्णदेहा** ते पुरुषा भवन्ति भिन्नदेहाः शरीररहिताः। **सिद्धा वचिगोयरमतीदा** ते पुरुषाः किं भवन्ति सिद्धाः सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिर्विद्यते येषां ते सिद्धा प्रज्ञादित्वादस्त्यर्थेऽणप्रत्ययः। कथंभूताः सिद्धाः, वचोगोचरातीता वाचां गोचरत्वे गम्यत्वेऽतीता अगम्या वक्तुं न शक्यन्ते—तत्सदृशानां केवलज्ञानिनां गम्या इत्यर्थः।

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेयणागुणसमद्दं।
जाणमलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥ ६४॥

अरसमरूपमगन्धमव्यक्तं चेतनागुणसमार्द्रं।
जानीहि अलिङ्गग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानं॥

अरसं मधुराम्लकटुतिक्तकषायपंचरसरहितं हे जीव! त्वं जीवं जानीहि। **अरूवं** श्वेतपीतहरितारुणकृष्णलक्षणपंचवर्णरहितं जीवमात्मानं जानी-

१ ई. क. पुस्तके तत्राकारो न। २ म. टी.।

होति दीपके सम्बन्धनीयं । अगंधं सुरभिदुरभिलक्षणगन्धद्वयवर्जितं जीवपदार्थं जानीहि । अव्वत्तं अव्यक्तं इन्द्रियानिन्द्रियाणामगोचरत्वादस्फुटं, केवलज्ञानिनां व्यक्तं स्फुटं जीवतत्वं हे जीव! भेदज्ञानसमृद्धान्तरात्मन्! जानीहि । निषेधं कृत्वा विधिं दर्शयन्ति—चेयणागुणसमद्दं चेतनागुणेन ज्ञतिमात्रेण सम्यक्प्रकारेणार्द्रं परिणतं । समिद्धमिति पाठे चेतनागुणेन ज्ञानगुणेन समृद्धमिति व्याख्येयं । जाणमलिंगग्गहणं जाण जानीहि त्वं हे जीव! अलिंगग्रहणं स्त्रीपुंनपुंसकलिंगत्रयग्रहणं स्वीकारस्तेन रहितं जीवमात्मानं विदांकुरु । व्यवहारनयेन यद्यपीयं स्त्री अयं पुमान् इदं नपुंसकमिति भण्यते तथापि निश्चयनयेनात्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावो न लिंगत्रयवानिति । जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं जीवमात्मानं, अनिर्दिष्टसंस्थानं न निर्दिष्टानि जिनागमे प्रतिपादितानि संस्थानानि षडाकृतयो यस्येति अनिर्दिष्टसंस्थानस्तं जानीहि । अथ कानि तानि संस्थानानि यान्यात्मनो निश्चयनयेन नैव वर्तन्ते इति चेत्? तन्नामनिर्देशः क्रियते—समचतुरस्रसंस्थानं (१) न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थानं (२) स्वात्यपरनानवाल्मिकसंस्थानं (३) कुब्जकसंस्थानं (४) वामनसंस्थानं (५) हुंडकसंस्थानं चेति (६) नामानुसारेण शरीराकारो ज्ञातव्य इति तात्पर्यं ।

भावहि पंचपयारं णाणं अण्णाणणासणं सिग्घं ।
भावणभावियसहिओ दिवसिवसुहभायणो होइ ॥ ६५ ॥

भावय पञ्चप्रकारं ज्ञानं अज्ञाननाशनं शीघ्रम् ।
भावनाभावितसहितः दिवशिवसुखभाजनं भवति ॥

---

१ श. टी. । २ नि. टी. ।

भावहि पंचपयारं भावय त्वं हे जीव ! पंचप्रकारं पंचविधं । किं? **णाणं** सम्यग्ज्ञानं । कथंभूतं ज्ञानं, **अण्णाणणासणं** अज्ञानस्याविवेकस्य नाशनं विध्वंसकं । कथं भावय, **सिग्घं** शीघ्रं लघुतया । **भावणभावियसहिओ** भावना रुचिः तस्या भावितं वासितं तेन सहितः संहितः पुमान् संयुक्तो जीवः । **दिवसिवसुहभायणो होइ** दिवः स्वर्गस्य, शिवस्य मोक्षस्य, सुखस्य परमानन्दलक्षणस्य, भाजनममत्रं, भवति संजायते। पंचज्ञानविस्तरस्तत्वार्थतात्पर्यवृत्तौ प्रथमाध्याये ज्ञातव्यः । मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानमिति नामनिर्देशः ।

> **पढिएण वि किं कीरइ किं वा सुणिएण भावरहिएण।**
> **भावो कारणभूदो सायारणयारभूदाणं ॥ ६६ ॥**
>
> पठितेनापि किं क्रियते किं वा श्रुतेन भावरहितेन ।
> भावः कारणभूतः सागारानगारभूतानाम् ॥

पढिएण वि किं कीरइ पठितेन ज्ञानेन किं क्रियते–किं स्वर्गमोक्षं विधीयते–अपि तु न क्रियते इत्यर्थ । अपिशब्दादपठितेनापि अनभ्यस्तेनापि जिव्हाग्रेऽकृतेनापि ज्ञानेन स्वर्गो मोक्षश्च क्रियते इत्यर्थः। **किं वा सुणिएण** वा–अथवा श्रुतेनाकर्णितेन ज्ञानेन किं? न किमपि, स्वर्गश्च मोक्षश्च न भवतीत्यर्थः । कथंभूतेन पठितेन श्रुतेन च, **भावरहिएण** भावरहितेन। **भावो कारणभूदो** भाव आत्मरुचिः जिनसम्यक्त्वकारणभूतो हेतुभूत. । **सायारणयारभूदाणं** सागारानगारभूतानां, श्रावकाणां यतीनां चेति तात्पर्यं ।

> **दव्वेण सयलनग्गा नारयतिरिया य सयलसंघाया ।**
> **परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता ॥ ६७ ॥**

---

१ मो. टी. । २ मा. टी ।

जिनस्य श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागस्य सम्बन्धिनी या भावना सम्यक्त्वं तया वज्जिओ-वर्जित। कथं, सुइरं-सुचिरमतिदीर्घकालं। तथा चोक्तं-

कालु अणाइ अणाइ जिउ भवसायरु वि अणंतु।
जीवें वेण्णि न पत्ताइं जिणुसामिउसमत्तु॥ १॥

इति व्याख्यानं ज्ञात्वा सम्यग्दर्शने दृढभावना कर्तव्येति भावार्थः।

अयसाण भायणेण य किं ते णग्गेण पावमलिणेण।
पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण॥ ६९॥

अयशसां भाजनेन च किं ते नग्नेन पापमलिनेन।
पैशून्यहास्यमत्सरमायाबहुलेन श्रवणेन॥

अयसाण भायणेण य अयशसामपकीर्तीनां भाजनेनामत्रेणाधारपात्रेण। **किं ते णग्गेण पावमलिणेण** हे जीव! ते तव नाग्न्येन नग्नत्वेन किं-न किमपि, स्वर्गमोक्षकार्यरहितेन वृथेत्यभिप्रायः। कथंभूतेन नाग्न्येन, पापमलिनेन पापकर्ममलिनेन कश्मलिना। अथवा पापेति पृथक्पदं तेनायमर्थः रे पाप! पापमूर्ते दिगम्बरवेषधारीक! मलिनेन अतिचारानाचारातिक्रमव्यतिक्रमसहितेन नाग्न्येन किं? न किमपि। तथा चोक्तं समासोक्तिना गुणभद्रेण भगवता-

हे चन्द्रमः! किमिति लाञ्छनवानभूस्त्वं
तद्वान् भवेः किमिति तन्मय एव नाभूः।
किं ज्योत्स्नया मलमलं तव घोषयन्त्या
स्वर्भानुवन्ननु तथा सति नासि लक्ष्यः॥ १॥

कथंभूतेन तव नाग्न्येन, **पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण** पैशून्यहास्यमत्सरमायाबहुलेन। पैशून्यं परदोषग्रहणं। उक्तं च-

१ कालोऽनादिः अनादिः जीवः भवसागरोऽपि च अनन्तः।
जीवेन द्वे न प्राप्ते जिनस्वामिसम्यक्त्वे॥
२ म. टी.

मा भवतु तस्य पापं परहितनिरतस्य पुरुषसिंहस्य ।
यस्य परदोषकथने जिह्वा मौनव्रतं चरति ॥ १ ॥

हास्यं च मर्करः । मत्सरश्च परेषां शुभद्वेषः । उक्तं च—

उद्गच्छन्त्वं तपस्विन्नधिकमभिभवं त्वय्यगच्छन् कषायाः
प्राभूद्बोधोऽप्यगाधो जलमिव जलधौ किं तु दुर्लक्ष्यमन्यैः ।
निर्व्यूढेऽपि प्रवाहे सलिलमिव मनाग्निम्नदेशेष्ववश्यं
मात्सर्यं ते स्वतुल्ये भवति परवशाद्दुर्जयं तज्जहीहि ॥ १ ॥

माया च परवंचना । उक्तं च—

यशो मारीचीयं कनकमृगमायामलिनितं
हतोऽश्वत्थामोक्त्या प्रणयिलघुरासीद्यमसुतः ।
सकृष्णः कृष्णोऽभूत्कपटबहुवेषेण नितरा—
मपि च्छद्माल्पं तद्विषमिव हि दुग्धस्य महतः ॥ १ ॥

पैशून्यहास्यमत्सरमायाबहुलं तेन तथोक्तेन । पुनः कथंभूतेन नाग्नेन, श्रवणेन निरन्तरतन्द्धिना नानाधर्मविशेषार्जितद्रव्येण । अथवा सवनेन वनवाससहितेन । तथा चोक्तं—

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां
गृहेऽपि पंचेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते
विमुक्तरागस्य गृहं तपोवनं ॥ १ ॥

पयडहिं जिणवरलिंगं अब्भिंतरभावदोसपरिसुद्धो ।
भावमलेण य जीवो बाहिरसंगम्मि मयलियइ ॥ ७० ॥

प्रकटय जिनवरलिङ्गं अभ्यन्तरभावदोषपरिशुद्धः ।
भावमलेन च जीवो बाह्यसंगे मलिनः ॥

---

१ त्वामगच्छमिति पाठान्तरं । २ स्वतुल्यैर्भवतीति पाठान्तरं ।

पयडहिं जिणवरलिंगं हे जीव ! हे आत्मन ! प्रकटय जिनवरलिंगं पूर्वं जिनवरलिंगं त्वं धर नग्नो भव । पश्चात्कथंभूतो भव, **अब्भिंतरभावदोसपरिसुद्धो** अभ्यंतरभावेन जिनसम्यक्त्वपरिणामेन कृत्वा दोषपरिशुद्धो दोषरहितो भव । अयमत्र तात्पर्यं द्रव्यलिंगं विना भावलिंगी सन्नपि मोक्षं न लभत इत्यर्थः, शिवकुमारो भावलिंगी भूत्वापि स्वर्गं गतो न तु मोक्षं, जम्बूस्वामिभवे द्रव्यलिंगी अतिकष्टेन संजातस्तस्मिन् सति भावलिंगेन मोक्षं प्राप । **भावमलेण य जीवो** भावमलेनापरिशुद्धपरिणामेन जिनसम्यक्त्वरहिततया । **बाहिरसंगम्मि मयलियइ** बाह्यसंगे सति मइलियइ–मलिनो भवति सम्यक्त्वं विना निर्ग्रन्थोऽपि सग्रन्थो भवतीति भावार्थः । स्याद्वादेन मोक्षो द्रव्यलिंगापेक्षत्वात्, स्याद्द्रव्यलिंगेन मोक्षो भावलिंगापेक्षत्वात्, स्यादुभयं क्रमार्पितोभयत्वात्, स्याद्वाच्यं युगपद्वक्तुमशक्यत्वात्, स्याद्भावलिंगं चावक्तव्यं च, स्याद्द्रव्यलिंगं चावक्तव्यं च, स्यादुभयं चावक्तव्यं चेति सप्तभंगी योजनीया । तथा चोक्तं—

> पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
> अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकं ॥ १ ॥

धम्मम्मि निप्पवासो दोसावासो य उच्छुफुल्लसमो ।
निप्फलनिग्गुणयारो नडसवणो नग्गरूवेण ॥ ७१ ॥

> धर्मे निप्रवासो दोषावासश्च इक्षुपुष्पसमः ।
> निष्फलनिर्गुणकारः नटश्रमणो नग्नरूपेण ॥

धम्मम्मि निप्पवासो धर्मे दयालक्षणे आत्मिकलक्षणे आत्मस्वरूपे उत्तमक्षमादिदशलक्षणे च । तदुक्तं–

---

१ क. टी.

धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।
चारित्तं खलु धम्मो जीवाण य रक्खणो धम्मो ॥ १ ॥

एवंगुणलक्षणे धर्मे निष्प्रवासो--निर्विशेषेण प्रवासः प्रवसनं उद्वसन मित्यर्थः । **दोसावासो य** दोषाणां मत्सरादिभावानामावासो निवासः । **उच्छुफुल्लसमो** इक्षुपुष्पसमः इक्षुपुष्पसदृशः । **णिप्फलणिग्गुणयारो** निष्फलो मोक्षरहितः, निर्गुणो ज्ञानरहितः । यथा इक्षुपुष्पं निष्फलं फलरहितं भवति सम्यग्विवर्जितं स्यात् तथा निर्गुणं गन्धहीनं भवति तथा परमार्थरहितो दिगम्बरो ज्ञातव्यः । तथा निर्गुणकारः परेषां गुणकारको न भवति सम्बोधको न स्यात् । **णडसवणो णग्गरूवेण** नग्नरूपेण कृत्वा नटश्रमणः नर्मसचिवसदृशः । स लोकरंजनार्थं नग्नो भवति तथा-यमपि । इति व्याख्यानं ज्ञात्वा सम्यक्त्वे ज्ञाने चारित्रे तपसि च दृढतया स्थातव्यं ।

जे रायसंगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वणिग्गंथा ।
न लहंति ते समाहिं बोहिं जिणसासणे विमले ॥ ७२ ॥

ये रागसंगयुक्ता जिनभावनारहितद्रव्यनिर्ग्रन्थाः ।
न लभन्ते ते समाधिं बोधिं जिनशासने विमले ॥

जे रायसंगजुत्ता ये मुनयो रागेण स्त्रीप्रीतिलक्षणेन, संगेन परिग्रहेण युक्ता भवन्ति । अथवा रागेण संगं स्त्रीगमनं कुर्वन्ति । अथवा राजसंगः अर्हद्भावनां त्यक्त्वा राजसेवां कुर्वन्ति राजसेवायुक्ता भवन्ति **जिणभावणरहियदव्वणिग्गंथा** जिनभावनारहितद्रव्यनिग्रन्थाः, जिने भावना रुचिर्येषां नास्ति ते जिनभावनारहितास्ते च ते निग्रन्था नग्नरूपधारिणो जिनभावनारहितद्रव्यनिग्रन्थाः । अथवा जिनस्य भावना तीर्थंकरनामकर्मोपार्जनप्रत्ययभूता दर्शनविशुद्ध्यादयो भावनाः षोडश ताभ्यो रहिताः । जिनसम्यक्त्वसहिता व्यस्ताः समस्ता वा भावनास्तीर्थ-

करनामकर्मदायिका भवन्ति । दर्शनविशुद्धिरहिता अपराः पंचदशापि भावनास्तीर्थकरनामकर्म नार्पयन्ति । तथा चोक्तं—

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुं ।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥ १ ॥

अथवा द्रव्यनिर्ग्रन्थाः–बहुविधधर्ममिषेण द्रव्यमुपार्जयन्ति ये ते द्रव्यनिर्ग्रन्थाः कथ्यन्ते । **न लहंति ते समाहिं** ते मुनयः समाधिं रत्नत्रयपरिपूर्णतां धर्म्यशुक्लध्यानद्वयं वा न लभन्ते न प्राप्नुवन्ति। **बोहिं जिणसासणे विमले** बोधिं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणां न लभन्ते न प्राप्नुवन्ति जिनशासने श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागमते । कथंभूते, विमले पूर्वापरविरोधविवर्जिते कर्ममलकलङ्कक्षयहेतुभूते वा ।

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं ।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए ॥ ७३ ॥

भावेन भवति नग्न मिथ्यात्वादींश्च दोषान् त्यक्त्वा ।
पश्चाद्द्रव्येण मुनिः प्रकटयति लिङ्गं जिनाज्ञया ॥

भावेण होइ णग्गो भावेन परमधर्मानुरागलक्षणजिनसम्यक्त्वेन भवति, कीदृशो भवति ? नग्नः वस्त्रादिपरिग्रहरहित । किं कृत्वा पूर्वं, **मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं** मिथ्यात्वादींश्च दोषाँस्त्यक्त्वा मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगलक्षणास्रवद्वाराणि त्यक्त्वा । **पच्छा दव्वेण मुणी** पश्चात् भावलिंगधरणादनन्तरं मुनिर्दिगम्बरः । **पयडदि लिंगं जिणाणाए** प्रकटयति स्फुटीकरोति, किं तत् ? लिंगं–जिनमुद्रां, कया ? जिणाणाए–जिनस्याज्ञया जिनसम्यक्त्वेन सम्यक्त्वश्रद्धानरूपेणेति बीजांकुरन्यायेनोभयं संलग्नं ज्ञातव्यं । भावलिंगेन द्रव्यलिंगं द्रव्यलिंगेन भावलिंगं भवतीत्युभयमेव प्रमाणीकर्तव्यं । एकान्तमतेन तेन सर्वं नष्टं भवतीति वेदितव्यं । अलं दुराग्रहेणेति ।

भावो वि दिव्वसिवसुक्खभायणो भाववज्जिओ सवणो ।
कम्ममलमलिणचित्तो तिरियालयभायणो पावो ॥ ७४ ॥

भावोऽपि दिव्यशिवसुखभाजनं भाववर्जितः श्रवणः ।
कर्ममलमलिनचित्तः तिर्यगालयभाजनं पापः ॥

भावो वि दिव्वसिवसुक्खभायणो इति विपुलानाम–गाथालक्षणं। भावोऽपि, अपिशब्दाद्द्रव्यलिंगमपि। दिव्व-दिवि भवं दिव्यं सौधर्मैशानदेवीरतिकम्पान्यतरमहर्द्धिकदेवसुखं सौधर्माद्यच्युतस्वर्गपर्यन्तं सुखं द्रव्यलिंगमनन्तरेण भावनीयं। तद्युक्तद्रव्यलिंगेन सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तं सुखं ज्ञातव्यं। कस्यचिदभव्यस्य भावलिंगमन्तरेण द्रव्यलिंगेन नवग्रैवेयकपर्यन्तं पुनः पुनर्भवपातहेतुभूतं सुखं ज्ञातव्यं। तेनास्य पादस्य पुनरर्थः प्रकाश्यते। भावोऽपि दिव्यशिवसौख्यभाजनं स्वर्गमोक्षसौख्यभाजनं। **भाववज्जिओ सवणो** भाववर्जितः श्रवणो जिनसम्यक्त्वरहितो दिगम्बरः। **कम्ममलमलिणचित्तो** कर्ममलेन अतिचारानाचारातिक्रमव्यतिक्रमचेष्टितोपार्जितपापेन दोषेण मलिनचित्तः मलिनं मलदूषितं चित्तनाम्ना यस्य स भवति कर्ममलमलिनचित्तः। **तिरियालयभायणो पावो** तिर्यगालयभाजनं तिर्यग्गतिस्थानं भवति, पापः पापात्मा विचित्रमतिनाममंत्रिपुत्रवत्।

सयरामरमणुयकरंजलिमालाहिं च संथुया विउला ।
चक्कहररायलच्छी लब्भइ बोही ण भव्वणुआं ॥ ७५ ॥

१ सचरामरमणुयाणं अंजलिमालाहिं. प. पुस्तके पाठः ।

२ शुभावेनेति पाठान्तरं । प. पुस्तके च ।

३ अस्मद्गाथानुसारेण प. पुस्तके इमे गाथासूत्रे समुपलभ्येते । मुद्रितपुस्तके च । न चोपलभ्येते च म. इति प्राचीनलिखितमूलपुस्तके । क. ख. इति टीका पुस्तके च न स्त एव । टीकाप्यनयोर्नास्ति । ते च प. पुस्तकोक्तटीकासहिते अत्र लिख्येते । (सम्पादकः)

खचरामरमनुजानाम ञ्जलिमालाभिः संस्तुता विपुला ।
चक्रधरराजलक्ष्मीः लभ्यते बोधिः न भव्यनुता ॥

खयरामरमणुयकरंजलिमालाहिं च इयमपि विपुला गाथा ज्ञातव्या । अस्या अयमर्थः—खचरामरमनुजकराञ्जलिमालाभिश्च खे चरन्त्याकाशे गच्छन्तीति खचरा विद्याधरा उभयश्रेणिसम्बन्धिनः, न म्रियन्ते बहुकालेन प्रच्यवन्तेऽमरा व्यन्तरदेवाः, मर्णुय–प्रतिश्रुत्यादिभ्यो जाता मनुजाः, खचरामरमनुजास्तेषां कराञ्जलयः करकुड्मलानि तेषां मालाभिः श्रेणिभिश्च । **संथुया**–संस्तुताः । चक्रवर्तिनां च तथा मण्डलेश्वरमहामण्डलेश्वरार्धमण्डलेश्वराणां राज्ञां लक्ष्मीः चक्रधरराजलक्ष्मीः । **लब्भेइ बोही ण भव्वणुआ** एतादृशी लक्ष्मीर्विभूतिर्लभ्यते प्राप्यते जीवनेति, बोही ण–परं बोधिर्नलभ्यते । कथंभूता बोधिः, भव्यनुता

भाव तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णादव्वं ।
असुहं अट्टरउद्दं सुह धम्मं जिणवरिंदेहिं ॥ १ ॥

भावः त्रिविधप्रकारः शुभोऽशुभः शुद्ध एव ज्ञातव्यः ।
अशुभः आर्तरौद्रः शुभः धर्म्यं जिनवरेन्द्रैः ॥

टीका–भाव त्रिविधप्रकारं शुभं अशुभं शुद्धं एव निश्चयेन ज्ञातव्यं । अशुभं आर्तरौद्रं । शुभं धर्मध्यानं जिनवरेन्द्रैः कथितम् ।

सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं ।
इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह ॥ २ ॥

शुद्धः शुद्धस्वभावः आत्मा आत्मनि स च ज्ञातव्यः ।
इति जिनवरैः भणितः यच्छ्रेयः तत् समाचर ॥

टीका–हे मुने । शुद्धं निर्मलं शुद्धस्वभावं तं आत्मानं आत्मनि ज्ञातव्यं । इति जिनवरैर्भणितं कथितं । यच्छ्रेयं कल्याणकारि तत् समाचर कुर्विति ।

१ अस्य स्थाने मनुष्या इति स. पुस्तके पाठः । २ या टी ?

भव्यवरपुण्डरीकैः स्तुता प्रशंसनीया। अथवा हे भव्यनुत! आसन्नभव्यजीव! त्वमिदं जानीहीति शेषः।

पयलियमाणकसाओ पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो।
पावइ तिहुयणसारं बोही जिणसासणे जीवो ॥ ७६ ॥

प्रगलितमानकषायः प्रगलितमिथ्यात्वमोहसमचित्तः।
प्राप्नोति त्रिभुवनसारां बोधिं जिनशासने जीवः ॥

पयलियमाणकसाओ प्रगलितमानकषायो मानकषायरहितः। **पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो** प्रगलितमिथ्यात्वमोहसमचित्तो यद्विपरीतं तन्मिथ्यात्वं, मोहो वैचित्यं निर्विवेकता पुत्रमित्रकलत्रादिस्नेहः, प्रगतौ विनाशं प्राप्तौ मिथ्यात्वमोहौ यस्य स प्रगलितमिथ्यात्वमोहः, समं सर्वत्र तृणसुवर्ण–सर्पस्रक्–शत्रुमित्र–सुखदुःख–वनभवन–पुरारण्यादिषु समानं चित्तं मनो यस्य स समचित्तः। **पावइ तिहुयणसारं** प्राप्नोति लभते। कां, **बोही** बोधिं रत्नत्रयप्राप्तिं। कथंभूतां बोधिं, तिहुयणसारं–त्रैलोक्योत्तमां। **जिणसासणे जीवो** जिनशासने सर्वज्ञवीतरागस्वामिनो मते। मानमिथ्यात्वमोहरहितो जीवो बोधिं प्राप्नोतीति जिनवचनं ज्ञातव्यमिति।

विसयविरत्तो समणो छद्दसवरकारणाइं भाऊणं।
तित्थयरनामकम्मं बंधइ अइरेण कालेण ॥ ७७ ॥

विषयविरक्तः श्रमणः षोडशवरकारणानि भावयित्वा।
तीर्थंकरनामकर्म बध्नाति अचिरेण कालेन ॥

विसयविरत्तो समणो विषयेभ्यः स्पर्शरसगन्धवर्णशब्देभ्यः पंचेन्द्रियार्थेभ्यो विरक्तः पराङ्मुखः श्रमणो दिगम्बरः, न तु

श्वेताम्बरादिकः प्रत्याख्यानादिहीनः, तपःक्लेशासहः श्रमण उच्यते न तु बहुवारं जलस्य पाता भोजनस्य भोक्ता च । [illegible] कारणाइं भाऊणं षोडशकारणानि भावयित्वा । तित्थयरनाम कम्मं बंधइ तीर्थकरनामकर्म बध्नाति त्रिसप्ततितमीं प्रकृतिं स्वी करोति यया त्रैलोक्यं संचलयति पादाधः करोति । अइरेण कालेन अचिरेण कालेन अन्तर्मुहूर्तमात्रेण, यया पंचकल्याणलक्ष्मीं प्राप्नोति, अनन्तकालमनन्तसुखमनुभवति, अनायासेन मोक्षं प्राप्नोति। अथ कानि तानि षोडशकारणानि यैस्तीर्थकरनामकर्म बध्यत इति चेदुच्यते—

" दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्य करणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभाव ना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य "

इत्युमास्वामिसूरिणा प्रोक्तं सूत्रं । अस्यायमर्थः —इहलोकभय-परलोकभय-वेदनाभय मरणभय-आत्मरक्षणाभाव[illegible]-अगुप्तिभय-अकस्मा [illegible] इति सप्तभयरहितत्वं निःशंकितं [illegible] निर्ग्रन्थलक्षणो मोक्षमार्ग इति जिनमतं सत्यमिति वा निःशंकितत्वं (१) इहलोकपरलोकभोगोपभोगाकांक्षानिवृत्तिर्निःकांक्षितत्वं (२) शरीरादौ [illegible] निर्विचिकित्सता, मुनीनां [illegible] (३) [illegible] (४) [illegible] (५) [illegible] (६) जिनशासने सदानुरागो वात्सल्यं (७)

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपोभिरात्मप्रकाशनं शासनोद्योतकरणं वा प्रभावना (८) एतैरष्टभिर्गुणैर्युक्तत्वं चर्मजलतैलघृतभूतनाशनाऽप्रयोगत्वं मूलकनालकसूरणकन्दगृञ्जनपलाण्डुविराटीगिवककलिंगपंचपुष्पसंधानकर्पोतुंभपत्रपत्रशाकमांसादिभक्षकभाजनभोजनादिपरिहरणं च दर्शनविशुद्धिः (१) ज्ञानदर्शनचारित्रेषु तद्वत्सु चादरोऽपमापना वा विनयसम्पन्नता (२) निरवद्यावृत्तिः शीलव्रतेष्वनतिचारः (३) सन्ततं ज्ञानस्योपयोगोऽभ्यासः अभीक्ष्णज्ञानोपयोगः (४) संसाराद्भीरुत्वं संवेगः (५) स्वशक्त्यनुरूपं दानं (६) मार्गाविरुद्धं कायक्लेशादितपः (७) मुनिगणतपःसंधारणं साधुसमाधिः (८) गुणवतां दुःखोपनिपाते निरवद्यवृत्त्या तदपनयनं वैयावृत्त्यं (९) अर्हत्सु केवलिषु अनुरागो भक्तिः (१०) आचार्येष्वनुरागो भक्तिः (११) बहुश्रुतेष्वनुरागो भक्तिः (१२) प्रवचने जिनसूत्रेऽनुरागो भक्तिः (१३) सामायिकं सर्वजीवेषु समत्वं, चतुर्विंशतिजिनानां स्तुतिः स्तव उच्यते, एकजिनस्य स्तुतिर्वन्दनाभिधीयते, कृतदोषनिराकरणं प्रतिक्रमणं, आगामिदोषनिराकरणं प्रत्याख्यानं । एकमुहूर्तादिषु शरीरममत्ववर्जनं कायोत्सर्गः, एतेषां षण्णामावश्यकानामपरिहाणिरेका चतुर्दशी भावना (१४) ज्ञानादिना धर्मप्रकाशने मार्गप्रभावना (१५) सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वं (१६) एताः षोडशभावनाः समस्ता विनयसम्पन्नता दर्शनविशुद्धिसहिता व्यस्ता अपि तीर्थंकरनामकर्मबन्धकारणानि भवन्तीति ज्ञातव्यं ।

बारसविहतवयरणं तेरसकिरियाओ भाव तिविहेण ।
धरहि मणमत्तदुरियं णाणांकुसएण मुणिपवर ॥ ७८ ॥

१ [illegible], ग. । [illegible] । ३ मुणिवसह, ग. घ. ।

द्वादशविधतपश्चरणं त्रयोदशक्रियाः भावय त्रिविधेन।
धरमनोमत्तदुरितं ज्ञानाङ्कुशेन मुनिप्रवर ! ॥

बारसविहतवयरण द्वादशविधं तपश्चरणं अनशनमुपवासः, अवमोदर्यमेकग्रासादिरल्पाहारः, वृत्तिपरिसंख्यानं गणितगृहेषु भोजनं वस्तुसंख्या वा, रसपरित्यागः षड्रसविवर्जनं, विविक्तेषु जन्तुस्त्रीपशुनपुंसकरहितेषु स्थानेषु शून्यागारादिषु आसनं उपवेशनं शय्या निद्रास्थानं अवस्थानं वा विविक्तशय्यासनं, कायक्लेशः जलौदनभोजनादि[1]। इदं षड्विधं बाह्यं तपः। बाह्यं कस्मादिति चेत् ? बाह्यं भोजनादिकमपेक्ष्य प्रवर्तते, परप्रत्यक्षं वा प्रवर्तते, परदर्शने पाषण्डिगृहस्थैश्च क्रियते ततो बाह्यमुच्यते। एतस्मात्तपसः कर्मदहनं इन्द्रियतापकारित्वं च भवति। संयमो रागोच्छेदः कर्मनाशो ध्यानादिः आशानिवृत्तिः शरीरतेजोहानिः ब्रह्मचर्यं दुःखसहनं सुखानभिष्वङ्गः आगमप्रभावनादिकं च फलं ज्ञातव्यं। षड्विधमभ्यन्तरं तपः, यतः परतीर्थ्यैरनालीढं स्वसंवेद्यं बाह्यद्रव्यानपेक्षं ततोऽभ्यन्तरं तप उच्यते। तत्किं ? प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानलक्षणं। तत्र नवविधं प्रायश्चित्तं, चतुर्विधो विनयः, दशविधं वैयावृत्त्यं, पंचविधः स्वाध्यायः, द्विविधो व्युत्सर्गः, चतुर्विधं ध्यानं चेति षड्विधमभ्यन्तरं तप इति द्वादशविधं तपः। किं तन्नवविधं प्रायश्चित्तमिति चेत् ? गुरोरग्रे स्वप्रमादनिवेदनं दशदोषरहितमालोचनं। के ते दशदोषा आलोचनाया इति चेत् ?—

---

१ जलौदनभोजनलवणादि. क. ।

आकंपिअ अणुमाणिअ जं दिट्ठं बायरं च सुहमं च ।
छण्णं सद्दाउलयं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी ॥ १ ॥

पुरुषस्यैकान्ते हृद्याश्रयणमालोचनं, स्त्रियास्तु प्रकाशे स्यादाश्रयणमालोचनं, महदपि तपश्चरणमालोचनरहितं तत्प्रायश्चित्तमकुर्वतो वा अभीष्टफलदं न भवतीति ज्ञातव्यं। दोषमुच्चार्योच्चार्य मिथ्या मे दुष्कृतमस्तु इत्येवमादिरभिप्रेतः प्रतीकारः प्रतिक्रमणं। एतत्प्रतिक्रमणमाचार्यानुज्ञया शिष्येणैव कर्त्तव्यं। आलोचनं प्रदाय प्रतिक्रमणमाचार्येणैव कर्तव्यं तत्तदुभयमुच्यते। शुद्धस्याप्यशुद्धत्वेन यत्र सन्देहविपर्ययौ भवतः, अशुद्धस्य शुद्धत्वेन निश्चयो वा यत्र, प्रत्याख्यातं यत्तद्वस्तु भाजने मुखे वा प्राप्तं, यस्मिन् वस्तुनि गृहीते कषायादिकमुत्पद्यते तस्य सर्वस्य त्यागो विवेकः। नियतकालकायवाङ्मनसां त्यागो व्युत्सर्गः। तपो बाह्यं कथितमेव। दिनपक्षमासादिविभागेन दीक्षाहापनं छेदः। दिवसादिविभागेनैव दूरतः परिवर्जनं परिहारः। महाव्रतानां मूलच्छेदनं कृत्वा पुनर्दीक्षाप्रापणमुपस्थापना। आचार्यमपृष्ट्वा आतापनादिकरणे पुस्तकपिच्छादिपरोपकरणग्रहणे परपरोक्षे प्रमादतः आचार्यादिवचनाकरणे संघनाथमपृष्ट्वा स्वसंघगमने देशकालनियमेनावश्यकर्तव्यव्रतविशेषस्य धर्मकथादिव्यासंगेन विस्मरणे सति पुनः करणे अन्यत्रापि चैवंविधे आलोचनमेव प्रायश्चित्तं। षडिन्द्रियवागादि-दुष्परिणामे, आचार्यादिषु हस्तपादादिसंघट्टने, व्रतसमितिगुप्तिषु स्वल्पातिचारे, पैशुन्यकलहादिकरणे, वैयावृत्यस्वाध्यायादिप्रमादे, गोचरस्य लिंगोत्थाने, अन्यसंक्लेशकरणादौ च प्रतिक्रमणं [illegible]

---

१ आकम्पितं अनुमानितं यद्दृष्टं बादरं, च सूक्ष्मं च।
छन्नं शब्दाकुलितं बहुजनं अव्यक्तं [illegible]
[illegible] दश दोषाः

सान्ते राव्यन्ते भोजनगमनादौ च प्रतिक्रमणं प्रायश्चित्तं । लोचनखच्छ दस्वमेन्द्रियातिचाररात्रिभोजनेषु पक्षमाससंवत्सरादिदोषादौ च उभ आलोचनप्रतिक्रमणप्रायश्चित्तं । मौनादिना लोचकरणे, उदरकृमिनिर्ग हिममशकादिमहावातादिसंहर्षातिचारे, स्निग्धभूहरिततृणपंकोपरिगमने जानुमात्रजलप्रवेशकरणे, अन्यनिमित्तवस्तुस्वोपयोगकरणे, नावादिनदी तरणे, पुस्तकप्रतिमापातने, पंचस्थावरविघाते, अदृष्टदेशतनुमलविस र्गादौ, पक्षादिप्रतिक्रमणक्रियायां, अन्तर्व्याख्यानप्रवृत्त्यन्तादिषु कायो त्सर्ग एव प्रायश्चित्तं । उच्चारप्रस्रवणादौ च कायोत्सर्गः प्रसिद्ध एव अनशनादिकरणस्थानमागमाद्बोद्धव्यं । नवविधप्रायश्चित्ते किं फलं भावप्रसादोऽनवस्था शल्याभावदार्ढ्यादिकं फलं वेदितव्यं ।

अनलसेन देशकालादिविशुद्धिविधानज्ञेन सबहुमानो यथाशक्ति क्रिय माणो मोक्षार्थं ज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादि ज्ञानविनयः । तत्त्वश्रद्धाने निःशं कितत्वादिर्दर्शनविनयः । ज्ञानदर्शनवतो दुश्चरणे तद्वति च ज्ञानेऽति भक्तिर्भावतश्चरणानुष्ठानं चरणविनयः । प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिष्वभ्युत्थान- वंदनानुगमनादिरात्मानुरूपः परोक्षेष्वपि तेष्वञ्जलिक्रियागुणकीर्तन- स्मरणानुज्ञानुष्ठायित्वादिश्च कायवाङ्मनोभिरुपचारविनयः । विनयस्य किं फलं ? ज्ञानलाभ आचारशुद्धिः सम्यगाराधनादिश्च विनयस्य फलं वेदितव्यं । इति चतुर्विधो विनयः ।

दशविधं वैयावृत्यं । तथा हि । आचार्यस्य वैयावृत्यं, उपाध्यायस्य वैयावृत्यं, महोपवासाद्यनुष्ठायितपस्विनो वैयावृत्यं, शास्त्राभ्यासी शैक्ष- कस्तस्य वैयावृत्यं, रुजादिक्लिष्टशरीरो ग्लानस्तस्य वैयावृत्यं, स्थविरसन्तति- र्गणस्तस्य वैयावृत्यं, दीक्षकाचार्यशिष्यसंघः कुलं तस्य वैयावृत्यं, ऋषि-

१ पुस्तकद्वयेऽपीत्थमेव पाठः, अनगारधर्मामृते तु मौनादिना विनालोचनकरणे इति । २ वतो । ३ दुश्चरणे पाठान्तरं ।

मुनिपत्यनगारनिवहः संघः, अथवा ऋष्यार्यिकाश्रावकश्राविकानिवहः संघस्तस्य वैयावृत्यं, चिरप्रव्रजितः साधुस्तस्य वैयावृत्यं, विद्वत्तावक्तृत्वादिलोकसम्मतोऽसंयतसम्यग्दृष्टिर्वा मनोज्ञस्तस्य वैयावृत्यं । किं तद्वैयावृत्यं ? एतेषां दशविधानामाचार्यादीनां व्याधिपरीषहमिथ्यात्वादिः प्रासुकौषधभक्तादिप्रतिश्रयसंस्तरादिभिर्धर्मोपकरणैः सम्यक्त्वप्रतिस्थापनं च प्रतीकारो वैयावृत्यं । बाह्यद्रव्याभावे स्वकाये (न) श्लेष्माद्यन्तर्मलापकर्षणादिस्तदानुकूल्यानुष्ठानं च वैयावृत्यं । वैयावृत्यकरणे किं फलं ? समा (ध्या) धानं ।

वाचना—संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा ग्रन्थार्थोभयस्य परं प्रत्यनुयोगः । आत्मोन्नतिपरातिसन्धानोपहासादिवर्जितः पृच्छना । अधिगतार्थस्यैकाग्र्येण मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा । घोषशुद्धं परिवर्तनमाम्नायः । दृष्टादृष्टप्रयोजनानपेक्षमुन्मार्गनिवर्तनसन्देहच्छेदापूर्वार्थप्रकाशनाद्यर्थो धर्मकथानुष्ठानं धर्मोपदेशः । पंचविधस्य स्वाध्यायस्य किं फलं ? प्रज्ञातिशयप्रशस्ताध्यवसायप्रवचनस्थितिसंशयोच्छेदपरवादिशंकाद्यभावसंवेगतावृद्ध्यतिचारविशुद्ध्याद्यर्थः पंचविधः स्वाध्यायः ।

नियतकालो यावज्जीवं वा कायस्य त्यागोऽभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्गः । बाह्यस्त्वनेकप्रायो व्युत्सर्गः । निःसंगत्वनिर्भयत्वजीविताशाव्युदासदोषोच्छेदमोक्षमार्गभावनापरत्वादि व्युत्सर्गफलम् ।

अथ ध्यानं नाम द्वादशं तप उच्यते तदर्थमिदं सूत्रमुमास्वामिभिः कृतं—

"उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ।"

अस्यायमर्थः—वज्रऋषभनाराचसंहननं, वज्रनाराचसंहननं, नाराचसंहननं संहननत्रयमुत्तमं संहननं मोक्षादिकारणत्वात् । प्रथमं संहननं मोक्षस्य हेतुः । ध्यानस्य हेतुस्त्रितयमपि भवति । अर्धनाराचस्य कीलि-

*काया अप्राप्तासृपाटिकायाश्च संहननत्रयस्यान्तर्मुहूर्तकालं यावच्चिन्तानि-*रोधधारणायामसमर्थत्वात्। गमनभोजनादिक्रियाविशेषेष्वनियमेन प्रवर्तमानस्यात्मन एकस्याः क्रियायाः कर्तृत्वेनावस्थानं निरोधः—क्रियान्तरव्यवधानाभावेन एकक्रियायाः सातत्येन प्रवृत्तिर्निरोध इत्यर्थः। एकाग्रे एकार्थे एकस्मिन्नग्रे प्रधाने वा वस्तुनि चिन्तानिरोधः—एकस्मिन् द्रव्ये पर्याये तदुभयात्मके स्थूले सूक्ष्मे वा चिन्तानिरोध इत्यर्थः। अथवा सद्ध्यानं, अग्रं मुखं, एकमग्रं यस्य स एकाग्रः स चासौ चिन्तानिरोधश्चैकाग्रचिन्तानिरोधः एकस्मिन्नर्थे वर्तमानचिन्तानिरोधः एकमुखः सद्ध्यानं अनेकत्राक्षसूत्रादौ अनेकमुखः सद्ध्यानं न भवति यथा प्रदीपशिखा *अनिराबाधेन परिस्पन्दते तथाऽनिराकुलतायां ध्यानं न स्यात्।* गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रादिकं यत्संवरकारणं तदेव ध्यानकारणमिति ज्ञातव्यं। आन्तर्मुहूर्तात् मुहूर्तमध्ये ध्यानं भवति। ततोऽधिकः कालो ध्यानस्यास्ति, कस्मात्? चिन्ताना दुर्धरत्वात् अतिचपलत्वाच्च। एतावत्यपि काले ज्वलदचलं ध्यानं कर्मध्वसाय भवति प्रलयकालमारुतवत् समुद्रजलशोषणवत्। तद्ध्यानं हेयमुपादेयं च। तत्र हेयमार्तं रौद्रं च। उपादेयं धर्म्यं शुक्लं च। ऋतौ दुःखे भवमार्तं। रुद्रः क्रूराशयः प्राणी तत्कर्म रौद्रं। धर्मो वस्तुस्वरूपं तस्मादनपेतं आश्रितं धर्म्यं। मलरहितात्मपरिणामोद्भवं शुक्लं। तत्र धर्म्यं शुक्लं च द्वयं मोक्षकारणं। संसारकारणमन्यद्द्वयमार्तरौद्रमिति ज्ञातव्यं। आर्त्तममोनज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारो वारं वारं चिन्तनं मनोज्ञस्य विपरीतं चिंतनं तद्विपरीतं वेदनाचिन्तनं तद्विपरीतं निदानस्य चिन्तनं। हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रं ध्यानमुत्पद्यते। आर्त्तं अविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतेषु संभवति। रौद्रं अविरतदेशविरतेषु संभवति। आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयैर्धर्म्यध्यानमुत्पद्यते। तत्पूर्व-

विदो मुनेः श्रेण्यारोहणात्पूर्वं भवति । श्रेण्योरपूर्वकरणाद्युपशान्तान्तानां प्रथमं शुक्लं भवति । क्षीणकषायस्य द्वितीयं शुक्लं । तृतीयं शुक्लं चतुर्थं च शुक्लं केवलिनां भवति । तत्र सयोगस्य तृतीयं, चतुर्थमयोगस्येति । पृथक्त्ववितर्कवीचारं प्रथमं शुक्लं । एकत्ववितर्कावीचारं तृतीयं शुक्लं । सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिनामकं तृतीयं शुक्लं । व्युपरतक्रियानिवर्तिनामधेयं चतुर्थं शुक्लं । तत्र पृथक्त्ववितर्कवीचारं त्रियोगस्य भवति मनोवाक्कायावष्टम्भेनात्मप्रदेशपरिस्पन्दान् त्रीन् योगानवलम्ब्य अवष्टम्य उत्पद्यते इत्यर्थः । एकत्ववितर्काविचारं त्रिषु योगेषु मध्ये एकस्य चलनद्वारेणात्मपरिस्पन्दे सति समुत्पद्यत इत्यर्थः । काययोगस्य केवलिनः सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लं भवति । अत्र कायावष्टम्भेनैवात्मनश्चलनं । अयोगकेवलिनो व्युपरतक्रियानिवर्ति शुक्लध्यानं यतोऽत्र कायाद्यवष्टम्भेनात्मप्रदेशचलनं न भवति । पृथक्त्ववितर्कवीचारमेकत्ववितर्कवीचारं ध्यानद्वयं पूर्वेष्वधीतिन एव । वितर्कवीचारसहितं पूर्वं । द्वितीयं तु वीचाररहितं । वीचारः किं ? अर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिर्वीचारः परिवर्तनमित्यर्थः । अर्थसंक्रान्तिः का ? द्रव्यं विमुच्य पर्यायं गच्छति पर्यायं विहाय द्रव्यं समुपतीत्यर्थसंक्रान्तिः । एकं वचनं त्यक्त्वा वचनान्तरमवलम्ब्यते तदपि त्यक्त्वाऽन्यद्वचनमवलम्ब्यते इति व्यञ्जनसंक्रान्तिः । काययोगं त्यक्त्वा योगान्तरं गच्छति तदपि त्यक्त्वा काययोगं भजतीति योगसंक्रान्तिः । एवं श्रुतज्ञानेन वितर्क्य समूह्य द्रव्यं तत्पर्याये पर्यायान् वितर्क्य ततो द्रव्ये परिवर्तने वीचारे सति पृथक्त्वेन भेदेन अर्थपर्याययोर्वचनयोगयोर्वा श्रुतज्ञानपर्यालोचनेन संक्रान्तिः पृथक्त्ववितर्कवीचारः शुक्लध्यानं भवति । यद्यप्यर्थव्यञ्जनादिसंक्रान्तिरूपतया चलनं वर्तते तथापि इदं ध्यानं । कस्मात् ? एवंविधस्यैवास्य विवक्षितत्वात् । विजातीयानेकविकल्परहितस्य अर्थादिसंक्रमेण चिन्ताप्रबन्धस्यैव एतद्ध्यानत्वेनेष्टत्वात् । अथवा द्रव्यपर्या-

यात्मनो वस्तुन एकत्वात् सामान्यरूपतया व्यञ्जनस्य योगानां चैरीकरणादेकार्थचिन्तानिरोधोऽपि घटते । द्रव्यात्पर्यायं व्यञ्जनाद्व्यञ्जनान्तरं योगाद्योगान्तरं विहाय अन्यत्र चिन्तावृत्तौ अनेकार्थता न द्रव्यादेः पर्यायादौ प्रवृत्तौ । तथा श्रुतज्ञानेन एकार्थं वितर्कयन्नविचलितचित्तप्रवृत्तः क्षीणकषाय एकत्ववितर्कवान् भवति । वाङ्मनोयोगं बादरकायोयोगं च परिहाप्य सूक्ष्मकायोयोगालम्बनोऽन्तर्मुहूर्तशेषायुर्वेद्यनामगोत्रः सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिभाग्भवति । यदा पुनरायुषोऽधिकं वेद्यादित्रितयं तदा दण्डकपाटादिकं चतुःसमयैः कृत्वा पुनस्तावत्समयैः समुपहृत्य समीकृतकर्मचतुष्टयः सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानं ध्यायति । ततोऽयोगिनः समुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिव्युपरतक्रियानिवृत्त्यपरनामकं ध्यानं भवति । तस्मिन् स्थाने स्थितस्य सर्वास्रवनिरोधात् सर्वशेषकर्मविध्वंसनसमर्थं सम्पूर्णं यथाख्यातचारित्रं साक्षान्मोक्षकारणं संजायते । अन्त्ये शुक्लध्यानद्वये चिन्तानिरोधाभावेऽपि ध्यानव्यवहार. ध्यानकार्यस्य योगापहारस्य अघातिघातस्य चोपचारनिमित्तस्य सद्भावात् । तथा साक्षात्कृतसमस्तवस्तावर्हति न किंचिद्ध्येयमस्ति । ध्यानं तु तत्र असमानकर्मणां समानत्वकरणार्थं या चेष्टा, कर्मसाम्ये तत्क्षययोग्यसमया या अलौकिका मनीषा तदेव सौख्यं मोहक्षयाज्ज्ञानावरणदर्शनावरणक्षयाच्चात्मनो दर्शनं ज्ञानं च भवति । अन्तरायविनाशादनन्तवीर्यं जीवस्य स्यात् । आयुकर्मविध्वंसनाच्चेतनस्य जन्ममरणाभावो भवति । नामकर्मनिर्मूलनान्नरस्यामूर्तत्वं जायते । नीचोच्चगोत्रविनाशनात्कुलद्वयविनाशो भवति । वेदनीयकर्मनिर्मूलकार्यं क्षपणात् जीवस्येन्द्रियोत्पन्नसुखाभावः संजायते ।

१–२ पुस्तकद्वयेऽपि ईदृगेव पाठः किन्तु कषायस्थाने कायेनेति पाठेन भवितव्यं आगमाविरुद्धत्वात् । कषायानां तत्राभावाच्च न तेषां ह्रापनं सूक्ष्मीकरणं च सयोगिगुणस्थाने घटते । ३ समीपकृत. क । ४ ज्ञानावरणक्षयात्. ख. ।

कस्मिन्निष्टे वस्तुनि निश्चला मतिर्ध्यानं । आर्तरौद्रधर्मादिक्षया तु मनि-श्चला अशुभा शुभा वा सा भावना कथ्यते, चित्तं चिन्तनं अनेकन-यगुक्तानुप्रेक्षणं ख्यापनं श्रुतज्ञानपदालोचनं वा कथ्यते न तु ध्यानं । अत्र संहननलक्षणं यथा यदुदयादस्थिबन्धनविशेषस्तत्संहननं षट्प्रकारं । वज्राकारोभयास्थिमध्ये सवलयबन्धनं सनाराचं वज्रऋषभनाराचसंहननं । तदेव वलयरहितं वज्रनाराचसंहननं । वज्राकारवलयबन्धापेतं सनाराचं नाराचसंहननं । एकमस्थि सनाराचं अपरमनाराचं अर्द्धनाराचसंहननं । उभयास्थिप्रान्ते सकीलकं कीलिकासंहननं । अन्तरप्राप्तपरस्परास्थिसन्धि-बहिःशिरास्नायुमांसवेष्टितं असंप्राप्तासृपाटिकासंहननं चेति । अष्टसप्तति-तम्यां गाथायां **बारसविहतवयरणं** इत्यस्य पादस्य व्याख्यानं समाप्तं । **तेरसकिरियाओ भावि तिविहेण** त्रयोदशक्रिया भावय त्वं त्रिविधेन त्रिकरणशुद्ध्या पंचनमस्कारा:, षडावश्यकानि, चैत्यालयमध्ये प्रविशता निसिही निसिही निसिही इति वारत्रयं इदुच्चार्यते, जिनप्रतिमावन्द-नाभक्तिं कृत्वा बहिर्निर्गच्छता भव्यजीवेन असिही असिही असिही इति वारत्रयं इदुच्चार्यत इति त्रयोदशक्रिया हे भव्य ! त्वं भावय । तथा चोक्तं—

निःसंगोऽहं जिनानां सदनमनुपमं त्रिःपरीत्येत्य भक्त्या
स्थित्वा गत्वा निषिद्धयुच्चरणपरिणतोऽन्तः शनैर्हस्तयुग्मं ।
भाले संस्थाप्य बुद्ध्या मम दुरितहरं कीर्तये शक्रवन्द्यं
निन्दादूरं सदाप्तं क्षयरहितममुं ज्ञानभानुं जिनेन्द्रं ॥ १ ॥

अरे लोका दुरात्मानो ! यदि भवद्भिर्जिनप्रतिमा चैत्यालयश्च न मान्यते तदेदं वृत्तं पूज्यपादैर्जिनवन्दनाविधिः कथमुक्तः । तेन दुराग्रहं विमुच्यास्तिकत्वं भावनीयं भवद्भिः । अथवा पंचमहाव्रतानि पंचसमितय-स्तिस्रो गुप्तयश्चेति त्रयोदशक्रियास्त्रयोदशविधं चारित्रं हे भव्यवरपुण्ड-

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहि सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥ ८१ ॥

पूजादिषु व्रतसहितं पुण्यं हि जिनैः शासने भणितम्।
मोहक्षोभविहीनः परिणामः आत्मनो धर्मः ॥

पूयादिसु वयसहियं पूजादिषु व्रतसहितं पूजा आदिर्येषां कर्मणां तानि पूजादीनि तेषु पूजादिषु व्रतसहितं श्रावकव्रतसहितं। पुण्णं हि जिणेहि सासणे भणियं पुण्यं स्वर्गमोक्षदायकं कर्म जिनैस्तीर्थंकरपरमदेवैः [illegible] हि स्फुटं शासने आर्हतमते [illegible] भणितं [illegible] प्रतिपादितं इदं कर्म करणीयमित्युपदिष्टं। तथा चोक्तं जिनसेनेन—

पुण्यं जिनेन्द्रपरिपूजनसाध्यमाद्यं
पुण्यं सुपात्रगतदानसमुत्थमन्यत्।
पुण्यं व्रतानुचरणादुपवासयोगात्
पुण्यार्थिनामिति चतुष्टयमर्जनीयम् ॥ १ ॥

तथा समन्तभद्रस्वामिनाप्युक्तम्—

देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम्।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् ॥ १ ॥
अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत्।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥ २ ॥

[illegible] —मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो [illegible]

विहीन एवं गुणविशिष्ट आत्मनः शुद्धबुद्धैकस्वभावस्य चिच्चमत्कारलक्षणश्चिदानन्दरूपः परिणामो धर्म इत्युच्यते। स परिणामो गृहस्थानां न भवति पंचसूनासहितत्वात्। तथा चोक्तं—

खण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुंभः प्रमार्जनी।
पंचसूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति ॥ १ ॥

यदि मोक्षं न गच्छति तदा जिनसम्यक्त्वपूर्वकं दानपूजादिलक्षणं विशिष्टगुणमुपार्जन् गृहस्थः स्वर्गं गच्छति परंपरया जिनलिंगेन मोक्षमपि प्राप्नोति।

इति पुण्यधर्मयोः स्वरूपमुक्त्वेदानीं निर्विकल्पसमाधिलक्षणं कर्मक्षयकारणं कथयन्ति भगवन्तः—

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि।
पुण्णं भोयणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥ ८२ ॥

श्रद्दधाति च प्रत्येति च रोचते च तथा पुनरपि स्पृशति।
पुण्यं भोगनिमित्तं न हु तत् कर्मक्षयनिमित्तम् ॥

सद्दहदि य श्रद्दधाति च तत्र विपरीताभिनिवेशरहितो भवति। **पत्तेदि य** प्रत्येति च मोक्षहेतुभूतत्वेन यथावत्प्रतिपद्यते। **रोचेदि य** रोचते च मोक्षकारणतया तत्रैव रुचिं करोति। **तह पुणो वि फासेदि** मोक्षाभिलाषसाधनतया स्पृशति अवगाहयति। **पुण्णं भोयणिमित्तं** एतत्पूजादिलक्षणं पुण्यं मोक्षार्थितया क्रियमाणं साक्षाद्भोगकारणं स्वर्गलोकानामिन्द्रादिकारणं तृतीयादिभवे मोक्षकारणं निर्ग्रन्थलिंगेन। **ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं** न भवति हु—स्फुटं निश्चयेन साक्षात्तद्भवे गृहस्थलिंगेन कर्मक्षयनिमित्तं—तद्भवे केवलज्ञानपूर्वकमोक्षनिमित्तं पुण्यं न भवतीति ज्ञातव्यं।

नरयं अशुद्धभावः सन् गतः प्राप्तः महानरके सप्तमे नरके गतः। इय णाउं अप्पाणं इति ज्ञात्वाऽऽत्मानं शुद्धबुद्धैकस्वभावरूपं टङ्कोत्कीर्ण-स्फटिकबिम्बोपमं चिच्चमत्कारलक्षणं मुक्तिगतसिद्धसमानं शुद्धनिश्चयनयेन सिद्धं ज्ञायकैकस्वभावं हे जीव ! हे आत्मन् !। भावहि जिण-भावणा णिच्चं भावय त्वं भावनाविषयं कुरु इयं जिनभावनेति ज्ञात्वा, अथवा जिनभावना जीवादिसप्ततत्त्वश्रद्धानं च नित्यं सर्वकालं भावय रोचय तस्मादिति अपध्यानं परिहृत्य अन्तरात्मा बहिस्त्वं भावयेति भावार्थः । किं तदपध्यानं ?—

> यद्बन्धवधच्छेदादेः द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः।
> आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ॥ १ ॥
> "पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनं।
> रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरंजनं ॥"

इति चतुर्विधं धर्म्यं ध्यानं भावय हे जीव ! ।

अथ शालिसिक्थमत्स्यकथा यथा—श्रीपुष्पदन्तजिनजन्मभूमौ काकन्दी-पुरे श्रावककुलजन्मा सौरसेनो राजा बभूव । सकलधर्मानुरागेण मांसवर्जं जग्राह । पुनर्दुर्दैवदग्धमतमोहितमतिः मांसभक्षणरतिः संजातः, अश्री-[illegible] [illegible] मार्गं जुगुप्समानः मनोभिराम-[illegible] [illegible] [illegible] निजानि [illegible] तत्र [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] मांसभक्षणपरो न जातः । कर्मप्रियोऽपि सूपकारः [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] मृतः [illegible] महामत्स्यो बभूव । राजा सौरसेनोऽपि [illegible] मृतः मांसभक्षणाभिलाषानुस्मा-

१ [illegible] । [illegible] ।

तस्मिन्नेव समुद्रे तस्यैव महामत्स्यस्य कर्णविलमलाशनशीलः शालिसिक्थप्रमाणशरीरो मत्स्यो बभूव। तदन्वेष पर्याप्तद्रव्यभावेन्द्रियः तस्य महामत्स्यस्य मुखं व्यादाय निद्रायतो वेलानदीप्रवाहे इव गलगुहानेकजलचरसमूहं प्रविश्य निष्क्रामन्तं निरीक्ष्य शालिसिक्थश्चिन्तयति—अयं पापकर्मा महामत्स्यो निर्भाग्यो यन्मुखे पतन्त्यपि यादांसि भक्षितुं न शक्नोति। मम दैवेनैतावच्छरीरं यदि भवति तदा सकलमपि समुद्रं सत्वसंचाररहितं करोमीति चेतश्चिन्तावशात्क्षुद्रमत्स्यो निखिलनक्रचक्रभक्षणपापाच्च महामत्स्योऽपि द्वावपि मृत्वा सप्तमनरके संजातौ। ततस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुषौ तौ द्वावपि परस्परमालापं चक्रतुः। अहो क्षुद्रमत्स्य! महापापकर्मणो ममात्रागमनं संगच्छत एव। त्वं तु मत्कर्णमलाजीवनः कथमत्रागतः। शालिसिक्थचरनारकः प्राह—महामत्स्यचेष्टितादपि दुरन्तदुःखं (ख) संबन्धनाद्दुर्भावनावशात्।

इति श्रीभावप्राभृते शालिसिक्थमत्स्योपाख्यानं समाप्तं।

बाहिरसंगचाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो।
सयलो णाणज्झयणो निरत्थओ भावरहियाणं ॥ ८७ ॥

बाह्यसङ्गत्यागः गिरिसरिद्दरीकन्दरादावासः।
सकलं ज्ञानाध्ययनं निरर्थकं भावरहितानाम् ॥

बाहिरसंगचाओ बाह्यसंगत्यागः निरर्थक इति सम्बन्धः। **गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो** गिरौ आवासः पर्वतोपरि आतापनयोगः पर्वते स्थितिर्वा, सरित्—नदीतटे तपश्चरणं भगीरथवत्, दरी गुहायामावासः, कन्दरो गिर्यादिविवरे तत्रावासः, आदिशब्दात् श्मशानोद्यानादौ आवासः स्थितिः। **सयलो णाणज्झयणो** सकलं वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशलक्षणं ज्ञानाध्ययनं शास्त्रपठनं। **निरत्थओ भावरहि-**

याणं भावरहितानां जिनसम्यक्त्वविवर्जितानां निजशुद्धबुद्धैकस्वभावात्मभावनाऽप्रच्युतानां यतीनां (निरर्थकं)। उक्तं च—

> बाह्यग्रन्थविहीना दरिद्रमनुजाः स्वभावतः सन्ति।
> यः पुनरन्तःसंगत्यागी लोके स दुर्लभो जीवः ॥ १ ॥

भंजसु इंदियसेणं भंजसु मणमक्कडं पयत्तेण।
मा जणरंजणकरणं बाहिरवयवेस तं कुणसु ॥ ८८ ॥

> भङ्ग्धि इन्द्रियसेनां भङ्ग्धि मनोमर्कटं प्रयत्नेन।
> मा जनरञ्जनकरणं बहिर्व्रतवेष ! त्वं कार्षीः ॥

भंजसु इंदियसेणं त्वं भङ्ग्धि, कां ? इन्द्रियसेनां। **भंजसु मणमक्कडं पयत्तेण** भंजसु-त्वं भङ्ग्धि आमर्दय विषयकषायेभ्यो गच्छन्तं निरुन्द्धि, कं ? मणमक्कड—मनोमर्कटं चपलस्वभावत्वान्मन एव मर्कटस्तं मनोवानरं प्रयत्नेन स्त्रीसंगपरित्यागात्। **मा जणरंजणकरणं** मा-नैव जनानां लोकानां रंजनकरणं अनुरागोत्पादकं कार्यं। हे **बाहिरवयवेस** बहिर्व्रतवेष ! हे बाह्याकारदीक्षाचिह्नोद्वाहक !। **तं** त्वं। मा **कुणसु** मा कार्षीः।

णवणोकसायवग्गं मिच्छत्तं चयसु भावसुद्धीए।
चेइयपवयणगुरूणं करेहिं भत्तिं जिणाणाए ॥ ८९ ॥

> नवनोकषायवर्गं मिथ्यात्वं त्यज भावशुद्ध्या।
> चैत्यप्रवचनगुरूणां कुरु भक्तिं जिनाज्ञया ॥

णवणोकसायवग्गं नवनोकषायवर्गं हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदलक्षणान् नोकषायान् ईषत्कषायान् यथाख्यातचारित्रघातकान्। चयसु त्यजेति संबन्धः। तथा **मिच्छत्तं चयसु भावसुद्धीए** मिथ्यात्वं पंचप्रकारं चयसु-त्यज—

एयंत बुद्धदरिसी विवरीओ बंभ तावसो विणओ।
इंदो वि य संसयिदो मक्कडियो चेव अण्णाणी ॥ १ ॥

एकान्तेन क्षणिकवादेन मोक्षं बौद्धो वदति । विपरीतेन हिंसया मोक्षं वेद-ब्राह्मणो वदति। तापसो विनयेन मोक्षं वदति । इन्द्र इन्द्रचन्द्रनागेन्द्रगच्छः संशयेन मोक्षं मन्यते । अपि च श्वेताम्बरो गोपुच्छिको द्राविडो यापनीयाभिधो निःपिच्छश्च संशयमोक्षो ज्ञातव्यः । मस्करपूरणो मार्कटिकोऽज्ञानान्मोक्षं मन्यते । एतन्महापातकं मिथ्यात्वपंचकं परिमुञ्च हे जीव ! त्वं । तथा च समन्तभद्रः प्राह—

न सम्यक्त्वसमं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥ १ ॥

भावसुद्धीए—तत्वार्थश्रद्धानलक्षणया भावशुद्ध्या जिनसम्यक्त्वेन लौंकपापसंभाषणसंगमपरिहारेण शुद्धबुद्धैकस्वभावात्मरुचिपरिणामेनेति भावार्थः । चेइयपवयणगुरूणं चैत्यानां अर्हत्सिद्धप्रभृतिप्रतिमानां प्रवचनस्य जिननाथसूत्रस्य तथेति मस्तकोपर्यारोपणेन सरस्वतीप्रतिमापूजनेन गुरूणां निर्ग्रन्थदिगम्बराणां भव्यजीवभक्तजनविनेयमातृपितृसदृशहितोपदेशकानां । **करेहिं भत्ति जिणाणाए** कुरु त्वं भक्तिं पंचामृतजलेक्षुरसहैयंगवीनगोमहिषीक्षीरगन्धोदककलशस्नपनेन जलचन्दनाक्षतपुष्पचरुदीपधूपफलार्घदानेन स्तवनेन जपेन ध्यानेन श्रुतदेवताराधनेन नित्यं प्रातरुत्थाय सर्वज्ञवीतरागप्रतिमासर्वाङ्गावलोकने भक्तिं कुरु, तथा श्रुतभक्तिं श्रुतोक्तप्रकारेण कुरु, तथा गुरूणां पादमर्दनेन वैयावृत्त्ययथासंभवाहारदानश्रुतसमर्पणौषधप्रदानवस्त्रार्पणाभयदानादिभिर्यथायोग्यं भक्तिं कुरु । एतत्सर्वं भक्तिलक्षणं कर्म जिनाज्ञया महापुराणश्रवणेन त्व कुरु हे जीव ! स्वर्गं मोक्षं च प्राप्स्यसि । लौंकानां महापातकिनां वचनं मा मानयस्व ।

तित्थयरभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।
भावहि अणुदिणु अतुलं विसुद्धभावेण सुयणाणं ॥९०॥

तीर्थंकरभाषितार्थं गणधरदेवै ग्रन्थितं सम्यक् ।
भावय अनुदिनं अतुलं विशुद्धभावेन श्रुतज्ञानम् ॥

तित्थयरभासियत्थं तीर्थंकरेण श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागेण भाषितः कथितोऽर्थो यस्य श्रुतज्ञानस्य तत्तीर्थंकरभाषितार्थं । गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं गणधरदेवैर्गौतमस्वाम्यादिभिर्ग्रन्थितं द्वादशाधिकशतकोटित्र्यशीतिलक्षाष्टापंचाशत्सहस्रपंचाधिकपदैरानीतमिति ग्रन्थितं । चतुर्दशप्रकीर्णकैरप्यानीतं श्रुतज्ञानं । सम्मं सम्यक्प्रकारेण पूर्वापरविरोधरहितं । भावहि भावय । अणुदिणु अनुदिनमहर्निशं । अतुलं अनुपम । विसुद्धभावेण सुयणाणं चलमलिनपरिणामरहिततया। एकस्य पदस्य श्लोका यथा–५१०८८४६२१ अक्षर १६ । उक्तं च श्रुतस्कन्धशास्त्रे—

एकावनकोडीओ लक्खा अट्ठेव सहस्सचुलसीदी ।
सयछक्कं णायव्वं सड्ढाइगवीसपयगंथा ॥ १ ॥

पाऊण णाणसलिलं निम्महतिसडाहसोसउम्मुका ।
होंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा ॥९१॥

प्राप्य ज्ञानसलिलं निर्मथ्यतृषादाहशोषोन्मुक्ताः ।
भवन्ति शिवालयवासिन: त्रिभुवनचूडामणयः सिद्धाः ॥

पाऊण णाणसलिलं प्राप्य लब्ध्वा, किं[1] ज्ञानसलिलं सम्यग्ज्ञानपानीयं सिद्धा भवन्तीति सम्बन्धः । कथंभूताः सिद्धाः, निम्महतिसडाहसोसउम्मुक्का निर्मथ्या मथयितुमशक्या स चासौ तृषा विषयाभिलाषः दाहश्च शरीरपरिसन्तापः शोषश्च रसादिहानिः निर्मथ्यतृषादाहशोषाः तैः-

1 एकपंचाशत्कोट्यः लक्षा अष्टावेव सहस्रचतुरशीतिः ।
शतषट्कं ज्ञातव्यं सार्धैकविंशतिपदग्रन्थाः ॥ १ ॥

न्मुक्ताः परित्यक्ता निर्मथतृड्दाहशोषोन्मुक्ताः । **णिम्मलसुविसुद्धभावसंजुत्ता** इति च क्वचित्पाठः तत्रायमर्थः–निर्मलो द्रव्यकर्मभावकर्मनोकर्मरहितः योऽसौ सुविशुद्धभावः कर्ममलकलङ्करहितः क्षायिको भावः परिणामः निष्केवल आत्मा वा तेन संयुक्ताः सहिता निर्मलसुविशुद्धभावसंयुक्ताः । **होंति सिवालयवासी** भवन्ति संजायन्ते, के ते? आसन्नभव्यजीवाः, कीदृशाः संजायन्ते? शिवालयवासिन ईषत्प्राग्भारनाम्न्यां शिलायां वसन्तीति मुक्तिशिलोपरि तिष्ठन्तीत्येवं शीलाः शिवालयवासिनः, अथवा शिवानां सिद्धानामालयः शिवालयः पंचचत्वारिंशल्लक्षयोजनविस्तारमुक्तिशिलाया उपरि तनुवातनामवातवलये निराधारा आकाशे तिष्ठन्तीतिभावः । पुनः कथंभूताः सिद्धाः, **तिहुवणचूडामणी** त्रैलोक्यशिरोरत्नसदृशाः ।

दस दस दो सुपरीसह सहहि मुणी सयलकाल काएण ।
सुत्तेण अप्पमत्ता संजमघादं पमोत्तूण ॥ ९२ ॥

दश दश द्वौ सुपरीषहान् सहस्व मुने ! सकलकालं कायेन ।
सूत्रेण अप्रमत्तः संयमघातं प्रमुच्य ॥

दस दस दो दश च पुनर्दश च द्वौ च द्वाविंशतिरित्यर्थः । के ते, सुपरीसह सुष्ठु अतिशयेन परिसमन्तात् सहन्ते ये ते सुपरीषहाः "मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः" ते तु पूर्वोक्तवर्णना ज्ञातव्याः । सहहि सहस्व । मुणी हे मुने ! हंहो तपस्विन् ! । सयलकाल सकलकालं सर्वकाले, काएण–शरीरेण वाग्मनसात्मनि स्थाप्यते इति भावः । सुत्तेण सूत्रेण जिनवचनेन कृत्वा । किं तज्जिनवचनं ?—

१ न केवल टी. ग. । २ क. टी. । ३ दस दस दो सुपरीसह सहंति. ग. ।
४ हृते. क. ।

"मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः"

इति । अप्पमत्ता अप्रमत्ताः प्रमादरहिताः इत्यर्थः । संजमघादं **पमोत्तूण** सयमस्य घातं प्रमुच्य ।

> जह पत्थरो ण भिज्जइ परिट्ठिओ दीहकालमुदएण ।
> तह साहू ण विभिज्जइ उवसग्गपरीसहेहिंतो ॥ ९३ ॥
>
> यथा प्रस्तरो न भिद्यते परिस्थितो दीर्घकालं उदकेन ।
> तथा साधुर्न विभिद्यते उपसर्गपरीषहेभ्यः ॥

जह पत्थरो ण भिज्जइ यथा प्रस्तरः पाषाणो न विभिद्यते न परिणमति अन्तरार्द्रो न भवति । **परिट्ठिओ दीहकालमुदएण** पापण. कथंभूतः, परिस्थितः क्षुडिन उदके इति सौत्रसम्बन्धात् । कथं परिस्थितः, दीर्घकालं प्रचुरकालं, केन न विभिद्यते ? उदकेन वारिणा । **तह साहू ण विभिज्जइ** तथा साधुर्मुनी रत्नत्रयसाधक सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमण्डितो न विभिद्यते नान्तःक्षुभितो भवति । **उवसग्गपरीसहेहिंतो** देवमानवतिर्यगचेतनोपद्रवेभ्य उपसर्गेभ्यः परीषहेभ्यः क्षुधापिपासादिभ्यो द्वाविंशतेरपि । "भ्यसो हिन्तो हि दु दो त्तो भ्यसः" इति प्राकृतव्याकरणसूत्रेण पंचमीबहुवचनभ्यसः स्थाने हिंतो आदेशः । ङसिस्थाने च "तुक्च हिंतो हि दु दो त्तो ङसेः" इति सूत्रेण भवति । "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणं" इति परिभाषयाऽत्र बहुवचनस्य भ्यसो हिन्तो आदेशो ज्ञातव्य इति ।

> भावहि अणुवेक्खाओ अवरे पणवीसभावणा भावि ।
> भावरहिएण किं पुण बाहिरलिंगेण कायव्वं ॥ ९४ ॥

---

१ "धीवृगहोऽकेऽसो" इति शाकटायनीयेन "सोऽः" इति जैनेन्द्रीयेण पाणिनीयेन च सूत्रेण षत्वनिषेधः ।

भावय अनुप्रेक्षा अपराः पञ्चविंशतिभावना भावय ।
भावरहितेन किं पुनः बहिर्लिङ्गेन कार्यम् ॥

भावहि अणुवेक्खाओ भावय पुनः पुनश्चिन्तय अनुप्रेक्षा अनित्यादीः । अवरे पणवीसभावणा भावि अपराः पंचविंशतिभावना भावय । भावरहिएण किं पुण भावरहितेन पुनः किं—न किमपि इत्याक्षेपः । बाहिरलिंगेण कायव्वं बहिर्लिंगेन नग्नवेषेण किं साध्यं कर्मक्षयशून्यमिदं ।

सव्वविरओ वि भावहि णवयपयत्थाइं सत्ततच्चाइं ।
जीवसमासाइं मुणी चउदसगुणठाणणामाइं ॥ ९५ ॥

सर्वविरतोपि भावय नवकपदार्थान् सप्ततत्वानि ।
जीवसमासान् मुने ! चतुर्दशगुणस्थाननामानि ॥

सव्वविरओ वि भावहि सर्वविरतोऽपि हे जीव ! त्वं महाव्रत्यपि सन्[1] भावय । णवयपयत्थाइं सत्ततच्चाइं नवपदार्थान् जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षपुण्यपापपदार्थान् । चेतनालक्षणो जीवः । पुद्गलधर्माधर्मकालाकाशा अजीवाः । आत्मप्रदेशेषु कर्मपरमाणव आगच्छन्ति स आस्रवो मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगरूपः । आत्मप्रदेशेषु आस्रवानन्तरं द्वितीयसमये कर्मपरमाणवः श्लिष्यन्ति स बन्धः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदाच्चतुर्विधः । आस्रवस्य निरोधः संवर उच्यते । स संवरः से गुप्तिसमितिदशधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैर्भवति । तपसा निर्जरा च भवति संवरश्च भवति । सर्वकर्मक्षयो मोक्षः कथ्यते । एते नवपदार्थाः, एतेषां विस्तर आगमाद्वेदितव्यः । सप्ततत्वानि पुण्यपापरहितानि ज्ञातव्यानि ।

१ पुस्तकद्वयेऽपि सच्छब्दो वर्तते ।
२ पुस्तकद्वयेऽपि पुण्यपापयोर्लक्षणं नास्ति तदनेन प्रकारेण ज्ञेयं । पुनात्यात्मानं तत्पुण्यं । पाति रक्षति शुभादात्मानं तत्पापं ।

जीवसमासाइं मुणी हे मुने ! जीवसमासान् चतुर्दशसंख्यान् त्वं भावय। अथ के ते चतुर्दशजीवसमासा इति चेत्?—

> थादरसुहमेगिंदिय विनिचउरिंदिय असण्णि सण्णी य।
> पज्जत्त-पज्जत्ता भूदा इय चोद्दसा होंति ॥ १ ॥

विस्तरभेदैर्जीवसमासा अष्टानवतिर्भवन्ति। तत्रेयं गाथा–

> थावर बेयालीसा दो सुर दो नरय तिरिय चउतीसा।
> नव विउले नव मणुए अडणउदी जीवठाणाणि ॥ १ ॥

अस्या विवरणं—पृथ्वीकायिकसूक्ष्म बादर पर्याप्त-अपर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्त ६। तथा अप् ६। तेज ६। वायु ६। एवं २४। वनस्पतिकायिकभेद २ प्रत्येक-साधारण। साधारणभेद १२ नित्यनिगोद सूक्ष्म-बादर-पर्याप्त-अपर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्त ६ तथा इतरनिगोद-सूक्ष्म-बादर-पर्याप्त-अपर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्त ६ एवं १२। प्रत्येकभेद ६ सुप्रतिष्ठितप्रत्येक वाटिकादौ, अप्रतिष्ठिताः स्वयमेव ते च पर्याप्त-अपर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्त। एवं थावरबेयालीसा। सुरभेद २ पर्याप्त—अपर्याप्त। नारकभेद २ पर्याप्त—अपर्याप्त। पंचेन्द्रियतिर्यग्भेद ३४। जलचरभेद २ गर्भज-सम्मूर्च्छन। गर्भजभेद २ पर्याप्त—अपर्याप्त। सम्मूर्च्छनभेद पर्याप्त—अपर्याप्त—लब्ध्यपर्याप्त ५। तथा नभश्चर ५। स्थलचर ५। एवं १५ संज्ञिभेदाः। तथा १५ असंज्ञिभेदा। भोगभूमिजतिर्यग्भेद ४ जलचर पर्याप्त—अपर्याप्त। नभश्चर पर्याप्त—अपर्याप्त। एवं ४। एवं पंचेन्द्रियतिर्यग्भेद ३४। विकलत्रयभेद ९। द्वीन्द्रियपर्याप्त-अपर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्त, त्रीन्द्रियपर्याप्त-अपर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्त, चतुरिन्द्रियपर्याप्त-अपर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्त। एव ९। मनुष्य

१ बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिन.।
पर्याप्तापर्याप्ता भूता इति चतुर्दश भवन्ति ॥ १ ॥

२ विवरणमिदं पुस्तकानुसारि।

भेद ९. भोगभूमितिर्यग्भेद २ पर्याप्त-अपर्याप्त, कुभोगभूमिजमनुष्य पर्याप्त-अपर्याप्त, म्लेच्छखण्डजमनुष्य पर्याप्त-अपर्याप्त, आर्यखण्डजमनुष्य पर्याप्त-अपर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्त । एवं भेद ९ । एवं जीवसमासा अष्टानवतिः ।

चउदसगुणठाणाणाइं चतुर्दशगुणस्थानानि । यथा—

मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य ।
विरदा पमत्त इयरो अपुव्व अणियट्टि सुहमो य ॥ १ ॥
उवसंत खीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य ।
चउदसगुणठाणाणि य कमेण सिद्धा मुणेयव्वा ॥ २ ॥

मिथ्यात्वगुणस्थानं (१) सासादनगुणस्थानं (२) मिश्रगुणस्थानं (३) अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानं (४) देशविरतगुणस्थानं (५) प्रमत्तसंयतगुणस्थानं (६) अप्रमत्तसंयतगुणस्थानं (७) अपूर्वकरणगुणस्थानं (८) अनिवृत्तिकरणगुणस्थानं (९) सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानं (१०) उपशान्तकषायगुणस्थानं (११) क्षीणकषायगुणस्थानं (१२) सयोगकेवलिगुणस्थानं (१३) अयोगकेवलिगुणस्थानं (१४) चेति । चतुर्दशगुणस्थानानां विवरणमागमाद्वेदितव्यं । तानि त्वं हे जीव ! भावय-रुचिमानय-श्रद्धानं कुर्विति ।

णवविहबंभं पयडहि अब्बंभं दसविहं पमोत्तूण ।
मेहुणसण्णासत्तो भमिओसि भवण्णवे भीमे ॥ ९६ ॥

नवविधब्रह्मचर्यं प्रकटय अब्रह्म दशविधं प्रमुच्य ।
मैथुनसंज्ञासक्तः भ्रमितोऽसि भवार्णवे भीमे ॥

णवविहबंभं पयडहि नवविधं ब्रह्मचर्यं प्रकटय हे जीव ! त्वं प्रकटं सर्वलोकप्रत्यक्षं कुरु । मनोवचनकायानां प्रत्येकं कृतकारितानुमतानि त्रीणि त्रीणीति नवविधं लभ्यते । तद्यथा—

---

१ अस्याः छाया एवं यथा ।

इत्थिविसयाहिलासो अंगविमोक्खो य पणिदरससेवा।
संसत्तदव्वसेवा तदिंदियालोयणं चेव ॥ १ ॥
सक्कारपुरक्कारो अतीदसुमरणमणागदहिलासो।
इट्ठविसयसेवा वि य णवभेदमिदं अबंभं तु ॥ २ ॥

इति नवभेदमब्रह्म तद्वर्जनं नवभेदं ब्रह्मचर्यं ज्ञातव्यमित्यर्थः। **अबंभं दसविहं पमोत्तूण** अब्रह्मचर्यं दशविधं प्रमुच्य परिहृत्य। किं तद्दशविधमब्रह्मेति चेत् ?—

चिन्ता दिदृक्षा निःश्वासो ज्वरो दाहो रुचिस्तथा।
मूर्च्छोन्मत्तोऽसुसन्देहो मरणं दशधा स्मरः ॥ १ ॥

मेहुणसण्णासत्तो मैथुनस्य कमनीयकामिन्या आलिङ्गनचुम्बनचूषणादिसंज्ञायामासक्तो लंपटो हे जीव !। **भमिओसि भवण्णवे भीमे** भ्रमितोऽसि भ्रान्तोऽसि पर्यटितोऽसि छेदनभेदनादिदुःखानि भुंजानो भवार्णवे संसारसमुद्रे चतुर्गतिलक्षणे भीमे भयानके रौद्रस्वभावे, अनन्तकालं दुःखी बभूविथेति।

भावसहिदो य मुणिणो पावइ आराहणाचउक्कं च।
भावरहिदो य मुणिवर भमइ चिरं दीहसंसारे ॥ ९७ ॥

भावसहितश्च मुनीनः प्राप्नोति आराधनाचतुष्कं च।
भावरहितश्च मुनिवर ! भ्रमति चिरं दीर्घसंसारे ॥

भावसहिदो य मुणिणो भावेन जिनसम्यक्त्वलक्षणेन सहितः सहितः संहितः संयुक्तः श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागचरणकमलचञ्चरीकः, अथवा भावः पूर्वोक्तलक्षणः स्व· शुद्धबुद्धैकस्वभाव आत्मा हितो यस्य

1 स्त्रीविषयाभिलाषः अंगविमोक्षश्च प्रणीतरससेवा।
संसक्तद्रव्यसेवा तदिन्द्रियालोकनं चैव ॥ १ ॥
सत्कारपुरस्कारः अतीतस्मरणं अनागताभिलाषः।
इष्टविषयसेवापि च नवभेदमिदमब्रह्म तु ॥ २ ॥

यस्मै वा स भावस(स्व)हितः। चकारान्न मुनिरन्येषामपि भव्यजीवानां हितः त्रैलोक्यलोकतारणसमर्थत्वात्। यो भावसहितः स पुमान् मुणिणो—मुनीनामिनः स्वामी मुनीनः स मुनिर्मुनिचक्रवर्ती। पावइ आराहणाचउक्कं च प्राप्नोति लभते, किं तत्? आराधनाचतुष्कं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपसामाराधकत्वं प्राप्नोति। भावरहिदो य मुणिवर भावरहितश्च जिनसम्यक्त्वातीतो वेषधारी मुनिः हे मुनिवर! हे मुनिश्रेष्ठ!। भमइ भ्राम्यति पर्यटति। चिरं दीर्घकालं अनन्तकालं—यावत्कालं सिद्धस्वामिनो मुक्तौ तिष्ठन्ति तावत्पर्यन्तं स मिथ्यादृष्टिर्मुनिर्भ्रमति। क? दीहसंसारे दीर्घसंसारेऽनन्तभवसंकटे संसारसमुद्रे मज्जनोमज्जनं करोतीति भावार्थः।

पावंति भावसवणा कल्लाणपरंपराइं सोक्खाइं।
दुक्खाइं दव्वसवणा णरतिरियकुदेवजोणीए ॥९८॥
प्राप्नुवन्ति भावश्रवणाः कल्याणपरम्पराणि सुखानि।
दुःखानि द्रव्यश्रवणा नरतिर्यक्कुदेवयोनौ ॥

पावंति भावसवणा प्राप्नुवन्ति लभन्ते, के ते? भावश्रवणाः सम्यग्दृष्टयो दिगम्बराः। कल्लाणपरंपराइं सोक्खाइं कल्याणानां गर्भावतारजन्माभिषेकनिष्क्रमणज्ञाननिर्वाणलक्षणा (नां) परंपरा श्रेणिर्येषु सौख्येषु तानि कल्याणपरंपराणि एवंविधानि सौख्यानि भावश्रवणाः प्राप्नुवन्ति तीर्थंकरपरमदेवा भवन्ति। दुक्खाइं दव्वसवणा दुःखानि प्राप्नुवन्ति, के ते? दव्वसवणा—द्रव्यश्रवणा जिनसम्यक्त्वरहिता नग्नाः पशुसमानाः दिगम्बरा इति भावार्थः। क दुःखानि द्रव्यश्रवणाः प्राप्नुवन्तीति चेत्? णरतिरियकुदेवजोणीए नराश्च मनुष्याः, तिर्यञ्चश्च पशवः, कुत्सिता देवाश्च भावनामरा व्यन्तरा ज्योतिष्काश्च तेषां योनौ उत्पत्तिस्थाने।

१ चकारात् न पुनर० इत्यादि. ग. पाठः। पुस्तकद्वयेऽपि नकारो वर्तते स च शस्यते।

छायालदोसदूसियमसणं गसिउं असुद्धभावेण।
पत्तोसि महावसणं तिरियगईए अणप्पवसो ॥ ९९॥

षट्चत्वारिंशद्दोषदूषितमशनं ग्रसित्वाऽशुद्धभावेन।
प्राप्तोसि महाव्यसनं तिर्यग्गतौ अनात्मवशः ॥

छायालदोसदूसियं षट्चत्वारिंशद्दोषैर्दूषितं मलिनीकृतं। **असणं गसिउं असुद्धभावेण** अशनं पिण्डं ग्रसित्वा अशुद्धभावेन मिथ्यादृष्टि परिणामेन ख्यातिपूजालाभकस्मलिना परिणामेन। **पत्तोसि महावसणं** प्राप्तोऽसि हे जीव! महाव्यसनं महादुःखं। कस्यां? **तिरियगईए अणप्पवसो** तिर्यग्गत्यामनात्मवशो जिह्वोपस्थादिषडिन्द्रियपराधीन इति भावः।

अथ के ते षट्चत्वारिंशदशनदोषा अशनस्येति चेत्? षोडशसंख्या उद्गमदोषाः, तथा षोडशोत्पादनदोषाः, दशविधा एषणादोषाः, संयोजनाप्रमाणाङ्गारधूमदोषाश्चत्वार इति षट्चत्वारिंशदशनदोषाः। प्राणिनः प्राणव्यपरोप आरम्भ उच्यते (१) प्राणिन उपद्रवणं उपद्रवः कथ्यते (२) प्राणिनोऽङ्गच्छेदादिर्विद्रावणमभिधीयते (३) प्राणिनः सन्तापकरणं परितापनं व्याह्रियते (४) एतैश्चतुर्भिर्दोषैर्निष्पन्नमन्नमतिनिन्दितमधःकर्म प्रतिपाद्यते। तदधःकर्म मनोवचनकायानां त्रयाणां प्रत्येकं कृतकारितानुमतभेदैर्नवविधं भवति। तेनाधःकर्मणा रहिता उद्गमाख्यषोडशदोषैर्वर्जिता उत्पादनषोडशदोषैः परित्यक्ता एषणादशदोषैः परिहृता संयोजनप्रमाणाङ्गारधूमनामभिश्चतुर्भिर्दोषैरुज्झिता ज्ञानाभ्यासध्यानधर्मोपदेशमोक्षप्राप्त्यादिकारणोपेता एषणासमितिप्रोक्तक्रमप्राप्ताशनसेवा भिक्षाशुद्धिर्गुणसमूहरक्षादक्षा वेदितव्या। तस्यां उद्दिष्टादयः षोडशदोषा वर्जनीया.। ते के? तन्नामनिर्देशः

क्रियते । उद्दिष्टः (१) अध्यवधिः (२) पूति (३) मिश्रं (४) स्थापितं (५) बलिः (६) प्राभृतं (७) प्राविष्कृतं (८) क्रीतं (९) प्रामृष्यः (१०) परिवर्त्तः (११) अभिहृतं (१२) उद्भिन्नं (१३) मालिकारोहणं (१४) आच्छेद्यं (१५) अनिसृष्टं (१६) चेति षोडशोद्गमदोषाः । अथोद्दिष्टादीनां षोडशानामर्थविशेष उच्यते— यदन्नं स्वनुद्दिश्य निष्पन्नं तदुद्दिष्टं, अथवा संयतानुद्दिश्य निष्पन्नं, अथवा पाखंडिन उद्दिश्य निष्पन्नं, अथवा दुर्बलानुद्दिश्य निष्पन्नं तदन्नमुद्दिष्टमुच्यते । प्रगता असवः प्राणा यस्मात्तत्प्रासुकं चर्मजलादिभिरस्पृष्टमप्यन्नमात्मार्थं कृतं तत्संयतैर्न सेव्यं । अत्र दृष्टान्तः—यथा मदनोदके मत्स्यनिमित्तं कृते मत्स्या एव मायान्ति न तु दुर्दुरा भेका मायान्ति तथा यतिरपि दोषसहितमन्नमुद्दिष्टं न सेवते (१) अथाध्यवधिर्नाम दोषो द्वितीय उच्यते यतीनां—पाके क्रियमाणे आत्मन्यागते च सति तत्र पाके तन्दुला अम्बु वाधिकं क्षिप्यते सोऽध्यवधिर्दोष उच्यते, अथवा यावत्कालं पाको न भवति तावत्कालं तपस्विनां रोधः क्रियते सोऽध्यवधिर्दोष उत्पद्यते (२) अथ पूतिनाम तृतीयं दोषमाह— यदप्रासुकं पात्रं कांस्यपात्रादिकं मिथ्यादृष्टिप्रातिवेशैर्मिथ्यागुर्वर्थं दत्तं तत्पात्रस्थमन्नादिकं महामुनीनामयोग्यं पूत्युच्यते (३) यदप्रासुकेन मिश्रं तन्मिश्रं (४) पाकभाजनाद्गृहीत्वा यदन्नं स्वगृहेऽन्यगृहे वा स्थापितं, अथवान्यस्मिन् भाजने भाण्डेऽन्नादिकं निष्पन्नं द्वितीये कांस्यपात्रादौ क्षिप्त्वा शोधनार्थं तृतीये भाजने मुच्यते तदन्नं मुनीनामयोग्यं किन्तु भाण्डान्मुनिभोजनपात्रे एव मुच्यते तस्माद्गृहीत्वा मुनये दीयते, अन्यथा स्थापितं नाम दोषः (५) यक्षादीनां बलिदानोद्धृतं अन्नं बलिरुच्यते, अथवा संयतागमनार्थं बलिकरणं बलिः कथ्यते (६) अस्यां वेलायां दास्यामि, अस्मिन् दिवसे दास्यामि, अस्मिन् मासे

दास्यामि, अस्यामृतौ दास्यामि, अस्मिन् वर्षादौ दास्यामीति नियमेन यद्दत्तं मुनिभ्यो दीयते तत्प्राभृतं कथ्यते (७) भगवन्निदं मदीयं गृहं वर्तते यतो गृहप्रकाशकरणं भवति निजगृहस्य गृहिणा प्रकटनं क्रियते, अथवा भाजनादीनां संस्कारः भाजनादीनां स्थानान्तरणं वा प्रादुष्कर-मुच्यते (८) विपया क्रीतं द्रव्यपात्रभाजनादिना वा यत्क्रीतं तत्क्रीतं कथ्यते (९) कालान्तरेणाव्याजेन वा स्तोकमृणं कृत्वा यतीनां दानार्थं यदानीतं तत्प्रामृष्यं उच्यते (१०) कस्यचिद्गृहस्थस्य व्रीहीन् दत्त्वा शाल्यो गृह्यन्ते, अथवा निजं कूरं दत्त्वा परकूरं गृह्यते निजाम्भूपान् दत्त्वा घोलामनुपा गृह्यन्ते एवं यत्परिवर्त्यते यतिभ्यो दीयते दास्यते वा स परिवर्त कथ्यते (११) ग्रामात् पाटकात् गृहान्तरादानीतं तद-भिहितं कथ्यते तद्योग्यं न भवति। कुतोऽप्यानीतं योग्यं भवतीति चेत्? भवति योग्यं यदि ऋजुना आगत्वा सप्तमाद्गृहादानीतं तद्योग्यं। पंक्तिस्थितात् सप्तमाद्गृहादानीतं तत्कल्पते सप्तमाद्गृहात् परतो गृहीतं तन्न कल्पते इत्यर्थः (१२) निमुद्रादिकं वस्त्रादिकं भवति तदुद्भिन्न-मुच्यते उद्घाटितं न गृह्यते इत्यर्थः (१३) मालिकादिसमारोहणेन यदानीतं तन्मालारोहणमुच्यते—उपरितनभूमेर्द्रव्यादिकमधस्तनभूमौ समानीय तत्र कल्पते इत्यर्थः (१४) राजामात्यादिभयादानीतं तदा-च्छेद्यमुच्यते (१५) दानादानानभिमतेन स्वामिनमनिच्छतानिमतेन यदी-यते तदनिसृष्टं कथ्यते (१६) इत्येवं षोडशोद्गमदोषा भवन्ति।

उत्पादनदोषाः षोडश उच्यन्ते—तन्नामनिर्देशो यथा। धात्रीति (१) दूतं (२) निमित्तमुखः (३) निमित्तं (४) इच्छाविभाषणं (५) पूर्वस्तुति (६) पश्चात्स्तुति (७) [illegible] (८ ९ १०– ११) वशीकरणं (१२) [illegible] (१३) [illegible] (१४) [illegible] (१५) पूर्वकीर्तन (१६) [illegible]

धात्रीत्वं (१) दूरदेशभुक्तानां वचनानां नयनमानयनं च दूतत्वं (२) गजचिकित्सा विषचिकित्सा आयुर्वेदनामा बालचिकित्सा गात्रशान्तिचिकित्साभिरन्नार्जनं भिषग्वृत्तिः (३) स्वरान्तरिक्षभौमाङ्गव्यञ्जनच्छिन्नस्वप्नलक्षणाष्टाङ्गनिमित्तैरन्नार्जनं निमित्तं (४) कश्चित्पृच्छति हे मुने ! दीनानाथानामन्नादिदानेन पुण्यं भवेन्न वा भवेत् ! मुनिस्तदर्थं वदति पुण्यं भवेदेवेत्यभ्युपगम इत्यादिभाषणमुच्यते (५) अहो जिनदत्त ! त्वं जगति विख्यातो दाता वर्तसे इत्यादिभिर्वचनैर्गृहस्थस्यानन्दजननं भुक्तेः पूर्वं तत्पूर्वस्तवनं (६) एवं भुक्तेः पश्चात् स्तवनविधानं पश्चात्स्तुतिः (७) क्रोधं कृत्वाऽन्नोपार्जनं क्रोधः (८) मानेनान्नार्जनं मानः (९) माययाऽन्नार्जनं माया (१०) लोभेनान्नार्जनं लोभः (११) वशीकरणमंत्रतंत्राद्युपदेशेन वस्त्रोपार्जनं तद्वश्यकर्म (१२) स्ववंशतपःश्रुतजातिकुलादिवर्णनं स्वगुणस्तवनं (१३) सिद्धविद्यासाधितविद्यादीनां प्रदर्शनं विद्योपजीवनं (१४) अङ्गमृङ्गारकारिणः पुरुषस्य पाठसिद्धादिमंत्राणामुपदेशनं मंत्रोपजीवनं (१५) एवं चूर्णादिप्रदेशनं चूर्णोपजीवनं (१६) एते षोडशोत्पादनदोषा वेदितव्याः ।

अथैषणादशदोषा कथ्यन्ते । तेषामयं नामनिर्देशः । शंकितं (१) म्रक्षितं (२) निक्षिप्तं (३) पिहितं (४) उज्झितं (५) व्यवहारः (६) दातृ (७) मिश्रं (८) अपक्वं (९) लिप्तं (१०) चेति । एतदन्नं सेव्यमसेव्यं वेति शंकितं (१) सस्नेहहस्तपात्रादिना यद्दत्तं तन्म्रक्षितं (२) सचित्तपद्मपत्रादौ यत्क्षिप्तं तन्निक्षिप्तं (३) सचित्तेन पद्मपत्रादिना यत्पिहितं तदन्नं पिहितं (४) यच्चूतफलादिकं बहु त्यक्त्वाल्पसेवनं तदुज्झितं,अथवा दुग्धपानादिकं दीयमानं बहुतरेण गलनेनाल्पसेवनं तदुज्झितं (५) यतीनां संभ्रमादादरतया चेलपात्रादेरसमीक्ष्याकर्षणं व

१ पैल० क० ।

आगमे व्यवहार उच्यते (६) दातृदोषाः कथ्यन्ते–निर्वस्त्रः शौण्डः पिशाचः अन्धः पतितः मृतकानुगः तीव्ररोगी व्रणी लिङ्गी नीचस्थानस्थितः उच्चस्थानस्थित आसन्नगर्भिणी कोऽर्थः ? निकटजनितापत्या वेश्या दासी काण्डपटादिनान्तरिता अशुचिः किमपि भक्षयन्ती इत्यादयो दोषा दातृणां ज्ञातव्याः (७) षड्जीवसम्मिश्रं मिश्रः (८) पावकादिद्रव्यैरपरिपक्व-पूर्वस्वकीयवर्णगन्धरसमपक्वं (९) लिप्तैर्दर्वीकरादैर्दीयमानमशनादिकं लिप्तं तथाऽप्रासुकजलमृत्तिकोल्मुकादिभिर्लिप्तैर्यद्दीयते तल्लिप्तं (१०)।

स्वादनिमित्त यत्संयोजनं शीते उष्णं उष्णे शीतमित्यादिमेलनं तदनेकरोगाणामसंयमस्य च कारणं ज्ञातव्यं (१) कुक्षेरर्धमशनेन पूरयेत् तृतीयमंशं कुक्षेः पानेन पूरयेत् कुक्षेश्चतुर्थमंशं वायोः सुखप्रचारार्थमवशेषयेत् रिक्तं रक्षेत् अस्मात्प्रमाणादतिरेकोऽधिकग्रहणं प्रमाणदोषः। प्रमाणातिक्रमेण किं भवति ? ध्यानभगः, अध्ययनविनाशः, अर्शुत्पत्तिः, निद्रोत्पत्तिः, आलस्यादिकं च स्यात् (२) इष्टान्नपानादिप्राप्तौ रागेण सेवनं अंगारदोषः (३) अनिष्टान्नपानादिप्राप्तौ द्वेषेण सेवा धूमदोषः (४)। अथ किमर्थमाहारो गृह्यते इति चेत् ? आहारग्रहणे मुनीनां गुणाः सन्ति। उक्तं च वीरनन्दिभट्टारकेण—

क्षुच्छान्त्यावश्यकप्राण-रक्षाधर्ममया मुनेः
वैयावृत्यं च षड्भुक्तेः कारणानीति सम्मतम् ॥ १ ॥
ततः शरीरसंवृद्ध्य तत्तेजोबलवृद्धये।
स्वादार्थमायुसंवृद्धये नैव भुंजीत संयतः ॥ २ ॥
महोपसर्गातङ्काङ्गसन्यासाद्विदयातपो–
ब्रह्मचर्याणि भिक्षोः षट्कारणान्यशनोज्झने ॥ ३ ॥
एतद्दोषविहीनान्नभुक्तेरन्तरकारिणः।
अन्तरायाः कियन्तोऽत्र कथ्यन्ते वर्जितामिमे ॥ ४ ॥

---

१ व्यवहार इति दोषनाम अन्यत्र।

कन्दं मूलं बीजं पुष्पं पत्रादि किंचित् सचित्तम्।
अशित्वा मानगर्वे भ्रमितोऽसि अनन्तसंसारे ॥

कंदं सूरणं लशुनं पलाण्डु क्षुद्रहन्मुस्तां शाद्रकं लपलमूलं शृङ्गवेरं आर्द्रवरवर्णिनी आर्द्रहरिद्रेत्यर्थः। **मूलं** हस्तिदन्तकं मूलकमित्यर्थः। नारंगकंटकं गाजरमित्यर्थ। **बीयं** चणकादिकं। **पुप्फं** पुष्पं सेवंत्रीपुष्पकरणबीजपूरपुष्पं। **पत्तादि** नागवल्लीदलं। **किंचि सचित्तं** किमपि ऐर्वोर्वादिकं। **असिऊण माणगव्वे** अशित्वा भक्षयित्वा मानेन मान्यतया गर्वे सति। **भमिओसि अणंतसंसारे** भ्रमितस्त्वं हे जीव! अनन्तसंसारे अपर्यन्तभवसंकटे इति भावः।

विणयं पंचपयारं पालहि मणवयणकायजोएण।
अविणयणरा सुविहियं तत्तो मुत्तिं न पावंति ॥ १०२ ॥

विनयं पंचप्रकारं पालय मनोवचनकाययोगेन।
अविनतनरा सुविहितां ततो मुक्तिं न प्राप्नुवन्ति ॥

विणयं पंचपयारं विनयं यथायोग्यं करयोटन-पादपतन-अभ्युत्थान-स्वागत-भाषणादिकं पंचप्रकारं ज्ञानस्य, दर्शनस्य, चारित्रस्य, तपसश्च विनयं विनीतत्व, उपचारलक्षणं पंचम विनयं। हे आत्मन्! हे मुने! हे जीव! हे आसन्नभव्य! सर्वोपकारिस्त्वं। **पालहि** प्रतिपालय कुर्विति। **मणवयणकायजोएण** मनोवचनकाययोगेन आत्मव्यापारेण। **अविणयणरा सुविहियं** अविनयनरा अविनतनरा वा सुविहिता तीर्थंकरनामकर्मपूर्वकबन्धविशिष्टां। **तत्तो मुत्तिं न पावंति** ततः कारणान्मुक्तिं सर्वकर्मक्षयलक्षणोपलक्षितां न प्राप्नुवन्ति नैव लभन्ते।

णियसत्तीए महाजस भत्तीराएण णिच्चकालम्मि।
तं कुण जिणभत्तिपरं विज्जावच्चं दसवियप्पं ॥ १०३ ॥

१ बालका।

निःशल्या महायशः ! भक्तिरागेण नित्यकाले।
त्वं कुरु जिनभक्तिपरं वैयावृत्त्यं दशविकल्पम् ॥

णियसत्तीए महाजस एकारस्योच्चारलघुत्वादत्र पादे द्वादशैव मात्रा वेदितव्याः। अन्यथा त्रयोदशमात्रासद्भावाद्गाथाछन्दोभंगः स्यात्।

तदुक्तं प्राकृतव्याकरणे—

"उच्चारल्लघुत्वमेदोतोर्व्यंजनस्थयोः"

निःशल्या हे महायशः !। भत्तीराएण णिच्चकालम्मि भक्तिरागेण नित्यकाले। तं कुण त्वं कुरु। जिणभत्तिपरं जिनभक्तौ परमुत्कृष्टं। विज्जावच्चं वैयावृत्त्यं। दसवियप्पं दशविकल्पं दशभेदं आचार्यादीनां पूर्वोक्तानाम्।

जं किंचि कयं दोसं मणवयकाएहिं असुहभावेणं।
तं गरहि गुरुसयासे गारव मायं च मोत्तूण ॥ १०४ ॥

यः कश्चित् कृतो दोषः मनवचनकायैः अशुभभावेन।
तं गर्ह गुरुसकाशे गारवं मायां च मुक्त्वा ॥

जं किंचि कयं दोसं यः कश्चित्कृतो दोषः व्रतादिष्वतीचारः। मणवयकाएहिं असुहभावेणं मनोवचनकायैरशुभभावेन रागद्वेषमोहादिदुष्परिणामेन। तं—दोषमतीचारादिकं, गर्ह-प्रकाशय। गुरुसयासे गुरुसकाशे गुरुपार्श्वे आचार्यस्याचार्यपादमूले। गारव मायं च मोत्तूण गारवं रसर्द्धिशब्दसातगर्वं मुक्त्वा, मायां च मुक्त्वा कपटं परिहृत्य। आलोचनादशदोषान् भगवत्याराधनाकथितान् विहाय। तदुक्तं—

आकंपिय अणुमाणिय, जं दिट्ठं बादरं च सुहमं च।
छण्णं सद्दाउलयं, बहुजणमव्वत्त तस्सेवी ॥ १ ॥

"तुमंतुमाणतूणाश्चतुष्कं क्त्वायाः"

१ इत्यनेन मोत्तूण इत्यत्र क्त्वायाः तूणादेशः।

दिक्खाकालाईयं भावहि अवियार दंसणविसुद्धो ।
उत्तमबोहिनिमित्तं असारसाराइं मुणिऊण ॥ १०८ ॥

दीक्षाकालादीयं भावय अविचार ! दर्शनविशुद्धः ।
उत्तमबोधिनिमित्तं असारसाराणि ज्ञात्वा ॥

दिक्खाकालाईयं दीक्षाकाले खलु जीवस्य परमवैराग्यं भवति, दीक्षाकाल आदिर्यस्य रोगोत्पत्तिप्रभृतिकालस्य स दीक्षाकालादिः दीक्षाकालादौ भवो दीक्षाकालादीयो भावस्तं दीक्षाकालादीयं निजपरिणामविशेषं हे जीव आत्मन् ! हे चैतन्य ! हे मुने ! त्वं । भावहि—भावय तं परिणामं त्वं स्मर । यदहमद्यप्रभृति वनितामुखं न पश्यामि, वनितासु रक्तोऽहमनादिकाले संसारे पर्यटतोऽवाञ्छितमेव दुःखं प्राप्तः अहर्निशमाकाङ्क्षन्नपि सुखलेशं न लब्धवान् । तदुक्तं—

अजाकृपाणीयमनुष्ठितं त्वया
विकल्पमूढेन भवादितः पुरा ।
यदत्र किंचित्सुखलेशमाप्यते
तदार्य [1] विद्ध्यन्धकवर्तकीयकम् ॥ १ ॥

अन्यच्च—

संसारे नरकादिषु स्मृतिपथेऽप्युद्वेगकारीण्यलं
दुःखानि प्रतिसेवितानि भवता तान्येवमेवासताम् ।
तत्तावत् स्मरसि स्मरस्मितशितापाङ्गैरनङ्गायुधै-
र्वामानां हिमदग्धमुग्धतरुवद्यत्प्राप्तवान्निर्धनः ॥ १ ॥

आतङ्कपापकदिगाः सरसावलेशा
स्वस्थे मनाङ्मनसि ते लघु विस्मरन्ति ।
तत्कालजातमतिविस्फुरितानि पश्चा-
च्छायाम्यथा यदि भवन्ति कुतोऽप्रियं ते ॥ १ ॥

१ तत्सम्मात्स्मरसम्मर इति पुस्तके पाठः ।

भावहि अवियार दंसणविसुद्धो: शीतकाले उष्णकाले वर्षाकाले रोगादिकाले च ये भावस्त्वया भाविता धर्मोऽश्रमणपरिणामास्तान् भावान् हे जीव ! सदाकालमपि त्वं भावय, हे अवियार—हे अविचार निर्विवेकजीव !। अथवा हे अविकार रागद्वेषमोहादिदुष्परिणामवर्जितजीव !। कथंभूतः सन् भावय, दंसणविसुद्धो—सम्यक्त्वकर्मोपशमशोभितनिर्मलहृदयः सन् भावय। अथवा अवियारदंसणविसुद्धो इत्येकमेव पदं। तत्रायमर्थः—अविकारं पंचविंशतिदोषरहितं यद्दर्शनं सम्यक्त्वरत्नं तेन विशुद्धोऽनन्तभवपापरहितः। किमर्थं भावय, उत्तमबोहिनिमित्तं उत्तमा गणधरचक्रधरकुलिशधरभव्यवरपुण्डरीकैः [1]प्रार्थ्यत्वात् उत्तमा चासौ बोधिः तन्निमित्तं उत्तमबोधिनिमित्तं। असारसाराइं मुणिऊण असाराणि साराणि च मुनित्वा ज्ञात्वा। उक्तं च—

[1]अथिरेण थिरा[2]मलिणेण णिम्मला णिग्गुणेण गुणसारा।
कायण जा विढप्पइ सा किरिया किं न कायव्वा॥ १॥

अनालोचितं असारं, आलोचितं सारं। परनिन्दा असारं, निजनिन्दा सारं। आत्मदोषाणां गुरोरग्रेऽप्रकथनं असारं, गुर्वग्रे निजदोषकथनं सारं। अप्रतिक्रमणं असारं, प्रतिक्रमणं सारं। विराधनं असारं, आराधनं सारं। अज्ञानं असारं, सम्यग्ज्ञानं सारं। मिथ्यादर्शनं असारं, सम्यग्दर्शनं सारं। कुचरित्रं असारं, सचरित्रं सारं। कुतपः असारं, सुतपः सारं। अकृत्यं असारं, कृत्यं सारं। प्राणातिपातोऽसारं, अभयदानं सारं। मृषावादोऽसारः, सत्यं सारं। अदत्तादानं असारं, दत्तं कल्प्यं च सारं। मैथुनं असारं, ब्रह्मचर्यं सारं। परिग्रहोऽसारं,

---

१ अस्थिरेण स्थिरमनसा निर्मला निर्गुणेन गुणसारा।
कायेन या विधीयते सा क्रिया किं न कर्तव्या॥

२ थिरामलेण स.।

नैर्ग्रन्थ्यं सारं । रात्रिभोजनमसारं, दिवाभोजनमेकभक्तं प्रत्युत्पन्नं प्रासुकं सारं। आर्त्तरौद्रध्यानमसारं, धर्म्यं शुक्लध्यानं सारं। कृष्णनीलकापोतलेश्या असारं, तेजःपद्मशुक्ललेश्याः सारं। आरंभोऽसारं, अनारंभः सारं। असयमोऽसारं, संयमः सारं। सग्रन्थोऽसारं, निर्ग्रन्थः सारं। सचेलोऽसारं, निश्चेलः सारं। अलोचोऽसारं, लोचः सारं। स्नानं असारं, अस्नानं मलधारणं सारं। अभूमिशयनं असारं, भूमिशयनं सारं। दन्तधावनं असारं, अदन्तघर्षणं सारं। उपविश्य भोजनं असारं, ऊर्ध्वभोजनं सारं। भाजने भोजनं असारं, पाणिपात्रे भोजनं सारं। क्रोधोऽसारं, क्षमा सारं। मानोऽसारं, मार्दवं सारं। मायाऽसारं, आर्जवं सारं। लोभोऽसारं, सन्तोषः सारं। अतपोऽसारं, द्वादशविधं तपः सारं। मिथ्यात्वं असारं, सम्यक्त्वं सारं। अशीलं असारं, शीलं सारं। सशल्योऽसारं, निःशल्यः सारं। अविनयोऽसारं, विनयः सारं। अनाचारोऽसारं, आचारः सारं। उन्मार्गोऽसारं जिनमार्गः सारं। अक्षमा असारं, क्षमा सारं। अगुप्ति असारं, गुप्तिः सारं। अमुक्तिः असारं, मुक्तिः सारं। असमाधिः असारं, समाधिः सारं। ममत्वं असारं, निर्ममत्वं सारं। यद्भावितं तदसारं, यन्न भावितं तत्सारं। इति सारासाराणि ज्ञातव्यानि।

सेवहि चउविहलिंगं अब्भंतरलिंगसुद्धिमावण्णो।
बाहिरलिंगमकज्जं होइ फुडं भावरहियाणं ॥ १०९ ॥

सेवस्व चतुर्विधलिङ्गं अभ्यंतरलिङ्गशुद्धिमापन्न ।
बाह्यलिङ्गमकार्यं भवति स्फुटं भावरहितानां ॥

सेवहि चउविहलिंगं सेवस्व हे मुने! चतुर्विधं लिंगं शिरःकेशमुखश्मश्रुलोचोऽधःकेशरक्षणं चतुर्विधमिदं लिंग पिच्छकुण्डीद्वयग्रहः। **अब्भंतरलिंगसुद्धिमावण्णो** अभ्यन्तरलिंगं जिनसम्यक्त्वं

[illegible] शुद्धिमापन्नः प्राप्तः । बाहिरलिंगमकज्जं बहिर्लिङ्गं द्रव्यलिङ्गं वस्त्रादित्यागलक्षणमपि मोक्षकार्यं न भवति । होइ फुडं भावरहियाणं अकार्यं भवति स्फुटमिति निश्चयेन भावरहितानां जिनसम्य-क्त्वरहितानाम् ।

आहारभयपरिग्गहमेहुणसण्णाहि मोहिओसि तुमं ।
भमिओ संसारवणे अणाइकालं अणप्पवसो ॥ ११० ॥

आहारभयपरिग्रहमैथुनसंज्ञाभिः मोहितोऽसि त्वम् ।
भ्रमितः संसारवने अनादिकालमनात्मवशः ॥

आहारभयपरिग्गहमेहुणसण्णाहि मोहिओसि तुमं आहार-भयपरिग्रहमैथुनसंज्ञाभिर्मोहित आत्मस्वरूपात् प्रच्यावितः प्रच्युतः, असि-भवसि, त्वमेव हे जीव !। भमिओ संसारवणे भ्रान्तः पर्यटितोऽसि संसारवने नरकतिर्यक्कुमनुष्यकुदेवस्थगहने । अणाइकालं अनादि-कालं दीर्घकालं । अणप्पवसो अनात्मवशः, न आत्मा मनो वशो यस्य सोऽनात्मवशः विषयकषायान्यायवशीभूत इत्यर्थः ।

बाहिरसयणत्तावणतरुमूलाईणि उत्तरगुणाणि ।
पालहि भावविसुद्धो पूयालाहं णईहंतो ॥ १११ ॥

बहिःशयनातापनतरुमूलादीन् उत्तरगुणान् ।
पालय भावविशुद्धः पूजालाभं अनीहमानः ॥

बाहिरसयणत्तावणतरुमूलाईणि उत्तरगुणाणि बहिःशयनातप-नतरुमूलादीन् उत्तरगुणान् पालयेति सम्बन्धः । शीतकालेऽनावृतस्थाने स्थितिं कुरु । उष्णकाले आतपनयोगं धर । वर्षाकाले तरुमूले तिष्ठ । वृक्षपर्णोपरि पतित्वा यज्जलं यदुपरि पतति तस्य प्रासुकत्वाद्विराधनाऽ-प्कायिकानां जीवानां न भवति द्विगुणं वर्षाकष्टं च भवतीति कारणात् वर्षाकाले तरुमूलस्थितेरुपयोगः, अन्यथा कातरत्वप्रसक्तेः । एते त्रयोऽपि

योगा उत्तरगुणाः कथ्यन्ते । **पालहि भावविसुद्धो** (पालय भावविशुद्ध.) तत्वभावनानिर्मलमनाः सन्निति भावः । **पूयालाहं नईहंतो** पूजालाभख्यात्यादिकमनीहमानोऽनिच्छन्निति शेषः ।

भावहि पढमं तच्चं विदियं तदियं चउत्थपंचमयं ।
तियरणसुद्धो अप्पं अणाइणिहणं तिवग्गहरं ॥ ११२ ॥

भावय प्रथमं तत्वं द्वितीयं तृतीयं चतुर्थपञ्चमकम् ।
त्रिकरणशुद्ध आत्मानं अनादिनिधनं त्रिवर्गहरम् ॥

भावहि पढमं तच्चं भावय हे जीव ! त्वं श्रद्धेहि, किं तत् ? प्रथमं तत्वं जीवतत्वं । **विदियं** द्वितीय तत्वमजीवसंज्ञं पुद्गलधर्माधर्मकालाकाशलक्षणं । **तदियं** तृतीयं तत्व आस्रवनामधेयं । **चउत्थपंचमयं** चतुर्थं बन्धनामधेय, पंचमक तत्वं संवराभिधानं, निर्जरा षष्ठं तत्वं, मोक्षः सप्तमं तत्वं । **तियरणसुद्धो अप्पं** त्रिकरणशुद्धः सन्नात्मानं भावय, अल्प वा स्तोककालं अन्तर्मुहूर्तकालं । कथंभूतमात्मानं, **अणाइणिहणं** अनादिनिधनं आद्यन्तरहितं । **तिवग्गहरं** धर्मार्थकामवर्गत्रयवर्जितं सर्वकर्मक्षयलक्षणमोक्षसहितं निश्चयात् ।

जाव ण भावइ तच्चं जाव ण चिंतेइ चिंतणीयाइं ।
ताव ण पावइ जीवो जरमरणविवज्जियं ठाणं ॥११३॥

यावन्न भावयति तत्व यावन्न चिन्तयति चिन्तनीयानि ।
तावन्न प्राप्नोति जीवः जरामरणविवर्जितं स्थानम् ॥

जाव ण भावइ तच्चं यावत्काल न भावयति, किं ? तत्वं सप्तसंख्यं जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षलक्षणं, तन्मध्ये निजात्मतत्वं मोक्षकारणं अपरे जीवा शुद्धबुद्धैकस्वभावा निजात्मा च । अजीवतत्वं पुद्गलो धर्मोऽधर्म. काल आकाशश्च । तत्रैस्त्र्यागनितादिरूपः पुद्गलपर्यायो मोहोत्पादको

रागजनकः, शस्त्रविषकण्टकशत्रुप्रभृतिद्वेषकारकपुद्गलपर्यायः । सोऽप्यास्रवनिमित्तः कर्मबन्धकारणं शुद्ध आहारादिर्गृहीतः शुद्धध्यानाध्ययनकारणत्वात् संवरनिर्जराकारणत्वात् सोऽपि मोक्षप्रत्ययः, अशुद्ध आहारो गृहीतः चर्मादिस्पृष्टतया दुर्ध्यानोत्पादकत्वादास्रवबन्धकारणं । इत्यादि पुद्गलस्य हेयोपादेययुक्तितया विचारो ज्ञातव्यः । अथवा पुद्गलद्रव्यमेव जीवस्य बन्धकारणत्वाद्दुःखकारणं परमार्थतया हेय एव । धर्मस्तु नरकादिगतिसहायकारकत्वाद्धेयः स्वर्गमोक्षगतिकारकत्वादुपादेयः । अधर्मस्तु स्वर्गमोक्षस्थानादौ मुनीनां ध्यानाध्ययनादिकाले स्थितिहेतुत्वादुपादेयः । नरकनिकोतादिस्थितिकारणत्वे हेयः । कालस्तु स्वर्गमोक्षादौ वर्तनाप्रत्ययत्वादुपादेयः, नरकादिपर्यायवर्तनाकारणत्वाद्धेयः । आकाशः समवशरणस्वर्गमोक्षादाववकाशदायकगुणत्वादुपादेयः । नरकनिगोदादिस्थानावकाशादानदायकत्वाद्धेयः । निर्निदानशिशिष्टतीर्थंकरनामकर्मास्रव उपादेयो मोक्षहेतुत्वात् । नरकादिगर्तादिनिपातहेतुत्वादन्य आस्रवो हेयः । तीर्थंकरनामकर्महेतुश्चतुर्विधोऽपि बन्ध उपादेयः, संसारपर्यटनकारीतरो बन्धो हेयः । संवर उपादेयः । निर्जरा चोपादेया मुनीनां सम्बन्धिनी । मोक्षः सर्वथाप्युपादेयोऽनन्तज्ञानादिचतुष्टयकारणत्वादिति सप्ततत्त्वानि यावन्न भावयति । जाव ण चिंतेइ चिंतणीयाइं यावन्न चिन्तयति चिन्तनीयानि धर्म्यशुक्लध्यानानि अनुप्रेक्षादीनि च । ताव ण पावइ जीवो तावन्न प्राप्नोति जीव आत्मा । जरमरणविवज्जियं ठाणं जरामरणविवर्जितं स्थानं परमनिर्वाणपदमिति शेषः ।

पावं पयेइ असेसं पुण्णमसेसं च पयइ परिणामो ।
परिणामादो बंधो मुक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥ ११४

1 दवइ इति पाठान्तरं द्वितीयस्थाने ।

पापं पचति अशेषं पुण्यमशेषं च पचति परिणाम: ।
परिणामाद्बन्ध. मोक्षो जिनशासने दृष्टः ॥

पावं पयइ असेसं पापं पचति अशेषं, सर्वं पापं परिणामः पचति निर्जरयति निजात्मपरिणामो भावना निःशेषं पापं दूरीकरोति । उक्तं च—

नाममात्रकथया परात्मनो भूरिजन्मकृतपापसंक्षयः ।
बोधवृत्तरुचयस्तु तद्गताः कुर्वते हि जगतां पतिं नरम् ॥ १ ॥

पुण्णमसेसं च पयइ परिणामो पुण्यं अशेषं सर्वं च सर्वमपि पचति विस्तारयति मेलयति, कोऽसौ ? परिणामः निजशुद्धबुद्धैकस्वभावात्मभावना जिनसम्यक्त्वं च । तथा चोक्तं—

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम् ।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिन ॥ १ ॥

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्रलक्षणं तीर्थंकरनामकर्मसाधारणपुण्यं परिणामेनैवोपार्ज्यत इत्यर्थः । तथा चोक्तं—

परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोर्निपुणाः ।
तस्मात्पुण्योपचयः पापापचयश्च सुविधेयः ॥ १ ॥

तथा च समयसारः—

आत्मकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥ १ ॥

परिणामादो बंधो परिणामाद्बन्धः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशलक्षणश्चतुर्विधो बन्धः—पुण्यसम्बन्धी पापसम्बन्धी च बन्धः संजायते । उक्तं च—

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधा दु चदुविधो बंधो ।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ॥ १ ॥

१ पुरुषार्थसिद्ध्युपायस्यैवैतन्नामान्तरं ।
२ प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धात्तु चतुर्विधो बन्धः ।
योगात् प्रकृतिप्रदेशौ स्थित्यनुभागौ कषायतो भवत. ॥

सुयणो जिणसासणे दिट्ठो मोक्षः सर्वकर्मप्रक्षयलक्षणोपलक्षितं पर-मनिर्वाणं जिनशासने श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागमते दृष्टः प्रतिपादित परिणामादेवेति निश्चयः, स मोक्षकारणभूतः परिणाम आत्मन्येकलोली-भाव इति भावार्थः ।

मिच्छत्त तह कसायासंजमजोगेहिं असुहलेसेहिं ।
बंधइ असुहं कम्मं जिणवयणपरम्मुहो जीवो ॥ ११५ ॥

मिथ्यात्वं तथा कषाया असंयमयोगाभ्यामशुभलेश्यैः ।
बध्नाति अशुभं कर्म जिनवचनपराङ्मुखो जीवः ॥

मिच्छत्त तह कसाया मिथ्यात्वं पंचविधं तथा तेनैव पंचप्रकार-मिथ्यात्वप्रकारेण कषायाः पंचविंशतिभेदाः । **असंजमजोगेहिं असुह-लेसेहिं** असंयमो द्वादशविधः, योगाः पंचदशभेदाः, एवं सप्तपंचाश-त्कर्मबन्धप्रत्ययाः कारणानि आस्रवभेदा भवन्तीति संक्षेपार्थः । कथं-भूतैरेतैरास्रवैः, अशुभलेश्यैः कृष्णनीलकापोतलेश्याबलेन संजातैः । **बंधइ असुहं कम्मं** बध्नाति अशुभं कर्म । **जिणवयणपरम्मुहो जीवो** जिन-वचनपराङ्मुखो जीवो मिथ्यादृष्टिरात्मा ।

तं विवरीओ बंधइ सुहकम्मं भाववसुद्धिमावण्णो ।
दुविहपयारं बंधइ संखेवेणेव वज्जरियं ॥ ११६ ॥

तद्विपरीतः बध्नाति शुभकर्म भावशुद्धिमापन्नः ।
द्विविधप्रकारं बध्नाति संक्षेपेणैव कथितं ॥

तं विवरीओ बंधइ तस्माज्जिनवचनपराङ्मुखान्मिथ्यादृष्टिजीवाद्वि-परीतः सम्यग्दृष्टिर्जीवः बध्नाति, किं ? शुभकर्म-पुण्यकर्म-सद्वेद्यशुभायु-

१ संखेवेण जिणेण वज्जरियं. ग. पुस्तके पाठः । संखेवें जिणेण वज्जरियं घ. पुस्तके पाठः । २ "कथेर्वज्जर–पज्जर–सम्प–सास–साह–चव–जप्प–पिसुण-बोल्लोप्पालाः ।" इत्यनेन एतेषु दशादेशेषु कथधातोर्वज्जरादेशो जातः ।

र्नामगोत्रलक्षणं तीर्थकरत्वं । कथंभूतो जीवः, भावसुद्धिमावण्णो भावशुद्धिमापन्नः परिणामशुद्धिं प्राप्तः सद्दृष्टिर्जीव इत्यर्थः । दुविहपयारं बंधइ द्विविधप्रकारं द्वयोर्भेदयोः प्रचारं विस्तारं बध्नाति । संखेवेणेव वज्जरियं संक्षेपेणैव कथितं प्रतिपादितम् ।

णाणावरणादीहि य अट्ठविकम्मेहि वेढिओ य अहं ।
डहिऊण इण्हि पयडमि अणंतणाणाइगुणचिंता ॥ ११७॥

ज्ञानावरणादिभिश्च अष्टभिः कर्मभिः वेष्टितश्चाहम् ।
दग्ध्वेदानीं प्रकटयामि अनन्तज्ञानादिगुणचेतनां ॥

णाणावरणादीहि य ज्ञानावरणादिभिश्च ज्ञानावरणमादिर्येषां दर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाणां तानि ज्ञानावरणादीनि तैर्ज्ञानावरणादिभिः । चकारादुत्तरप्रकृतिभिरष्टचत्वारिंशदधिकशतप्रकृतिभिः । तथा उत्तरोत्तरप्रकृतिभिरसंख्याताभिरहं वेष्टित इति सम्बन्धः । अट्ठविकम्मेहि वेढिओ य अहं अष्टभिरपि कर्मभिर्वेष्टितश्चाहं । अपिचशब्दादनन्तानन्तकर्मभिरहं वेष्टितो वर्ते । डहिऊण इण्हि पयडमि दग्ध्वा भस्मीकृत्य तानि कर्माणि इत्युपस्कारः । इण्हि-इदानीं, प्रकटयामि । अणंतणाणाइगुणचिंता अनन्तज्ञानादिगुणचेतनामिति तात्पर्यम् ।

सीलसहस्सट्ठारस चउरासीगुणगणाण लक्खाइं ।
भावहि अणुदिणु णिहिलं असप्पलावेण किं बहुणा ॥ ११८॥

शीलसहस्राष्टादश चतुरशीतिगुणगणानां लक्षाणि ।
भावय अनुदिनं निखिलं असत्प्रलापेन किं बहुना ॥

---

१ अट्ठविह इति क पुस्तके मूलगाथापाठः । ख. पुस्तके, क. ख. पुस्तकद्वयस्य टीकायां च अट्ठवि इति पाठः । ग. घ. पुस्तके तु अट्ठहिं इति पाठः ।

सीलसहस्सट्ठारस सीलसहस्राष्टादश शीलानां सहस्राणि अष्टादश भवन्ति तानि त्वं भावयेति सम्बन्धः । चतुरशीतिगुणगणानां लक्षाणि । भावहि अणुदिणु णिहिलं भावय अनुदिनं अहर्निशं निखिलं समस्तं । असप्पलावेण किं बहुणा असत्प्रलापेन मिथ्यानर्थकवचनेन बहुना बहुलेन कि–न किमपि ।

अष्टादशशीलसहस्राणां विवरणं यथा–अशुभमनोवचनकाययोगाः शुभेन मनसा हन्यन्ते इति त्रीणि शीलानि । अशुभमनोवचनकाययोगाः शुभेन वचसा हन्यन्ते इति षट् शीलानि । अशुभमनोवचनकाययोगाः शुभेन काययोगेन हन्यन्ते इति नव शीलानि । तानि चतसृभिः संज्ञाभिर्गुणितानि षट्त्रिंशच्छीलानि भवन्ति । तानि पंचभिरिन्द्रियजयैर्गुणितानि अशीत्यग्रशतं भवन्ति । पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपंचेन्द्रियमनस्कासंज्ञिदयाभिर्दशभिर्गुणितानि अष्टादशशतानि भवन्ति । उत्तमक्षमादिभिर्दशभिर्गुणितानि अष्टादशसहस्राणि भवन्ति । अथवा अशीत्यग्रद्विशताधिकसप्तदशसहस्राणि चैतन्यसम्बन्धीनि भवन्ति । विंशत्यधिकसप्तशतानि अचेतनसम्बन्धीनि भवन्ति । तत्राचेतनकृतभेदाः कथ्यन्ते–काष्ठ-पाषाण-लेप-कृताः स्त्रियो मनःकायकृतगुणिताः षट् । कृतकारितानुमतगुणिता अष्टादश । स्पर्शादिपंचगुणिता नवतिः । द्रव्यभावगुणिता अशीत्यग्रं शतं । कषायचतुर्भिर्गुणिता विंशत्यधिकानि सप्तशतानि । चैतन्यसम्बन्धीनि अशीत्यधिकद्विशताग्रसप्तदशसहस्राणि, तद्यथा–देवी-मानुषी-तिरश्ची चेति स्त्रियस्तिस्रः कृतकारितानुमतगुणिता नव भवन्ति । मनोवचनकायगुणिताः सप्तविंशतिर्भवन्ति । स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दैर्गुणिताः पंचत्रिंशदधिकं शतं । द्रव्यभाव-

१ असप्पलावेहिं. ग. घ. पुस्तके पाठः ।

गुणिताः सप्तत्यधिकद्विशते। आहारभयमैथुनपरिग्रहचतुस्संज्ञाभिर्गुणिता अशीत्यधिकं सहस्रं। अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनचतुष्कषोडशकषायैर्गुणिता अशीत्यधिकद्विशताग्र सप्तदशसहस्राणि भवन्तीति चेतनसम्बन्धिभेदाः। ७२०+१७२८०=१८०००।

अथ चतुरशीतिलक्षगुणा विव्रियन्ते। तद्यथा–हिंसा, अनृतं, स्तेयं, मैथुनं, परिग्रहः, क्रोधः, मानः, माया, लोभः, जुगुप्सा भयं, अरतिः, रतिः, मनोदुष्टत्वं, वचनदुष्टत्वं, कायदुष्टत्वं, मिथ्यात्वं, प्रमादः पिशुनत्वं, अज्ञानं, इन्द्रियानिग्रहत्वं, एकविंशतिदोषा वर्जनीयाः। अतिक्रमव्यतिक्रमातिचारानाचारा एते चत्वारो दोषा वर्ज्यन्ते।

अतिक्रमो मानसशुद्धहानिर्व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषः।
तथातिचारः करणालसत्वं भंगो ह्यनाचार इह व्रतानां॥१॥

गुणाना चतुरशीतिर्भवति। सा चतुरशीतिर्दशकायसयमैर्गुणिता चतुरशीतिशतानि भवन्ति। ते दशशीलविराधनैर्गुणिताः चतुरशीतिसहस्राणि गुणा भवन्ति। कास्ताः शीलविराधना? स्त्रीसंसर्गः १ सरसाहारः २ सुगन्धसंस्कारः ३ कोमलशयनासनं ४ शरीरमण्डनं ५ गीतवादित्रश्रवणं ६ अर्थग्रहण ७ कुशीलसंसर्ग. ८ राजसेवा ९ रात्रिसंचरणं १०। ते आकम्पितादिदशालोचनापरिहृतिभिर्दशभिर्गुणिताः चत्वारिंशत्सहस्राधिकाष्टलक्षाणि भवन्ति। ते दशभिर्धर्मैर्गुणिताश्चतुरशीतिलक्षा गुणा भवन्ति। अथ दशकायसंयमा. के? एकेन्द्रियादिपंचेन्द्रियपर्यन्ताना जीवानां रक्षा प्राणसंयमः पचविधः। स्पर्शनादीनां

१ अष्टमनवमपृष्ठेऽपि गुणानां विवरण आगतमस्ति।

२ दशकायसंयमभेदैः पृथिव्यादिशतजीवसमासैरित्यर्थः।

पंचानामिन्द्रियाणां प्रसरपरिहार इन्द्रियसंयमः पंचविधः। एते दशकायसंयमा ज्ञातव्याः। दशालोचनदोषा यथा—

आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बायरं च सुहमं च।
छण्णं सद्दाउलयं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी ॥ १ ॥

अस्या अयमर्थः—आलोचनां कुर्वन् शरीरे कम्प उत्पद्यते भयं करोतीत्याकम्पितदोषः। अणुमाणिय–अनुमानेन दोषं कथयति यथोक्तं न कथयतीत्यनुमानदोषः। जं दिट्ठं–यत्पापं केनचिद्दृष्टं तत्कथयति, अन्यज्ञानन्नपि न कथयतीति यद्दृष्टदोषः। बायरं च–स्थूलं पापं प्रकाशयति सूक्ष्मं न कथयतीति बादरदोषः। सुहमं च–सूक्ष्मं अल्पं पापं प्रकाशयति स्थूलं पापं न प्रकाशयतीति सूक्ष्मदोषः। छण्णं–यदा कोऽपि न भवत्याचार्यस्तर्हापि तदेकान्ते पापं प्रकाशयतीति छन्नदोषः। सद्दाउलयं–यदा वसतिकादौ कोलाहलो भवति तदा पापं प्रकाशयतीति शब्दाकुलदोषः। बहुजणं–यदा बहवः श्रावकादयो मिलिता भवन्ति तदा पापं प्रकाशयतीति बहुजनदोषः। अव्वत्त–अव्यक्तं प्रकाशयति दोषं स्फुटं न कथयतीत्यव्यक्तदोषः। तस्सेवी–यत्पापं गुर्वग्रे प्रकाशितं तत्सर्वथा न मुंचति पुनरपि तदेव कुरुते स तत्सेवी कथ्यते। अथवा य आचार्यस्तं दोषं करोति तदग्रे पापं प्रकाशयति निर्दोषाचार्याग्रे पापं न प्रकाशयतीति तत्सेवी दोषः। दश धर्मास्तु प्रसिद्धा वर्तन्ते तेन न व्याख्याताः।

झायहि धम्मं सुक्कं अट्ट रउद्दं च झाण मुत्तूण।
रुद्दट्ट झाइयाइं इमेण जीवेण चिरकालं ॥ ११९ ॥

ध्याय धर्म्यं शुक्लं आर्तं रौद्रं च ध्यानं मुक्त्वा।
आर्तरौद्रे ध्याते अनेन जीवेन चिरकालम् ॥

झायहि धम्मं सुक्कं ध्याय–एकाग्रेण चिन्तय। किं? धर्मतापन्नं धर्म्यं धर्मादनपेतं धर्म्यं। आज्ञापायविपाकसंस्थानलक्षणं चतुर्विधं

धर्म्यं ध्यानमित्युमास्वोमिमूर्चनात्¹। तथा श्रीगौतमस्वामिवचनाद्धर्म्यं ध्यानं दशविध। तद्यथा। अपायविचय १ उपायविचयः २ विपाकविचयः ३ विरागविचयः ४ लोकविचयः ५ भवविचयः ६ जीवविचयः ७ आज्ञाविचयः ८ संस्थानविचयः ९ संसारविचयश्चेति १०। तथा शुक्लध्यानं च्याय पृथक्त्ववितर्कवीचारं १ एकत्ववितर्कवीचारं २ सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ३ व्युपरतिक्रियानिवर्ति ४ चेति। अट्ट रउद्दं च झाण मुत्तूण आर्त्तं रौद्रं च ध्यानद्वयं मुक्त्वा परित्यज्य। तत्रार्तध्यानं चतुर्विधं इष्टवियोग. १ अनिष्टसंयोगः २ पीडा-चिन्तनं ३ निदानं चेति ४। रौद्रध्यानं चतुर्विधं हिंसानन्दः १ अनृतानन्द २ स्तेयानन्द ३ संरक्षणानन्दश्चेति ४। रुद्दट्ट झाइयाइं रौद्रार्ते द्वे ध्याने ध्यातानि (ध्याते)। इमेण जीवेण चिरकालं इमेन प्रत्यक्षीभूतेन जीवनात्मना चिरकालं अनादिकालं। धर्म्यं शुक्लं च ध्यानद्वयं न ध्यातमिति भावार्थ।

जे के वि दव्वसवणा इंदियसुहआउला ण छिंदंति।
छिंदंति भावसवणा झाणकुढारेहिं भवरुक्खं ॥१२०॥

ये केपि द्रव्यश्रवणा इन्द्रियसुखाकुला न छिन्दन्ति।
छिन्दन्ति भावश्रवणा ध्यानकुठारेण भववृक्षम् ॥

जे के वि दव्वसवणा ये केऽपि द्रव्यश्रवणा. शरीरमात्रेण दिगम्बरा अन्तर्जिनसम्यक्त्वशून्याः। इंदियसुहआउला ण छिंदंति इन्द्रियाणां स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रलक्षणानां विषयाणां सुखेषु आकुला। कदा उर्वशीपरि विवक्षितवनितायाः पादौ विन्यस्य स्तन-

१ "आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यं" इति सूत्रसूचनात्। २ वच-नाने स पुस्तके पाठ। ३ भवदुक्खं, ब.।

कनककलशोपरि करपल्लवौ विधृत्य मुखचुम्बनमधरपानमहं करिष्यामीति स्पर्शनेन्द्रियसुखलम्पटः, घृतपानपक्वान्नव्यञ्जनशाल्यन्नादिस्वादमहं ग्रहीष्यामि, कर्पूरकस्तूरीचन्दनागुरुपुष्पादिपरिमलपानं विधास्यामि, स्तनजघनवदनविलोचनविलोकनं प्रणेष्यामि, वीणावंशस्वरमण्डलनवयौवनकामिनीगीतमिश्रं रवं श्रोष्यामीति पंचेन्द्रियविषयमाकांक्षन् व्याकुलोऽयं जीवो भवति। तत्सर्वं पूर्वमनन्तशोऽनुभूतमेव संसारे, न किमपि दुर्लभं वर्तते अन्यत्रात्मस्वरूपसमुत्पन्नसुखामृतपानात्। तथा चोक्तं—

अदृष्टं किं किमस्पृष्टं किमनाघ्रातमश्रुतं।
किमनास्वादितं येन पुनर्नवमिवेष्यते ॥ १ ॥

तथा च—

अङ्गं यद्यपि योषितां प्रविलसत्तारुण्यलावण्यव-
द्भूषावत्तदपि प्रमोदजनकं मूढात्मनां नो सताम्।
उच्चैरर्वबहुभिः शवैरतितरां कीर्णे श्मशानस्थलं
लब्ध्वा तुष्यति कृष्णकाकनिकरो नो राजहंसव्रजः ॥ १ ॥

तथा च—

समसुखशीलितमनसामशनमपि द्वेषमेति किमु कामाः।
स्थलमपि दहति झषाणां किमङ्ग ! पुनरङ्गमङ्गाराः ॥ १ ॥

इत्यमृतचन्द्रः। तथा च शुभचन्द्रभगवान्—

वरमालिङ्गिता क्रुद्धा चलल्लोलात्र सर्पिणी।
न पुनः कौतुकेनापि नारी नरकपद्धतिः ॥ १ ॥

तथा च शुभचन्द्रः—

मालतीव मृदून्यासां विद्धि चाङ्गानि योषितां।
दारयिष्यन्ति मर्माणि विपाके त्रास्यसि स्वयं ॥ १ ॥

---

१ तथा चोक्तं क.। २ बहुभिः ग.। ३ विद्धयङ्गानि च योषितां ग.।

काम [illegible] कर्मिकुल्यार्णां करङ्कु कुरुते रतिम् ।
यथा [illegible] कार्मा स्त्रीमुत्रमन्थने ॥ २ ॥

[illegible] भावनामाह—

[illegible] कुन्तलकलाप: । पुन[illegible] भस्मोल्लासः । संसारसागरपरिभ्रमाय [illegible] दुःस्पार्श्वाविनिपातकरमिव याचि माधुर्य । [illegible] इवायमधरपल्लवः । स्पर्श[illegible] इव पयोधरविनिवेश । यमपाद[illegible]मिव भुज[illegible] मैव वलीनां त्रय । आलम्बनकुण्डमिव नाभिमण्डलं । अखिलगुणविलोपनरेखेव रोमराजीविनिर्गम । [illegible]भूमिरिव मेखलास्थानं । व्यसनागमनतोरणमिवोरु[illegible] । अपि च—

[illegible] याणांस्त्रदलं च वलित्रयम् ।
हृदय [illegible] यासां ताः कथं न नु चाविङ्काः ॥ १ ॥
गुणग्रामविलोपेषु साक्षाद्दुर्नीतयः स्त्रियः ।
स्वर्गापवर्गमार्गस्य निसर्गार्गला इव ॥ २ ॥

ज्ञानमयविमलशीतलसलिलं प्राप्य भव्या भावेन ।
व्याधिजरामरणवेदनादाहविमुक्ताः शिवा भवन्ति ॥

णाणमयविमलसीयलसलिलं ज्ञानेन निर्वृत्तं ज्ञानमयं सम्यग्ज्ञानमेव विमलं कर्ममलकलंकरहितं शीतलं परमाल्हादलक्षणसुखोत्पादकं एतद्विशेषणत्रयविशिष्टं सलिलं जलमिति ज्ञपक। **पाऊण** ज्ञानपानीयं प्राप्य लब्ध्वा। के ते, **भविय** रत्नत्रययोग्या भव्यजीवा। **भावेण** भावेन जिनभक्त्या। उक्तं च–

> सुखयतु सुखभूमिः कामिनं कामिनीव
> सुतमिव जननी मा शुद्धशीला भुनक्तु।
> कुलमिव गुणभूषा कन्यका संपुनीता-
> ज्जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः ॥ १ ॥

वाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति व्याधिजरामरणवेदनादाहविमुक्ताः शिवा भवन्ति। ज्ञानजलं पीत्वा ज्ञानजलमाकर्ण्य तन्मध्ये मुडित्वा तदवगाह्य परममंगलभूता शिवाः सिद्धा भवन्ति इति सम्यग्ज्ञानमाहात्म्यं भगवता श्रीकुन्दकुन्दाचार्येण सूरिणोद्भावितं भवतीति भावार्थ ।

जह बीयम्मि य दड्ढे ण वि रोहइ अंकुरो य महिवीढे ।
तह कम्मबीयदड्ढे भवंकुरो भावसवणाणं ॥ १२४ ॥

यथा बीजे दग्धे नैव रोहति अंकुरश्च महीपीठे ।
तथा कर्मबीजे दग्धे भवांकुरो भावश्रवनानां ॥

जह बीयम्मि य दड्ढे यथा येनप्रकारेण बीजे दग्धे भस्मीकृते। **ण वि रोहइ अंकुरो य महिवीढे** नापि नैव रोहति प्रादुर्भवति। कोऽसौ? अंकुरः अभिनव उद्भिज्जं उद्भिद्, महीपीठे भूमितले। चकार उक्तसमुच्चयार्थः, तेन रागद्वेषमोहादयो भावकर्मशाखादयोऽपि न रोहन्ति

एते पंचपरमेष्ठिनो मंगलमित्युच्यन्ते। लोकेषु भूर्भुवः स्वर्लक्षणेषु उत्तमा उत्कृष्टा लोकोत्तमाः। एते पंचगुरवः सर्वेभ्योऽपि वर्या उच्यन्ते। तथा शरण—अतिमथनसमर्था इमे पंचगुरवो जीवानां शरणं प्रतिपाद्यन्ते, चउसरणशब्देनामी, अर्हन्मंगलं अर्हल्लोकोत्तमाः अर्हच्छरणं। सिद्धमंगलं सिद्धलोकोत्तमा सिद्धशरणं। साधुमंगलं साधुलोकोत्तमा· साधुशरणं। साधुशब्देनाचार्योपाध्यायसर्वसाधवो लभ्यन्ते। तथा केवलिप्रणीतधर्ममंगलं धर्मलोकोत्तमाः धर्मशरणं चेति द्वादशमंत्राः सूचिताः चतुःशब्देनेति ज्ञातव्यं। एते द्वादशमंत्राः प्रणवपूर्वमायाबीजब्रह्मश्रुतबीजाक्षरपूर्वा ललाटपट्टे गोक्षीरवर्णा लिखिताश्चिन्त्यन्ते। तथा चोक्तं—

नेत्रद्वन्द्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे
वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते।
ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे
तेष्वेकस्मिन् विगतविषयं चित्तमालम्बनीयम्॥ १॥

लोयपरियरिए—लोकोत्तममंत्रसहितानित्यर्थः। तथा चानादिसिद्धमंत्रो गुरूपदेशान्मन्तव्यः। सूरिणा तु सूरिमंत्रः तिलकमंत्रो बृहद्गुरुभ्यः निजगुरुसमीपादुपदेशात् ध्यातव्य इति भावार्थः। णरसुरखेयरमहिए कथंभूतान् पंचगुरून्, नरसुरखेचरमहितान् नराणां नृपादीनां, सुराणां सौधर्मेन्द्रादीनां, खेचराणां विद्याधरचक्रवर्तिनां, महितान् अष्टविधपूजाद्रव्यैर्भावपूजाभिश्च पूजितान्। पुनः कथंभूतान् पंचगुरून्, आराहणणायगे आराधनाया नायकान् स्वामिन इत्यर्थः। वीरे वीरान् कर्मशत्रुक्षयकरणसमर्थानिति भावार्थः।

णाणमयविमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण।
वाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति॥ १२३॥

तह कम्मबीयदड्ढे तथा कर्मबीजे दग्धे भस्मीकृते । भवंकुरो भा सवणाणं भवाङ्कुरः संसाराङ्कुरो जन्मलक्षणो नापि रोहति न प्रादु र्भवति। केषां, भावसवणाणं-सम्यग्दृष्टिनिरम्बराणां दुर्लक्ष्यपरमात्ममात्र भावितानां भेदज्ञानरतां । उक्तं च—

दुर्लक्ष्यं जयति परं ज्योतिर्वाचां गणः कवीन्द्राणां ।
जलमिव यज्ञे यस्मिन्नलब्धमध्यो बहिर्लुठति ॥ १ ॥

भावसवणो वि पावइ सुक्खाइं दुहाइं दव्वसवणो य ।
इय णाउं गुणदोसे भावेण य संजुदो होइ ॥ १२५ ॥

भावश्रवणोपि प्राप्नोति सुखानि दुःखानि द्रव्यश्रवणश्च ।
इति ज्ञात्वा गुणदोषान् भावेन च संयुतो भव ॥

भावसवणो वि पावइ भावश्रवण सम्यग्दृष्टिदिगम्बरोऽपि निश्च येन प्राप्नोति लभते । कानि प्राप्नोति, **सुक्खाइं** निजात्मोत्थपरमान न्दलक्षणनिराकुलतासहितपरमानन्तसौख्यानि । **दुहाइं दव्वसवणो य** प्राप्नोतीति दीपकोद्योतात् दुःखानि शारीरमानसागन्तुकलक्षणोपलक्षि तान्यसातानि द्रव्यश्रवणो मिथ्यादृष्टिदिगम्बरः प्राप्नोति । चशब्दाद्गृह स्थोऽपि सावद्यसंयुक्तो दानपूजास्नपनरहित. पर्वोपवासकातरः चलम लिनागाढरहितसम्यग्दर्शनदुर्विधो व्रतातिचारभग्नपुण्यपापो दूरभव्यतया गुरुचरणनिन्दक आत्महितो न भवति । लौकस्तु महापापी जिनप्र तिमोच्छेदको नारको भवति । तथा चोक्तं—

सर्वं धर्ममयं क्वचित्क्वचिदपि प्रायेण पापात्मकं
क्वाप्येतद्द्वयवत् करोति चरितं प्रज्ञाधनानामपि ।
तस्मादेतदिहान्धरज्जुवलनं स्नानं गजस्याथवा
मत्तोन्मत्तविचेष्टितं न हि हितो गेहाश्रमः सर्वथा ॥ १ ॥

इय णाउं गुणदोसे इति ज्ञात्वा गुणदोषान्। भावेण य संजुदो होहि[1] भावेन जिनभक्तिनिजात्मभावनापंचगुरुचरणरेणुरंजितभालस्थलः संयुतो भव । एवं सति शं सुखं तेन युक्तो भव हे मुने! हे जीवेति सम्बोधनं ।

तित्थयरगणहराइं अब्भुदयपरंपराइं सोक्खाइं ।
पावंति भावसहिया संखेवि जिणेहिं वज्जरियं ॥ १२६

तीर्थंकरगणधरादीनि अभ्युदयपरम्पराणि सौख्यानि ।
प्राप्नुवन्ति भावसहिताः संक्षेपेन जिनैः कथितं ॥

तित्थयरगणहराइं तीर्थंकरगणधरादीनि सौख्यानीति सम्बन्धः । तीर्थंकराणां धर्मोपदेशकाले तीर्थंकराः कमलोपरि पादौ न्यस्यन्ति, अशोकवृक्षच्छायामनुपविशंति, तेषामुपरि द्वादशयोजनमभिव्याप्य देवाः पुष्पवर्षणं विरचयन्ति, तानि तु पुष्पाणि उपरि मुखानि अधोवृंतानि अवतिष्ठन्ते, जानुपर्यन्तं पतन्ति, मुनीनामागमने मुनिपुंगवा मार्गं लभन्ते, भ्रमरपरीतानि कमलोत्पलकैरवेन्दीवरराजचंपकजातिमुक्तबन्धनाट्टहासवकुलकेतकमंदारसुन्दरनमेरुपारिजातसन्तानककल्हारशुभ्ररक्ततेवत्रकमुचुकुन्दवृन्दानि पतन्ति, पंचाशल्लक्षद्वादशकोटिपटहा अपराणि च वादित्राणि वेणुवल्लकिपणवमृदंगत्रिविलतालकाहलकम्बुप्रभृतीनि संख्यातीतानि अम्बरचरकुमारकरास्फलितानि समुर्वन्तरिक्षलक्षाणि ध्वनन्ति, सजलजलधरगर्जितमिव स्वामिनो योजनैकं यावद्ध्वनिर्भव्यजनैराकर्ण्यते, हंसांसोज्ज्वलानि चतुःषष्टिचामराणि पतन्त्युत्पतन्ति च, पंचशतधनुरुन्नतं सिंहविष्टरं भवति, योजनैकप्रमाणं समानमभिव्याप्य कोटिभास्करयुगपदुद्योतिशरीरतेजो भवति, तच्च शारदेन्दुपरिपूर्णमण्डलमिव लोचनानां प्रियतमं भवति, एकदण्डानि उपर्युपरि त्रीणि च्छत्राणि मस्तकोपरि संभ-

1 होइ स. ।

तह कम्मबीयदड्ढे तथा कर्मबीजे दग्धे भस्मीकृते । भवंकुरो भव सवणाणं भवाङ्कुर संसाराङ्कुरो जन्मउद्गमो नापि गेहति न प्ररोहति। केषां, भावसवणाणं सम्यग्दृष्टिदिगम्बराणां दुर्लक्ष्यभावनाव-भावितानां भेदज्ञानरतां । उक्तं च—

दुर्लक्ष्यं जयति परं ज्योतिर्वाचां गणः कवीन्द्राणां ।
जलमिव वज्रे यस्मिन्नलब्धमध्यो बहिर्लुठति ॥ १ ॥

भावसवणो वि पावइ सुक्खाइं दुहाइं दव्वसवणो य ।
इय णाउं गुणदोसे भावेण य संजुदो होइ ॥ १२५ ॥

भावश्रवणोऽपि प्राप्नोति सुखानि दुःखानि द्रव्यश्रवणश्च ।
इति ज्ञात्वा गुणदोषान् भावेन च संयुतो भव ॥

भावसवणो वि पावइ भावश्रवणः सम्यग्दृष्टिदिगम्बरोऽपि निश्चयेन प्राप्नोति लभते । कानि प्राप्नोति, सुक्खाइं निर्वाणोत्पन्नानन्दलक्षणनिराकुलतासहितपरमानन्दसौख्यानि । दुहाइं दव्वसवणो य प्राप्नोति दीपकोद्योतान् दुःखानि शारीरमानसागन्तुकलक्षणोपलक्षितान्यसातानि द्रव्यश्रवणो मिथ्यादृष्टिदिगम्बरः प्राप्नोति । यदस्मादृशस्योऽपि सावद्यसंयुक्तो दानपूजादिकर्मरहितः पर्वोपवासकातरः यत्नविनाङ्गरहितसम्यग्दर्शनदुर्विधो व्रतातिचारभग्नप्रत्युपवादो दुरन्तदुर्गुरुचरणनिन्दक आत्महितो न भवति । लौकिकस्तु महापापी मिथ्यातिमोच्छेदको नारको भवति । तथा चोक्तं—

सर्वं धर्ममयं क्वचित्क्वचिदपि प्रायेण पापात्मकं
क्वाप्येतद्द्वयवत् करोति चरितं प्रज्ञाधनानामपि ।
तस्मादेष तदन्धरज्जुवलनं स्नानं गजस्याथवा
मत्तोन्मत्तविचेष्टितं न हि हितो गेहाश्रमः सर्वथा ॥ १ ॥

वन्ति, इत्यादीनि चतुस्त्रिंशदतिशयपंचकल्याणादीनि जिनोत्तमानां सुखानि बाह्यानि भवन्ति, अनन्तज्ञानानन्तदर्शनानन्तवीर्यानन्तसुखानि चाभ्यन्तरसुखानि भगवतां भवन्ति। तथा भावश्रवणा (ना) गणधरदेवानां तीर्थकरयुवराज्यसौख्यानि भवन्ति। **अब्भुदयपरंपराइं सोक्खाइं** इन्द्रपदतीर्थकरकल्याणत्रयलक्षणानि कल्याणपरम्पराणि सौख्यानि भावश्रवणा अभ्यन्तरमहामुनयो भुञ्जत इति भावार्थः। **पावंति भावसहिया** प्राप्नुवन्ति लभन्ते, के ते ? भावसहिताः सम्यक्त्वचिन्तामणिमण्डितमनःस्थलयः खलु दिगम्बराः। **संखेवि जिणेहिं वज्जरियं** संक्षेपसमासेनोक्तमिदं वचनं जिनैः कथितमिति भावार्थः।

ते धण्णा ताण णमो दंसणवरणाणचरणसुद्धाणं।
भावसहियाण णिच्चं तिविहेण पणट्ठमायाणं॥ १२७॥

ते धन्यास्तेभ्यो नमः दर्शनवरज्ञानचरणशुद्धेभ्यः।
भावसहितेभ्यो नित्यं त्रिविधेन प्रनष्टमायेभ्यः

ते धण्णा ताण णमो ते मुनिपुंगवा धन्याः पुण्यवन्तः तेभ्योऽस्माकं श्रीकुन्दकुन्दाचार्याणां नमो नमस्कारो भवतु नमोऽस्तु स्तात्। **दंसणवरणाणचरणसुद्धाणं** सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानसम्यक्चरणानि शुद्धानि निरतिचाराणि येषां, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैर्वा ये शुद्धाः कर्ममलकलङ्करहिता दर्शनवरज्ञानचरणशुद्धा ये मुनिपुंगवा. तेभ्यो नमः। कथंभूतेभ्यस्तेभ्यः, **भावसहियाण** भावेन शुद्धात्मपरिणामेन जिनसम्यक्त्वेन च सहितानां संयुक्तेभ्य इत्यर्थ। ननु नम स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगे चतुर्थी भवति तत्कथमत्र षष्ठीनिर्देश ? सत्यं, संस्कृते तद्योगे चतुर्थी प्रोक्ता, न तु प्राकृते। कथं ? नित्यं-सर्वकाले-नमोनमोस्तु इत्यस्य विशेषणमिदं। केन कृत्वा नम, **तिविहेण** मनोवाका-

जानन्नपि, पश्यन्तो-पश्यन् प्रत्यक्षं चक्षुर्भ्यां निरीक्षमाणोऽपि । चिंतं मोक्खं मुणिधवलो चिन्तयन्नपि विचारयन्नपि, किं ? मोक्षं सर्वकर्मक्षयलक्षणं मोक्षं परमनिर्वाणसुखं । अनन्तसौख्यदायकं परमनिर्वाणं जानन्नपीत्यादिसम्बन्धः, मुणिधवलो मुनीनां मुनिषु वा धवलो निर्मलचारित्रभरोद्धरणधुरंधरो वृषभः श्रेष्ठ इत्यर्थः ।

उत्थरइ जा ण जरओ रोयग्गी जा ण डहइ देहउडिं ।
इंदियबलं न वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहियं ॥१३०॥

आक्रमते यावन्न जरा रोगाग्निः यावन्न दहति देहकुटिम् ।
इन्द्रियबलं न विगलति तावत् त्वं कुरु आत्महितम् ॥

उत्थरइ जा ण जरओ आक्रमते यावन्न जरा । "छुदोत्थारोहन्ता आक्रमेः" इति प्राकृतव्याकरणसूत्रेण आक्रमधातोरुत्थार इत्यादेशः । तर्हि उत्थारइ इतीदृशं रूपं स्यात् ? प्राकृते ह्रस्वदीर्घौ मिथः भवतः "अचामचः प्रायेण" इति सूत्रेण, तत्र नास्ति दोषः "क्रादौ ज्योतिरुद्गमे:" इति रुचादिपाठादात्मने पदं । अथवा उत्थारइ जा ण जरा इति च क्वचित् पाठः । रोयग्गी जा ण डहइ देहउडिं रोगाग्नि यावन्न दहति न भस्मीकरोति, कां ? देहकुटिं शरीरपर्णकुटीं सम्यक्पाकालां । इंदियबलं न वियलइ इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां बलं सामर्थ्यं यावत्काले न विगलति । इंदियपलं न वियलं इति पाठे इंद्रियबलं यावता इन्द्रियबलं नाशितहीनं न भवति । ताव तुमं कुणहि अप्पहियं तावत्त्वं हे मुनिपुंगव कुरु विधेहि, किं ? आत्महितं मोक्षं साधयेत्यर्थः । तथा चोक्तं—

पलितच्छलेन देहान्निर्गच्छति शुद्धिरेव तव बुद्धेः ।
कथमिव परलोकार्थं जरी वराकस्तदा स्मरति ॥१॥

[कागज मुड़ने से दाहिने किनारे पर असंगत अंश: भनु नमः; नीनिर्देश.; सा नमः, तीर्थ]

१ स्मरति. पाठान्तरमन्यत्र ।

संसारसमुद्रे भ्रमता पर्यटता। भोयसुहकारणट्ठं भोगसुखकारणार्थं जिह्वोपस्थसंजातसुखहेतवे। कदो य तिविहेण सयलजीवाणं दशप्राणानां त्वया आहारः कृतः त्रिविधेन मनसा वाचा वपुषा चेति सकलजीवानां चातुर्गतिकप्राणिनां।

पाणिवहेहि महाजस चउरासीलक्खजोणिमज्झम्मि।
उप्पज्जंतमरंतो पत्तोसि णिरंतरं दुक्खं ॥ १३३ ॥

प्राणिवधैः महायशः! चतुरशीतिलक्षयोनिमध्ये।
उत्पद्यमानम्रियमाणः प्राप्तोऽसि निरन्तरं दुःखम् ॥

पाणिवहेहि महाजस प्राणिनां वधैः कृत्वा हे महायशः!। चउरासीलक्खजोणिमज्झम्मि चतुरशीतिलक्षयोनीनां मध्ये। उप्पज्जंतमरंतो उत्पद्यमानो म्रियमाणश्च। पत्तोसि णिरंतरं दुक्खं प्राप्तोऽसि लब्धवानसि निरन्तरमविच्छिन्नं दुःखं शारीरमानसागन्तुकलक्षणं। चतुरशीतिलक्षयोनीनां विवरणनिर्देशः पूर्वोक्त एव ज्ञातव्यः।

जीवाणमभयदाणं देह मुणी पाणभूदसत्ताणं।
कल्लाणसुहणिमित्तं परंपरा तिविहसुद्धीए ॥ १३४ ॥

जीवानामभयदानं देहि मुने! प्राणभूतसत्त्वानाम्।
कल्याणसुखनिमित्तं परम्परा त्रिविधशुद्ध्या ॥

जीवाणमभयदाणं जीवानामभयदानं। देह मुणी पाणभूदसत्ताणं हे मुने [illegible] प्रयच्छ न केवलं जीवानां अभयदानं देहि—अपि तु प्राणभूतसत्त्वानां [illegible] अभयदानं देहि। कल्लाणसुहणिमित्तं तीर्थकरनामक[illegible] [illegible] निमित्तं [illegible]स्यानुपमस्य [illegible] सुखस्य निमित्तं अभयदानं देहि। तिविहसुद्धीए त्रिविधशुद्ध्या मनोवचनकायविशुद्ध्या अभयदानं देहि। उक्तं च—

मिथ्यावादिनां भवन्ति तानि व्याख्यानीत्यर्थः । १८०+८४+६७+३२=३६३¹।

ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं।
गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति ॥ १३६ ॥

न मुञ्चति प्रकृतिमभव्यः सुष्ठु अपि आकर्ण्य जिनधर्मम् ।
गुडदुग्धमपि पिबन्तः न पन्नगा निर्विषा भवन्ति ॥

ण मुयइ पयडि अभव्वो न मुञ्चति प्रकृतिं मिथ्यात्वं अभव्यो दूरभव्यो वा लौकादिमिथ्यादृष्टिः पापिष्ठः। **सुट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं** सुष्ठु अपि आकर्ण्य श्रुत्वा जिनधर्मं दिगम्बरशास्त्रं। **गुडदुद्धं पि पिबंता** गुडेन मिश्रं दुग्धं गुडदुग्धं पिबन्तोऽपि। **ण पण्णया णिव्विसा होंति** न पन्नगाः सर्पा निर्विषा विषरहिता भवन्ति सञ्जायन्ते।
तथा चोक्तं—

बहुसत्थइं जाणियइं धम्मु ण चाइ मुणेवि ।
दिणयर सउजइ उग्गमइ घूयडु अंधउ तो वि ॥ १ ॥

मिच्छत्तछण्णदिट्ठी दुद्धी रागगहगहियचित्तेहिं ।
धम्मं जिणपण्णत्तं अभव्वजीवो ण रोचेदि ॥ १३७ ॥

मिथ्यात्वछन्नदृष्टिः दुर्धीः रागग्रहगृहीतचित्तैः ।
धर्मं जिनप्रणीतं अभव्यजीवा न रोचयति ॥

मिच्छत्तछण्णदिट्ठी मिथ्यात्वेन छन्ना आवृता दृष्टिर्दर्शनं लोचनं यस्य स मिथ्यात्वच्छन्नदृष्टिः अज्ञानी मिथ्यादृष्टिः । **दुद्धी** दुष्टा धीर्बुद्धिर्यस्य स दुर्धीः दुर्बुद्धिः । **रागगहगहियचित्तेहिं** रागग्रहगृहीतचित्तैः रागो दुर्निवारः ग्रहा इव ग्रहीतानि चित्तानि अभिप्रायाः रागग्रहगृहीतचित्तानि तैः रागग्रहगृहीतचित्तैः रागपूर्णैः

१-१८०+८४+६७+३२ मद्दसूत्र ... । ३६ ... ॥

मोहिओ जीवो कुनयैः कुत्सितनयैः सर्वथैकान्तरूपैः, कुशास्त्रैः चतुर्वेदाद्यादशपुराणाष्टादशस्मृत्युभयमीमांसादिशास्त्रैः मोहितो भ्रान्ति प्राप्तो जीव आत्मा। **भमिओ अणाइकालं** भ्रान्तोऽयं पर्यटितो जीवोऽनादिकालं उत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालबहुलं। **संसारे धीर चिंतेहि** हे धीर! हे योगीश्वर! ससारे भवे भ्रान्त इति चिन्तय विचारय।

पासंडी तिण्णि सया तिसट्ठिमेया उमग्ग मुत्तूण।
रुंमहि मणु जिणमग्गे असप्पलावेण किं बहुणा॥१४०॥

पाषण्डिन· त्रीणि शतानि त्रिषष्टिभेदा उन्मार्गं मुक्त्वा।
रुन्द्धि मनो जिनमार्गे असत्प्रलापेन किं बहुना॥

पासंडी तिण्णि सया पाषण्डिनस्त्रीणि शतानि। **तिसट्ठिमेया उम्मग्ग मुत्तूण** तथा त्रिषष्टिभेदा उन्मार्गं मुक्त्वा। **रुंमहि मणु जिणमग्गे** रुन्द्धि मनो जिनमार्गे जिनधर्मे त्व स्थापय। **असप्पलावेण किं बहुणा** असत्प्रलापेनानर्थकेन वचसा बहुना प्रचुरतरेण किं? न किमपीत्याक्षेपः।

जीवविमुक्को सवओ दंसणमुक्को य होइ चलसवओ।
सवओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसवओ॥१४१॥

जीवविमुक्तः शवः दर्शनमुक्तश्च भवति चलशवकः॥
शवको लोकापूज्य लोकोत्तरे चलशवक॥

जीवविमुक्को सवओ जीवविमुक्तो जीवेन रहितः कायो लोके शव उच्यते। **दंसणमुक्को य होइ चलसवओ** दर्शनमुक्त पुमान् सम्यक्त्वहीनो जीवश्च भवति चलशवक कुत्सित मृतक। **सवओ लोयअपुज्जो** जीवरहितः शवको लोकानामपूज्य, अपूज्यत्वादेव भूमौ निखन्यते, अग्निना भस्मीक्रियते वा। **लोउत्तरियम्मि चलसवओ** लोकोत्तरे लोके

[illegible]

निर्वाणनामाग्नि ! [illegible]
[illegible]
न [illegible]
[illegible] ॥ १ ॥

तेन [illegible] । तथा चोक्तं—

[illegible] प्रतिभिन्नया ।
[illegible] दूरतः परिवर्जनम् ॥ १॥

जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं ।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावयदुविहधम्माणं ॥१४२॥

यथा तारकाणां चन्द्रः मृगराजो मृगकुलानां सर्वेषाम् ।
अधिकः तथा सम्यक्त्वं ऋषिश्रावकद्विविधधर्माणाम् ॥

जह तारयाण चंदो यथा तारकाणां ताराणां मध्ये चन्द्रोऽधिक इति सम्बन्धः । मयराओ मयउलाण सव्वाणं मृगराजः सिंहः मृगकुलानां मध्ये सर्वेषामपि अधिकः प्रधानभूतः । अहिओ तह सम्मत्तो अधिकं तथा सम्यक्त्वं । तेषां मध्ये सम्यक्त्वमधिकं, रिसिसावयदुविहधम्माणं ऋषीणां दिगम्बराणां श्रावकाणां च देशव्रतीनां द्विविधधर्माणां मध्ये सम्यक्त्वमधिकं प्रधानभूतमित्यर्थः । अस्य षट्प्राभृतग्रन्थस्य प्रारंभपरिसमाप्तिपर्यन्तं सम्यक्त्वमेव प्रशंसितमिति तात्पर्यार्थो ज्ञातव्य इति भावः ।

जह फणिराओ रेहइ फणमणिमाणिक्किरणविप्फुरिओ ।
तह विमलदंसणधरो जिणभत्तीपवयणो जीवो ॥ १४३ ॥

यथा फणिराजो राजते फणमणिमाणिक्यकिरणविस्फुरितः ।
तथा विमलदर्शनधरः जिनभक्तिप्रवचनो जीवः ॥

जह फणिराओ रेहइ यथा फणिराजो धरणेन्द्रो राजते शोभते। कथंभूतः सन् राजते, **फणमणिमाणिक्किरणविप्फुरिओ** फणानां सहस्रसंख्यफटानां सम्बन्धिनो ये मणयस्तेषु मध्ये यन्माणिक्यं पद्मरागमणिः मध्यफणाया उपरि स्थितं यल्लालरत्नं तस्य सर्वोत्तमरत्नस्य ये किरणा रश्मयस्तैर्विस्फुरितो धरणेन्द्रः शेषनागनामा पद्मावतीदेवी-प्राणवल्लभः पातालस्वर्गलोकस्वामी यथा शोभते। **तह विमलदंसण-धरो** तथा तेन प्रकारेण विमलदर्शनधरो निर्मलसम्यक्त्वमंडितो मुनिः श्रावको वा। **जिणभत्तीपवयणो जीवो** जिनभक्तिरेव प्रवचनं गोप्य-तत्वसिद्धान्तः, जीव आत्मा चातुर्गतिकोऽपि पंचेन्द्रियसंज्ञिजीवः शोभते।

तथा चोक्तं—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजं ।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसं ॥ १ ॥

जह तारायणसहियं ससहरबिंबं खमंडले विमले ।
भाविय तह वयविमलं जिणलिंगं दंसणविसुद्धं ॥१४४॥

यथा तारागणसहितं शशधरबिम्बं खमण्डले विमले ।
भावितं तथा व्रतविमलं जिनलिङ्गं दर्शनविशुद्धम् ॥

जह तारायणसहियं यथा येन प्रकारेण तारागणसहितं। **ससहर-बिंबं खमंडले विमले** शशधरबिंबं चन्द्रमण्डलं खमण्डले गगनमण्डले। कथंभूते, विमलेऽभ्रपटलादिरहिते। **भाविय तह वयविमलं** तथा तेन

प्रकारेण भावितव्रतं व्रतैर्मण्डितं निरतिचारव्रतसहितं । जिणलिंगं दंसणविसुद्धं जिनलिंगं निर्ग्रन्थमुनिपुंगववेषः दर्शनेन सम्यक्त्वेन विशुद्धं निर्मलं जिनशासने शोभते इति शेषः ।

इय णाउं गुणदोसं दंसणरयणं धरेह भावेण ।
सारं गुणरयणाणं सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥ १४५ ॥

इति ज्ञात्वा गुणदोषं दर्शनरत्नं धरत भावेन ।
सारं गुणरत्नानां सोपानं प्रथमं मोक्षस्य ॥

इय णाउं गुणदोसं इत्यमुना प्रकारेण ज्ञात्वा सम्यग्विचार्य गुणदोषं, सम्यक्त्वगुणरत्नमण्डितः पुमान् गुणवान्-मिथ्यात्वेन दूषितो जीवो महापातकीति विज्ञाय । **दंसणरयणं धरेह भावेण** दर्शनरत्नं सम्यक्त्वरत्नं धरत यूयं भावेन शुद्धपरिणामेन कपटं परित्यज्येत्यर्थः । **सारं गुणरयणाणं** सारं उत्तमं गुणरत्नानां मध्ये व्रतसमितिगुप्त्यादीनां मध्ये दानपूजोपवासशीलव्रतादीनां च मध्ये सम्यक्त्वरत्नं सारं उत्तमं धरत यूयं हे भव्याः ! । कथंभूतं, **सोवाणं पढम मोक्खस्स** सोपानं आरोहणे पादारोपणस्थानं पढम-प्रथमं । कस्य, मोक्षस्य सर्वकर्मक्षयलक्षणोपलक्षितस्य मोक्षप्रासादस्योपरितनभूम्युपरिगमने, सिद्धपर्यायप्रापणमित्यर्थः ।

कत्ता भोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइणिहणो य ।
दंसणणाणुवओगो णिद्दिट्ठो जिणवरिंदेहिं ॥ १४६ ॥

कर्ता भोगी अमूर्तः शरीरमात्रः अनादिनिधनश्च ।
दर्शनज्ञानोपयोगः निर्दिष्टो जिनवरेन्द्रैः ॥

कत्ता भोइ अमुत्तो जीवशब्दः पूर्वोक्त एव ज्ञातव्यः । तेन जीव आत्मा कर्ता वर्तते । न केवलं कर्ता पुण्यस्य पापस्य च-अपि तु भोगी पुण्यस्य पापस्य च फलस्य भोक्ता आस्वादक इति व्यवहारः, निश्चयेन

तु केवलज्ञानस्य केवलदर्शनस्य च कर्ता वर्तते। तथा अनन्तसुखस्य भोक्ता अनन्तवीर्यस्य च। अमूर्तो मूर्तः शरीराद्रहित इति निश्चयः, व्यवहारेण तु कर्मबन्धप्रबन्धात् शरीरसंयुक्तत्वाच्च मूर्त इत्युच्यते। **शरीरमित्तो अणाइणिहणो य** शरीरमात्रः शरीरप्रमाण आत्मा वर्तते इति व्यवहारः तत्सुखदुःखाद्यावेदकत्वात्, निश्चयेन तु असंख्यातप्रदेशत्वाल्लोकप्रमाणः। अनादिनिधनश्च जीवस्यादिर्नास्ति निधनं विनाशश्च न वर्तते। **दंसणणाणुवओगो** दर्शनज्ञानोपयोगः व्यवहारेण चत्वारि दर्शनानि अष्टज्ञानानि उभयाभ्यां द्विविधोपयोगः, निश्चयेन तु केवलज्ञानकेवलदर्शनाभ्यां द्विविधोपयोगः परमनिश्चयेन तु आत्मा केवलज्ञानमेव तन्मयत्वात्। **णिद्दिट्ठो जिणवरिंदेहि** निर्दिष्टः प्रतिपादितः कथित आत्मा जिनवरेन्द्रैः सर्वज्ञवीतरागैरिति तात्पर्यार्थः।

दंसणणाणावरणं मोहणियं अंतराइयं कम्मं।
णिट्ठवइ भवियजीवो सम्मं जिणभावणाजुत्तो ॥ १४७॥

दर्शनज्ञानावरणं मोहनीयमन्तरायं कर्म।
निष्ठापयति भव्यजीवः सम्यग्जिनभावनायुक्तः ॥

दंसणणाणावरणं दर्शनावरणं नवविधं, तत्र चक्षुर्दर्शनावरणं अचक्षुर्दर्शनावरणं अवधिदर्शनावरणं केवलदर्शनावरणं चेति चतुर्विधं दर्शनावरणं निद्रा निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धिश्चेति पंचविधनिद्रा एवं नवविधं दर्शनावरणं। मतिज्ञानावरणं श्रुतज्ञानावरणं अवधिज्ञानावरणं मनःपर्ययज्ञानावरणं केवलज्ञानावरणं चेति पंचविधं ज्ञानावरणं। **मोहणियं अंतराइयं कम्मं** मोहनीयं कर्म अष्टाविंशतिभेदं, अन्तरायं कर्म पंचभेदं। तत्राष्टाविंशतिभेदं मोहनीयं कर्म यथा–तत्र त्रिविधं दर्शनमोहनीयं सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वं चेति। चारि-

कषायनोकषायं पंचविंशतिभेदं, अकषायभेदा नव हास्यं रतिः अरतिः शोको भयं जुगुप्सा स्त्रीवेदः पुंवेदो नपुंसकवेदश्चेति नव नोकषाया अकषाया उच्यन्ते यथाख्यातचारित्रघातकत्वात्। षोडश कषायाः। तथाहि-अनन्तानु-बन्धी क्रोधोऽनन्तानुबन्धी मानोऽनन्तानुबन्धिनी मायाऽनन्तानुबन्धिनी लोभश्चेति चत्वारः कषायाः सम्यक्त्वघातकाः। पूर्वोक्तं त्रिविधं दर्शन-मोहनीयं च। अप्रत्याख्यानक्रोधोऽप्रत्याख्यानमानोऽप्रत्याख्यानमायाऽ-प्रत्याख्यानलोभश्चेति चत्वारः कषायाः श्रावकव्रतघातकाः। प्रत्याख्यान-क्रोधः प्रत्याख्यानमानः प्रत्याख्यानमाया प्रत्याख्यानलोभश्चेति चत्वारः कषाया महाव्रतघातकाः। संज्वलनक्रोध संज्वलनमान संज्वलनमाया संज्वलनलोभश्चेति चत्वारः कषाया यथाख्यातचारित्रघातकाः। अन्त-रायः पंचविधो दानान्तरायो लाभान्तरायो भोगान्तराय उपभोगान्तरायो वीर्यान्तरायश्चेति। एतत्सर्वं कर्म **णिहवइ भवियजीवो** निष्ठापयति क्षयं नयति, कोऽसौ ? भविकजीवो भव्यजनः। **सम्मं जिणभावणा जुत्तो** सम्यग्जिनभावनायुक्तो जिनसम्यक्त्वाराधक इत्यर्थः।

बलसोक्खणाणदंसण चत्तारि वि पायडा गुणा होंति।
णट्ठे घाइचउक्के लोयालोयं पयासेदि ॥ १४८ ॥

बलसौख्यज्ञानदर्शनं चत्वारोपि प्रकटा गुणा भवन्ति।
नष्टे घातिचतुष्के लोकालोकं प्रकाशयति ॥

बलसोक्खणाणदंसण बलं चानन्तवीर्यं केवलज्ञानदर्शनाभ्यामनन्तानन्तद्रव्यपर्यायस्वरूपपरिच्छेदकत्वलक्षणा शक्तिरनन्तवीर्यमुच्यते न तु कस्यचिद्घातकरणे भगवान् बलं विदधाति सूक्ष्मगुणाभावप्रसक्तेः तथा चोक्तमाशाधरेण महाकविना—

यद्व्याहंति न जातु किंचिदपि न व्याहन्यते केनचिद्
यन्निष्पीतसमस्तवस्त्वपि सदा केनापि न स्पृश्यते।

यत्सर्वेषामसमसमभ्यात्रिनयमनस्याणि भावांत्रिपतं
तद्धः सुरसमतमं स्वतन्त्रममया मात्रं मनोऽभिलषते ॥१॥

तथा अनन्तसौख्यं भगवतः सिद्धस्य भवति तदप्यनन्तज्ञानगुणसद्भावात् परमानन्दसौख्यनिरूपणं वस्तुस्वरूपपरिच्छेदकत्वमेव वेदितव्यं। तथा चोक्तं विमानपदमुपाध्यायानपर्यन्ते। तथा हि—

दान्तश्च शान्तश्चापि या ज्ञात्वा तानं तुष्यन्ति साधवः।
सचराचराधिराजात्म सिद्धाः सुभिनः कथं ॥ १ ॥
चक्रिणां कुरुजातानां नागेन्द्राणां मरुत्वताम्।
अनन्तगुणितं सौख्यमुत्तरोत्तरवर्तिनां ॥ २ ॥
त्रिकालसमयात् सौख्यादनन्तगुणितं सुखं।
सिद्धानां तु क्षणार्धेन तं यो यच्छन्तु तच्चित्रं ॥ ३ ॥

तथा ज्ञानं केवलज्ञानं लोकालोकवस्तुपरिज्ञायकं, दर्शनं चानन्तदर्शनं ज्ञानक्षण एव वस्तुसत्तास्वरूपेण ग्रहणलक्षणं बोद्धव्यं। **चत्तारि वि पायडा गुणा होंति** चत्वारोऽपि गुणाः प्रकटा भवन्ति। कस्मिन् सति, **णट्ठे घाइचउक्के** नष्टे विनाशं प्राप्ते घाइचउक्के–मोहज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायात्मकेवलज्ञानसाम्राज्यविध्वंसकारके कर्मशत्रुचतुष्टये। **लोयालोयं पयासेदि** लोकालोकं प्रकाशयति। लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशा यस्मिन्निति लोकः। ते न लोक्यन्ते न दृश्यन्ते यस्मिन् संसारे सर्वतोऽनन्तानन्तजीवादयः पदार्थाश्चालोकः। लोकश्चालोकश्च लोकालोकस्तं लोकालोकं प्रकाशयति जानाति पश्यति चेत्यर्थः।

णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हु चउमुहो बुद्धो।
अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुडं ॥ १४९ ॥

---

१ श्लोका इमे यथातितमे पृष्ठे उद्धृतत्रिलोकसारगाथाद्वयमनुवर्तन्ते।
२ सुषिरे. ख.।

इय घाइकम्ममुक्को इति पूर्वोक्तलक्षणघातिकर्मभ्यो मुक्तः। **अट्ठा-रहदोसवज्जिओ सयलो** अष्टादशदोषवर्जितो रहितः, सकलः स-कलया शरीरेण वर्तते इति सकलः तेन तस्य धर्मोपदेशोऽपि घटते शरीरसंयुक्तपरमात्मत्वात्। एतेनेदं वचनं प्रत्युक्तं भवति–

अर्हदृषिविग्रहाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात्।
नादरूपं समुत्पन्नं शास्त्रं परमदुर्लभं ॥ १ ॥

अशरीरस्य शास्त्रोत्पत्तिर्न संगच्छते कूर्मरोमवत् वंध्यास्तनन्धयवत् शशविषाणवत् विष्णुपदलतावत् मरुमरीचिकोदकवत् "अष्टौ स्थानानि वर्णानां" इति शब्दानां करणकारणत्वात्। **तिहुवणभवणपईवो** त्रैलोक्यगृहस्य दीपः प्रद्योतकः त्रिभुवनभवनप्रदीपः। **देउ मम उत्तमं बोहिं** ददातु मम मह्यं उत्तमं बोधं केवलज्ञानं। इतीष्टप्रार्थना श्रीकुन्दकुन्दाचार्याणां शास्त्रकरणस्य फलाभिलाषित्वात्। अथ के ते अष्टादश दोषा इति चेदुक्ता अप्युच्यन्ते—

क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥ १ ॥

चकाराच्चिन्ताऽरतिनिद्राविषादस्वेदखेदविस्मया गृह्यन्ते। निर्दोषपरमात्मविचारोऽष्टसहस्रीन्यायकुमुदचन्द्रोदयप्रमेयकमलमार्तण्डाप्तपरीक्षातत्त्वार्थराजवार्तिकतत्त्वार्थश्लोकवार्तिकन्यायविनिश्चयालङ्कारादिषु महाशास्त्रेषु विस्तरेण ज्ञातव्यः।

जिणवरचरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिराएण।
ते जम्मवेल्लिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥ १५१ ॥

---

१ नि. स.। २ नादरूपंसमुत्पन्नं. म। ३ मलानवत्, म.। ४ करणकारे नास्ति स. पुस्तके। ५ न्यायविनश्चयेति विश्रुतिरस्पष्ट।

जह सलिलेण ण लिप्पइ यथा येन प्रकारेण (सलिलेन) लिप्यते न स्पृश्यते । किं तत्कर्मतापन्नं, **कमलिणिपत्तं सहावपयडी** कमलिनीपत्रं पद्मिनीच्छदः स्वभावप्रकृत्या निजस्वभावेन । **तह भावे ण लिप्पइ** तथा तेन प्रकारेण भावेन जिनचरणकमलभक्तिलक्षणसम्यक्त्वेन करणभूतेन कृत्वा । कैः कर्तृभूतैः न लिप्यते, **कसायविसएहिं सप्पुरिसो** कषायैः क्रोधमानमायालोभैः, विषयैः विषयसुखैः स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दैः सत्पुरुषः सम्यग्दृष्टिजीवः । तथा चोक्तं–

धात्रीबालाऽसतीनाथपद्मिनीदलवारिवत् ।
दग्धरज्जुवदाभासं भुञ्जन् राज्यं न पापभाक्[2] ॥ १ ॥

ते चिय भणामिहं जे सयलकलासीलसंजमगुणेहिं ।
बहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो ॥१५३॥

तानेव भणामि अहं ये सकलकलाशीलसंयमगुणैः ।
बहुदोषाणामावासः सुमलिनचित्तः न श्रावकसमः सः ॥

ते चिय भणामिहं जे तानेव सत्पुरुषानहं कुन्दकुन्दाचार्यो भणामि कथयामि । तान् कान्, ये पुरुषाः **सकलकलासीलसंजमगुणेहिं** सकलकलाः परिपूर्णकलनाः सम्यक्परीक्षादायिनः, कैः ? शीलसंयमगुणैः शीलनिकषक्षमाः संयमनिकषक्षमाः गुणनिकषक्षमाः भवन्ति तथा चोक्तं–

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्षणच्छेदनतापताडनैः ।
तथैव धर्मो विदुषा परीक्ष्यते श्रुतेन शीलेन तपोदयागुणैः ॥१॥

तथा चोक्तं–

---

१ अस्मादग्रे अयं पाठोऽधिकः स. पुस्तके । सलिलेन जलेन न लिप्यते कमलिनीदल इति सम्बन्धः । २ भुंजानोऽपि न पापभाक् इत्यपि क्वचित्पाठः ।

संजमु सीलु सउच्चु तवु जसु सूरिहि गुरु सोइ।
दाहछेदकसघायसमु उत्तमु कंचणु होइ॥ १॥

बहुदोसाणावासो बहूनां दोषाणामशौचादीनामावासो गृहं, अथवा बहूनां स्त्रीणां दोषाणां बाहूनां आवास आलिंगको मुनिः। **सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो हुज्ज** अतीव मलिनचित्तो रागद्वेषमोहकश्मलचेता मुनिः मुनिर्न भवत्येव, तर्हि किं भवति? ण सावयसमो सोन्न श्रावकसमः श्रावकेणापि गृहस्थेनापि समः सदृशः स न भवति। तस्य दानपूजादिलाभसंयुक्तत्वादुत्तमत्वं। तथा चोक्तं—

वरं गार्हस्थ्यमेवाद्य तपसो भाविजन्मनः।
श्वः स्त्रीकटाक्षलुंटाकलोप्यवैराग्यसम्पदः॥ १॥

“ चिअ चेअ अस्मदीयस्थानस्थाणुमूकतूष्णीकदैवैकमृदुकत्तेवानख-नीडनिहितहृतव्याहृतकुतूहलस्थूलव्याकुलेषु वा ” इत्यनेन प्राकृत-व्याकरणसूत्रेण चिअं इत्यस्य वा द्वित्वं। चिअ इति कोऽर्थः “ अवधारणे णई च चिअ चेओः। ”

अन्यच्च—

ते च्चिअ धण्णा ते च्चिय साउरिसा ते जियंति जियलोए।
बोद्दहदहम्मि पडिया तरंति जे च्चिय लीलाए॥ १॥

बोद्दह इति कोऽर्थो यौवनम्।

---

१ संयमः शीलं शौचं तपः यस्य सूरेः गुरुः सः।
दाहच्छेदकषघातक्षमं उत्तमं कंचनं भवति॥

२ बहु. मूले.। कम्मु. स.।

३ घ. क. स.। ४ एते चत्वारः शब्दा अवधारणार्थे वर्तन्ते इत्यर्थः।

५ ते एव धन्याः ते एव सत्पुरुषाः ते जीवन्ति जीवलोके।
यौवनद्रहे पतितास्तरन्ति ये चैव लीलया॥

राजमान्यश्रावकादिभिरभिमानः। **मुक्का जे करुणभावसंजुत्ता** पूर्वोक्तैर्मोहादिभिर्ये मुक्ताः, करुणभावः कारुण्यं दयापरिणामस्तेन संयुक्ताः। **ते सव्वदुरियखंभं** ते मुनय सर्वदुरितस्तंभं समस्तमलानिचारादिसमुत्पन्न पापस्तंभं। **हणंति चारित्तखग्गेण** घ्नन्ति चारित्रखड्गेन छिन्दन्ति निजनिर्मलसद्वृत्तनिस्त्रिंशेनेति शेषः।

गुणगणमणिमालाए जिणमयगयणे णिसायरमुणिंदो।
तारावलिपरियरिओ पुण्णिमइंदुव्व पवणवहे ॥ १५८॥

गुणगणमणिमालया जिनमतगगने निशाकरमुनीन्द्र।
तारावलिपरिकलितः पूर्णिमेन्दुरिव पवनपथे ॥

गुणगणमणिमालाए गुणा अष्टाविंशतिमूलगुणाः दश धर्माः तिस्रो गुप्तयः अष्टादशशीलसहस्राणि द्वाविंशतिपरीषहाणां जय एते उत्तरगुणाः, गुणानां गणाः समूहा गुणगणास्त एव मणयो रत्नानि तेषां माला मुक्ताफलहारस्तया गुणगणमालया मुनिः शोभते इत्युपस्कारः। **जिणमयगयणे णिसायरमुणिंदो** जिनमतमार्हतशासनं तदेव गगनं आकाशं पापलेपरहितत्वात् जिनमतगगनं तस्मिन् जिनमतगगने सर्वज्ञशासनाकाशे, निशाकरश्चन्द्र निशां करोति उद्योतयति निशाकरो मुनीन्द्र, तत्र मुनीन्द्रो दिगम्बरः निशाकरः पापान्धकारविच्छेदकत्वात्। **तारावलिपरियरिओ** तारावलिपरिकलितो नक्षत्रमालापरिवेष्टितो नक्षत्रमण्डलवेष्टित। **पुण्णिमइंदुव्व पवणवहे** पूर्णिमेन्दुरिव पूर्णिमाचन्द्र इव शोभते, पवनपथे गगनमार्गे इति शेष।

चक्कहररामकेसवसुरवरजिणगणहराइसोक्खाइं।
चारणमुणिरिद्धीओ विसुद्धभावा णरा पत्ता ॥ १५९ ॥

चक्रधररामकेशवसुरवरजिनगणधरादिसौख्यानि।
चारणमुन्यृद्धीः विशुद्धभावा नराः प्राप्ता ॥

चक्कहररामकेसवसुरवरजिणगणहराइसोक्खाइं चक्रधराश्च भरतादयः सकलचक्रवर्तिनः, रामाश्च बलदेवाः, केशवाश्चार्धचक्रवर्तिनः, सुरवराश्च सौधर्मेन्द्राद्यच्युतेन्द्रपर्यन्ता अहमिन्द्रान्ताः, जिनाश्च वृषभादिवीरान्ताः, गणधरादयश्च वृषभसेनादयः श्रीगौतमान्तास्तेषां सौख्यानि महापुराणादिशास्त्रवर्णितानि । **चारणमुणिरिद्धीओ** चारणमुनीनां आकाशगामिनामृषीणां ऋद्धीः अक्षीणमहानसालयप्रभृतीः । विशुद्धभावा नरा जीवाः प्राप्ता लभन्ते स्म ।

> **सिवमजरामरलिंगमणोवममुत्तमपरमविमलमतुलं ।**
> **पत्ता वरसिद्धिसुहं जिणभावणभाविया जीवा ॥१६०॥**
> शिवमजरामरलिङ्गमनुपममुत्तमं परमविमलमतुलम् ।
> प्राप्ता वरसिद्धिसुखं जिनभावनाभाविता जीवाः ॥

शिवमजरामरलिंगं शिवं परमकल्याणं परममंगलभूतं कर्ममलकलंकरहितत्वात्, अजरामरलिंगं जरामरणरहितचिन्हं । **अणोवमं** उपमारहितं । **उत्तमं** परममुख्यं । **परमविमलं** द्रव्यकर्मभावकर्मनोकर्मरहितं । **अतुलं** अनन्तमित्यर्थः । **पत्ता वरसिद्धिसुहं** एतद्विशेषणविशिष्टं वरं श्रेष्ठं सिद्धिसुखं परमनिर्वाणसौख्यं प्राप्ता लभन्ते स्म । **जिणभावणभाविया जीवा** जिनभावनया निर्मलसम्यक्त्वेन भाविता वासिता जीवा आसन्नभव्याः ।

> **ते मे तिहुवणमहिया सिद्धा सुद्धा णिरंजणा णिच्चा ।**
> **दिंतु वरभावसुद्धिं दंसणणाणे चरित्ते य ॥ १६१ ॥**
> ते मे त्रिभुवनमहिताः सिद्धाः शुद्धा निरंजना नित्याः ।
> ददतु वरभावशुद्धिं दर्शनज्ञाने चरित्रे च ॥

ते मे तिहुवणमहिया ते जगत्प्रसिद्धाः, मे मम श्रीकुन्दकुन्दाचार्यस्य, त्रिभुवनमहितास्त्रैलोक्यपूजिताः । **सिद्धा सुद्धा णिरंजणा**

णिया। सिद्धा मुक्तिश्रीवल्लभाः, शुद्धाः कर्ममलकलङ्करहिताः, निरञ्जना निरुपलेपाः, नित्याः शाश्वताः । दितु ददतु भावसुद्धिं ददतु प्रयच्छन्तु, वरभावशुद्धिं विशिष्टपरिणामशुद्धिं । कस्मिन्, दंसणणाणे चरित्ते य सम्यग्दर्शने सम्यग्ज्ञाने सम्यक्चारित्रे चेत्यर्थः ।

किं जंपिएण बहुणा अत्थो धम्मो य काममोक्खो य ।
अण्णे वि अ वावारा भावम्मि परिट्ठिया सव्वे ॥ १६२ ॥

किं जल्पितेन बहुना अर्थो धर्मश्च काममोक्षश्च ।
अन्येऽपि च व्यापारा भावे परिस्थिताः सर्वे ॥

किं जंपिएण बहुणा बहुना प्रचुरतरेण, जल्पितेन किं ? न किमपि। अत्थो धम्मो य काममोक्खो य अर्थो धन, धर्मो यतिश्रावकगोचरः, कामः पञ्चेन्द्रियसुखदायिनी इष्टवनिता तस्या भोगः, मोक्षः सर्वकर्मक्षयलक्षणः। अण्णे वि अ वावारा अन्येऽपि च व्यापारा विद्यादेवतासाधनादयः । भावम्मि परिट्ठिया सव्वे भावे शुद्धपरिणामे परिस्थिता भावाधीना भवन्तीति भावार्थः । उक्तं च—

न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृन्मये ।
भावेषु विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणं ॥ १ ॥
भावविहूणउ जीव तुहं जइ जिणु वहहि सिरेण ।
पत्थरि कमलु किं निप्पजइ जइ सिंचहि अमिएण ॥ २ ॥
सीसु नमंतह कवणु गुणु भाउ कुसुद्धउ जाहं ।
पारद्धीदूणउ नमइ दुक्कंतउ हरिणाहं ॥ ३ ॥
अघ्नन्नपि भवेत् पापी निघ्नन्नपि न पापभाक् ।
परिणामविशेषेण यथा धीवरकर्षकौ ॥ ४ ॥

१ भावविहीन जीव ! त्वं यदि जिनं वहति शिरसा ।
प्रस्तरे किं कमलं निष्पद्यते यदि सिंचेत् अमृतेन ॥

णिया। सिद्धा मुक्तिस्त्रीवल्लभाः, शुद्धाः कर्ममलकलङ्करहिताः, निरंजना निरुपलेपाः, निच्चाः शाश्वताः। दिंतु वरभावसुद्धिं ददतु प्रयच्छन्तु, वरभावशुद्धिं निरितचारपरिणामशुद्धिं। कस्मिन्, दंसणणाणे चरित्ते य सम्यग्दर्शने सम्यग्ज्ञाने सम्यक्चारित्रे चेत्यर्थः।

किं जंपिएण बहुणा अत्थो धम्मो य काममोक्खो य।
अण्णे वि अ वावारा भावम्मि परिट्ठिया सव्वे ॥ १६२ ॥

किं जल्पितेन बहुना अर्थो धर्मश्च काममोक्षश्च।
अन्येपि च व्यापारा भावे परिस्थिताः सर्वे ॥

किं जंपिएण बहुणा बहुना प्रचुरतरेण, जल्पितेन किं ? न किमपि। अत्थो धम्मो य काममोक्खो य अर्थो धन, धर्मो यतिश्रावकगोचरः, कामः पंचेंद्रियसुखदायिनी इष्टवनिता तस्या भोगः, मोक्षः सर्वकर्मक्षयलक्षणः। अण्णे वि अ वावारा अन्येऽपि च व्यापारा विद्यादेवता-साधनादयः। भावम्मि परिट्ठिया सव्वे भावे शुद्धपरिणामे परिस्थिता भावाधीना भवन्तीति भावार्थः। उक्तं च—

न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृन्मये।
भावेषु विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणं ॥ १ ॥
भाववि‍हूणउ जीव तुहं जइ जिणु वहहि सिरेण।
पत्थरि कमलु किं निप्पजइ जइ सिंचहि अमिएण ॥ २ ॥
सीसु नमंतह कवणु गुणु भाउ कुसुद्धउ आहं।
पारद्धीदूणउ नमइ दुक्कंतउ हरिणाह ॥ ३ ॥
अघ्नन्नपि भवेत् पापी निघ्नन्नपि न पापभाक्।
परिणामविशेषेण यथा धीवरकर्षकौ ॥ ४ ॥

१ भावविहीन' जीव ! त्वं यदि जिनं वहति शिरसा।
प्रस्तरे किं कमलं निष्पद्यते यदि सिंचेत् अमृतेन ॥

इय भावपाहुडमिणं सव्वं बुद्धेहि देसियं सम्मं ।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ अविचलं ठाणं ॥१६३॥

इति भावप्राभृतमिदं सर्वं बुद्धैः देशितं सम्यक् ।
यः पठति शृणोति भावयति स प्राप्नोति अविचलं स्थानम् ॥

इय भावपाहुडमिणं इति-एवं प्रकारं, भावप्राभृतमिदं भावप्राभृतनाम शास्त्रं । **सव्वं बुद्धेहि देसियं सम्मं** सर्वं बुद्धैः सर्वज्ञैः, देशितं कथितं सम्यङ्निर्वेदन। यथा मया कथितं सर्वं बुद्धैरप्येवमेवोक्तमिति भावार्थः । **जो पढइ सुणइ भावइ** य आसन्नभव्यो जीवः पठति गुर्वग्रेऽनुशीलयति अभ्यस्यति, सुणइ-एतदर्थमाकर्णयति, भावइ-श्रुत्वा श्रद्दधाति । **सो पावइ अविचलं ठाणं** स आसन्नभव्यो मुनिपुंगवः, प्राप्नोति लभते, अविचलं निश्चलं, स्थानं मोक्षपदमिति सिद्धम् ।

इति **श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृध्रपिच्छा**-चार्यनामपंचकविराजितेन **श्रीसीमन्धरस्वामि**सम्यग्बोधसंबोधितभव्यजनेन **श्रीजिनचन्द्रसूरि**भट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतभा-ष्यमध्ये सर्वमुनिमण्डलीमण्डितेन कलिकालगौतमस्वामिना **श्रीमल्लिभूषणेन** भट्टारकेणानुमतेन सकलविद्वज्जनसमाजसम्मानितेनोभयभाषाकविचक्रवर्तिना **श्री-विद्यानन्दि**गुर्वन्तेवासिना **श्रीदेवेन्द्रकीर्ति**प्रशिष्येण सूरिवर**श्रीश्रुतसागरेण** विरचिता भावप्राभृतटीका—

परिसमाप्ता ।

मोक्षप्राभृतं ।

अथ देवेन्द्रयशोगुरुविद्यानन्दीश्वरस्य शिष्येण ।
मुक्तिप्रियामुखाम्बुजदिदृक्षुणा शिक्षितेन गुणे ॥ १ ॥
श्रुतसागरेण कवना विनापि गुरुणा विरच्यते सन्दिदा ।
मोक्षप्राभृतविवृतिर्टीकाऽलीकप्रमुक्तेन ॥ २ ॥
याचकजनकल्पतरुः स्वैरपि मिथ्यामतादिशृङ्गेषु ।
भव्यजनजनकतुल्यो विवेकवान् महिभूषणो जयति ॥ ३ ॥

गीतिरार्या ।

णाणमयं अप्पाणं उवलद्धं जेण झडियकम्मेण ।
चइऊण य परदव्वं णमो णमो तस्स देवस्स ॥ १ ॥

ज्ञानमय आत्मा उपलब्धो येन क्षरितकर्मणा ।
त्यक्त्वा च परद्रव्य नमो नमस्तस्मै देवाय ॥

णाणमयं अप्पाणं ज्ञानमय आत्मा । उवलद्धं-जेण-झडियकम्मे
उपलब्धो येन क्षरितकर्मणा । चइऊण य परदव्वं त्यक्त्वा च परद्र
शरीरं कर्म च परित्यज्य नमो नम –पुनः पुनर्नम । तस्य देवस्य–तस्
देवायेति भावार्थः ।

णमिऊण य तं देवं अणंतवरणाणदंसणं सुद्धं ।
वोच्छं परमप्पाणं परमपयं परमजोईणं ॥ २ ॥

नत्वा च तं देव अनन्तवरज्ञानदर्शन शुद्धम् ।
वक्ष्ये परमात्मानं परमपद परमयोगिनाम् ॥

---

१ ह्लादिनी वज्रमस्त्री स्यात् कुलिश भिदुर पवि. ।
शतकोटिः स्वरुः शम्बो दंभोलिरशनिर्द्वयो ॥
२ अस्मादग्रे ॐ नमः सिद्धेभ्यः इति पाठ. । ख. पुस्तके तु नास्ति ।
३ वुच्छं, क्वचित् ।

णमिऊण य तं देवं नत्वा च तं देवं सर्वज्ञवीतरागं । कथंभूतं
, अणंतवरणाणदंसणं सुद्धं अनन्तवरज्ञानदर्शनं शुद्धं अनन्तज्ञान-
नन्तदर्शनमनन्तवीर्यमनन्तसौख्यमित्यर्थः, शुद्धं घातिकर्मसंघातेन
र्मटस्वरूपं अष्टादशदोषरहितमित्यर्थः । वोच्छं परमप्पाणं वक्ष्यामि
कथयिष्यामि । कः कर्ता ? अहं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः, कं वक्ष्ये ? पर-
मात्मानं शुद्धनयेन परमात्मानं अर्हत्सिद्धात्मानं । कथंभूतं परमात्मानं,
परमपयं परमपदं परमं उत्कृष्टं इन्द्रादिदेव-नरेन्द्रादिमानव-गणधरादिमहा-
मुनीश्वरसंयुक्तसमवशरणस्थानमण्डितं । अथ केषां परमात्मानं वक्ष्यामि ?
परमजोईणं परमयोगिनां दिगम्बरगुरूणां । इत्यनेन मुनीनामेव परमा-
त्मध्यानं घटते । तप्तलोहगोलकसमानगृहिणां परमात्मध्यानं न संगच्छते ।
तेषां दानपूजापर्वोपवाससम्यक्त्वप्रतिपालनशीलव्रतरक्षणादिकं गृहस्थधर्म
एवोपदिष्टं भवतीति भावार्थः । ये गृहस्था अपि सन्तो मनागात्मभाव-
नामासाद्य वयं ध्यानिन इति ब्रुवते ते जिनधर्मविराधका मिथ्यादृष्टयो
ज्ञातव्याः । अदपाचारा गृहस्थधर्मादपि पतिता उभयभ्रष्टा वेदितव्याः ।
ते लौंकाः, तन्नामग्रहणं तन्मुखदर्शनं प्रभातकाले न कर्तव्यं इष्टवस्तुभो-
जनादिविघ्नहेतुत्वात् । ते जिनस्नपनपूजादानादिसद्धर्मघातका ज्ञातव्याः ।

जं जाणिऊण जोई जो अत्थो जोइऊण अणवरयं[1] ।
अव्वाबाहमणंतं अणोवमं हवइ[2] णिव्वाणं ॥ ३ ॥

यज्ज्ञात्वा योगी यमर्थं दृष्ट्वाऽनवरतम् ।
अव्याबाधमनन्तं अनुपमं भवते निर्वाणम् ॥

जं जाणिऊण जोई यं अर्थं आत्मतत्त्वं ज्ञात्वा हे योगिन् ! जो
अत्थो जोइऊण अणवरयं (यं) अर्थं तत्त्वं, जोइऊण—दृष्ट्वा ज्ञानेन

१ जोयत्थो ग. । योगस्थो ध्यानस्थ इत्यर्थः । २ हवइ. ग. ।

मस्तुल्निश्चयनयेन शरीरं न स्पृशति, कर्मबन्धनबद्धोऽपि सन् कर्मबन्धनै-र्बद्धो न भवति नलिनीदलस्थितजलवदित्यादृशं भेदज्ञानं आत्मसंकल्प उच्यते स आत्मसंकल्पो यस्य जीवस्य वर्तते सोऽन्तरात्मा वेदितव्यः । **कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो** कर्मकलङ्कविमुक्तो द्रव्य-कर्मभावकर्मनोकर्मरहितः सिद्धपरमेश्वरो देवः परमात्मा भण्यते—अर्हन् परमेश्वरः सामान्यकेवली च परमात्मा कथ्यते तस्य जीवन्मुक्तत्वात् । उक्तं च—

आत्मभ्रात्मविलोपनात्मचरितैरासीर्दुरात्मा चिरं
स्वात्मा स्याः परमात्मनीनचरितैरात्मीकृतैरात्मनः ।
आत्मेत्यां परमात्मतां प्रतिपतन् प्रत्यात्मविद्यात्मकः
स्वात्मोत्थात्मसुखो निषीदसि लसन्नध्यात्ममध्यात्मना ॥१॥

मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा ।
परमेट्ठी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो ॥ ६ ॥

मलरहितः कलत्यक्तः अनिन्द्रियः केवलो विशुद्धात्मा ।
परमेष्ठी परमजिनः शिवङ्करः शाश्वतः सिद्धः ॥

मलरहिओ कलचत्तो मलरहितः कर्ममलकलंकरहितः, कलया शरीरेण त्यक्तः कलत्यक्तः । योकारौ स्त्रीकृतौ ह्रस्वौ क्वचित् यथा इष्टकाचितं इषीकतूलमिति । **अणिंदिओ**[1] **केवलो विसुद्धप्पा** अनि-न्द्रिय इन्द्रियज्ञानरहितः केवलज्ञानेन द्रव्यपर्यायस्वरूपं जानन्नित्यर्थः । उक्तं च पुष्पदन्तेन महाकविना—

सर्वह्नु अणिंदिओ णाणमओ जो मयमुद्दु न पत्तियइ ।
सो णिंदिओ पंचिंदियनिरओ वइतरणिहि पाणिउ पियइ ॥२॥

1 चित्तो. मू. क. । २ ई+आ इति ऐदोत्र ज्ञातव्यः ।
3 सर्वज्ञः अनिन्द्रियः ज्ञानमयो यो मदमूढः न प्रत्येति ।
स निन्दकः पंचेन्द्रियनिरतः वैतरण्याः पानीयं पिबति ॥

अथवा–अणिंदिओ–अनिंदित इन्द्रधरणेन्द्रनरेन्द्रखगेन्द्रादीनां स्तुत्य इत्यर्थः। उक्तं च सुलोचनाकान्तेन—

शमिताखिलविभ्रमस्तवस्त्वयि तुच्छोऽप्युपयात्यतुच्छतां।
शुचिशुक्तिपुटेऽम्बुविप्रुट् ननु मुक्ताफलतां प्रपद्यते ॥ १ ॥
घटयन्ति न विघ्नकोटयो निकटे स्वत्क्रमयोर्नियामिनां।
पटवोऽपि पदं दवाग्निभिर्भयमस्त्यम्बुधिमध्यवर्तिनां ॥ २ ॥
हृदये त्वयि सन्निधापिते रिपवः केऽपि भयं विधित्सवः।
यमुनादिषु सत्सु सन्ततं विषभेदार्पितविप्लवः कुतः ॥ ३ ॥
अपयान्ति समस्तसम्पदो विपदो विच्युतिमाशु यन्त्यलं।
वृषभं वृषमार्गदेशिनं झषकेतुच्छिदमाश्रुपां ॥ ४ ॥
इत्थं भवन्तमतिभक्तिपथं निनीषोः, प्रागेव बन्धकलयः प्रलयं प्रयान्ति।
पश्चादनश्वरमयाचितमप्यवद्यं,संपत्स्यतेऽस्य विलसद्गुणभद्रभद्रं॥

केवलोऽसहायः केवलज्ञानमयो वा, के परब्रह्मणि निजशुद्धबुद्धैकस्वभावे आत्मनि बलमनन्तवीर्यं यस्य स भवति केवलः, अथवा केवले सेवते निजात्मनि एकलोलीभावेन तिष्ठतीति केवलः। विसुद्धाप्पा-विशेषेण शुद्धः कर्ममलकलंकरहित आत्मा स्वभावो यस्य स विशुद्धात्मा। **परमेट्ठी परमजिणो** परमेष्ठी परमजिनः, परमे इन्द्रधरणेन्द्रनरेन्द्रमुनीन्द्रादिवंदिते पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी पंचपरमेष्ठिरूपः, परमजिणो–परा उत्कृष्टा प्रत्यक्षलक्षणोपलक्षिता मा प्रमाणं यस्येति परमः, अथवा परेषां भव्यप्राणिनां उपकारिणी मा लक्ष्मी समवशरणविभूतिर्यस्येति परमः, अनेकविषमभवगहनदुःखप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयति समूलकाषं कषतीति जिनः परमश्चासौ जिनः परमजिनः तीर्थंकरपरमदेवः। **सिवंकरो** शिवं परममंगलं करोति शिवंकरः, अथवा शिवं मोक्षं करोति भक्तभव्यजीवानां मोक्षं विदधातीति शिवंकरः शिवंतातिरपरपर्यायः। **सासओ**

१ अस्मादग्रे तथाहि-इति पाठः ख. पुस्तके।

रामद्भवः शाश्वतोऽविनश्वरः । सासवो-इति च क्वचित् पाठो दृश्यते तत्रायमर्थः—साश्रयः भक्तभव्यानां आश्रयणसमर्थ इत्यर्थः । **सिद्धो** सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिर्विद्यते यस्य स सिद्धः परमनिर्वाणपदमारूढ इत्यर्थः ।

तदुक्तं—तस्य त्रिविधस्यात्मनः स्वरूपं शास्त्रान्तरेऽपि प्रोक्तमस्तीति श्रीकुन्दकुन्दाचार्या निरूपयन्ति—

आरुहवि अंतरप्पा बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण ।
झाइज्जइ परमप्पा उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥ ७ ॥

आरुह्य अन्तरात्मानं बहिरात्मानं त्यक्त्वा त्रिविधेन ।
ध्यायते परमात्मा उपदिष्टं जिनवरेन्द्रैः ॥

आरुहवि अंतरप्पा आरुह्य प्रादुर्भाव्य आश्रित्येति, किं ? अंतरप्पा—अन्तरात्मानं भेदज्ञानावलम्बनं कृत्वेत्यर्थः । **बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण** त्रिविधेन मनोवचनकायैर्बहिरात्मानं त्यक्त्वा । **झाइज्जइ परमप्पा** ध्यायते अहर्निशं चिंत्यते, कोऽसौ ? परमात्मा निश्चयनयेन कर्ममलकलंकरहितः सिद्धस्वरूपः निजपरमात्मा ध्यायते अर्हत्सिद्धस्वरूपोऽवलोक्यते द्विविधमभ्यासं कुर्वाणो मुनिः परमात्मानमेव प्राप्नोति—अर्हत्सिद्धसदृशो भवति । तथा चोक्तं—

आत्मा मनीषिभिरयं त्वदभेदबुद्ध्या
ध्यातो जिनेन्द्र ! भवतीह भवत्प्रभावः ।
पानीयमप्यमृतमित्यनुचिन्त्यमानं
किं नाम नो विषविकारमपाकरोति ॥ १ ॥

उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं उपदिष्टं प्रतिपादितं । कैः, जिनवरेन्द्रैः श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागैरिति शेषः ।

बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचुओ।
णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठी ओ ॥ ८ ॥

बहिरर्थे स्फुरितमना इन्द्रियद्वारेण निजस्वरूपच्युतः।
निजदेहं आत्मानमध्यवस्यति मूढदृष्टिस्तु ॥

बहिरत्थे फुरियमणो बहिरर्थे इष्टवनितासुतस्वापतेयादौ स्फु चमत्कृतं मनो यस्य स इष्टार्थे स्फुरितमनाः। **इंदियदारेण णियस वचुओ** इन्द्रियद्वारेण इन्द्रियेषु प्रविश्य, निजस्वरूपच्युत आत्मभावना प्रभ्रष्टः। **णियदेहं अप्पाणं** निजदेहं स्वकीयशरीरं आत्मानमध्यवस तीति सम्बन्धः–शरीरमात्मानं जानातीत्यर्थः। **अज्झवसदि मूढदि ओ** अध्यवस्यति मूढदृष्टिस्तु ममायं काय आत्मेति जानाति मूढदृष्टि हिरात्मेति भावार्थः।

णियदेहसरिस्सं पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण।
अचेयणं पि गहियं झाइज्जइ परमभाएण ॥ ९ ॥

निजदेहसदृशं दृष्ट्वा परविग्रहं प्रयत्नेन।
अचेतनमपि गृहीतं ध्यायते परमभावेन ॥

णियदेहसरिस्सं पिच्छिऊण निजदेहसदृशं सदृशं पिच्छिऊ दृष्ट्वा। **परविग्गहं पयत्तेण** परविग्रहं इष्टवनितादिशरीरं, पयत्तेण–प्र त्नेन मलमूत्रशुक्रशोणितमांसकीकसचर्मरोमादिदुर्गन्धापवित्रादिपरिणामभ वेन। **अचेयणं पि गहियं** अचेतनमपि आत्मना गृहीतं जीवेन स्त्रीकृतं **झाइज्जइ परमभाएण** ध्यायते शरीरस्वरूपं चिन्त्यते परमभा पृथक्तया भेदज्ञानेन–शरीरं भिन्नं आत्मा भिन्नो वर्तते इति भेदं कृत त्पर्यः। तथा चोक्तं—

१ चओ. मूले.। २ मिच्छभावेण. ग. घ अन्यत्र च।

आत्मा भिन्नस्तदनुगतिमत् कर्म भिन्नं तयोर्या
प्रत्यासत्तेर्भवति विकृतिः सापि भिन्ना तथैव।
कालक्षेत्रप्रमुखमपि यत्तच्च भिन्नं मतं मे
भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालङ्कृतं सर्वमेतत्॥ १॥

सपरज्झवसाएणं देहेसु य अविदिदत्थमप्पाणं।
सुयदाराईविसए मणुयाणं वड्डए मोहो॥ १०॥

स्वपराध्यवसायेन देहेषु च अविदितार्थमात्मनम्।
सुतदारादिविषये मनुजानां वर्धते मोहः॥

सपरज्झवसाएणं स्वपराध्यवसायेन परवस्तुशरीरादिकं स्वमात्मानं मन्यते स्वपराध्यवसायः। केषु पदार्थेषु, देहेसु य शरीरेषु च, चकाराद्वनितादिषु च, शरीरं वनितासुतस्वापतेयादिकं वस्तु खलु परकीयं वर्तते तत्र। अविदिदत्थं अविदितार्थं यथावत्स्वरूपपरिज्ञानरहितार्थं यथा भवत्येवं वर्तमान आत्मा। अप्पाणं इति जीवः आत्मानं जानीते तच्च देहादिकं वस्तु आत्मा न भवति। तेन विपरीताभिनिवेशेन सुयदाराईविसए सुतदारादिविषये पुत्रकलत्रादिषु। मणुयाणं वड्डए मोहो मनुजानां मानवानां वर्धते मोहः—स्नेहेनाज्ञानमूलं मोहो वैचित्त्यं वृद्धिं याति, मोहेन परिणतो जीवो बहिरात्मा पुनः कर्माष्टौ बध्नाति। उक्तं च—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन॥ १॥

मिच्छाणाणेसु रओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो।
मोहोदएण पुणरवि अंगं सं मण्णए मणुओ॥ ११॥

मिथ्याज्ञानेषु रतः मिथ्याभावेन भावितः सन्।
मोहोदयेन पुनरपि अङ्गं स्वं मन्यते मनुजः॥

मिच्छाणाणेसु रओ मिथ्याज्ञानेषु रतोऽयं मनुजो जीवः। मिच्छाभावेण भाविओ संतो मिथ्यापरिणामेन कुगुरुकुदेवभक्त्या भावितो

वासित मन । **मोहोदएण पुणरवि** मोहोदयेन मिथ्यामोहस्य त्रिविधस्योदयेन विपाकेन, पुनरपि भूयोऽपि । **अंगं सं मण्णए मणुओ** अंगं शरीरं, स्वमात्मानं, मन्यते जानाति, मनुओ मनुष्यो मिथ्यादृष्टि जीव इत्यर्थः ।

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारम्भो ।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥ १२ ॥

यो देहे निरपेक्षः निर्द्वन्द्वः निर्ममः निरारम्भः ।
आत्मस्वभावे सुरतः योगी स लभते निर्वाणम् ॥

जो देहे णिरवेक्खो यो योगी देहे शरीरे निरपेक्ष उदासीनो ममत्वेन च्युत । **णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो** निर्द्वन्द्वो निष्कलहः केनापि सह कलहरहित । अथवा निर्द्वन्द्वो निर्युग्मः स्त्रीभोगरहितः "द्वन्द्वं कलहयुग्मयो" इति वचनात् । निर्ममो ममत्व रहितः, ममेति अदन्तोऽव्ययशब्द निर्गतं ममेति परिणामो यस्येति निर्ममः । उक्तं च—

अकिंचनोऽहमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः ।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥ १ ॥

निरारम्भ सेवाकृषिवाणिज्यादिकर्मरहितः । उक्तं च—

आरंभे णत्थि दया महिलासंगेण णासए बंभं ।
संकाए सम्मत्तं पव्वज्जा अत्थगहणेण ॥ १ ॥

आदसहावे सुरओ आत्मस्वभावे टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावचिच्चमत्कारलक्षणनिजशुद्धबुद्धैकपरिणामे जीवतत्वे सुष्ठु—अतिशयेन रत एक-

१ नि मु । २ नि मू । ३ आस्स्व इत्यपि क्वचित्पाठः ।
४ आरंभे नास्ति दया महिलासंगेन नाशयति ब्रह्म ।
शंकया सम्यक्त्वं प्रव्रज्या अर्थग्रहणेन ॥
५ ए टी ।

धरिसंसयदिकिरियाए अज्झाए अत्र दिक्खिओ साहू ।
अभिगमण वंदण नमंसणेण विणएण सो पुज्जो ॥ १ ॥

इति गाथा अप्रमाणं भवति यदि स्त्रीणां मुक्तिः स्यात् ।

परदव्वरओ बज्झइ विरओ मुचेइ विविहकम्मेहि ।
एसो जिणउवएसो समासओ बंधमोक्खस्स ॥ १३ ॥

परद्रव्यरतः बध्यते विरतः मुच्यते विविधकर्मभिः ।
एष जिनोपदेशः समासतः बन्धमोक्षस्य ॥

परदव्वरओ बज्झइ परद्रव्यं शरीरादिकं तत्र रतो बध्यते ब-
न्धमाप्नोति चौरवत्, यथा चौरः परद्रव्यं चोरयन् पुमान् राजकीयैर्ब-
ध्यते, यो न परद्रव्यं चोरयति स न बध्यते । विरओ मुच्चेइ विविह-
कम्मेहिं विरतः परद्रव्यपराङ्मुखः पुमान् मुच्यते-मुक्तो भवति विविधै-
र्नानाप्रकारैः कर्मभिर्ज्ञानावरणादिभिः । एसो जिणउवएसो एष जि-
नोपदेशः । समासओ बंधमोक्खस्स समासतः संक्षेपात्, बन्धमोक्ष-
स्य बन्धेनोपलक्षितो मोक्षो बन्धमोक्षः तस्य बन्धमोक्षस्य । अथवा बन्ध-
मोक्षश्च बन्धमोक्षौ समाहारद्वन्द्वस्तस्य ।

सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण ।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठकम्माणि ॥ १४ ॥

स्वद्रव्यरतः श्रमणः सम्यग्दृष्टिर्भवति नियमेन ।
सम्यक्त्वपरिणतः पुनः क्षिपति दुष्टकर्माणि ॥

---

१ धर्मश्रवणे क्रियायां भावनायां अत्र दीक्षितः साधुः ।
अभिगमनेन वन्दनया नमस्कारेण विनयेन स पूज्यः ॥

२ अत्र इयानेव गाथा जिनप्रदत्ता इति क पुस्तके, ख पुस्तके तु एव जि-
नदेश इति । अनेनैव पाठेन संस्कृतं तत्पुस्तके ।

परदव्वादो दुग्गई परद्रव्याद्दुर्गतिः परमात्मध्यानं परिहृत्य परद्रव्ये परिणमनान्नरकादिषु चतसृषु गतिषु पतनं हे जीव ! तव भवति। **सद्दव्वादो सुग्गई हवइ** स्वद्रव्यादात्मद्रव्ये एकलोलीभावात् सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणात् सुगतिर्भवति मुक्तिर्भवति। **इय णाऊण सदव्वे** इति ज्ञात्वा ईदृशमर्थं परिज्ञाय स्वद्रव्ये आत्मतत्त्वे। **कुणह रई विरइ इयरम्मि** कुरुत यूयं रतिं भावनां, विरतिं विरमणं, इतरस्मिन् परद्रव्ये, मा रज्यत यूयमिति।

तं परदव्वं सद्दव्वं च केरिसं हवदि। तं जहा—

तत्परद्रव्यं स्वद्रव्यं च कीदृशं भवति। तद्यथा–तदेव निरूपयत्याचार्यः —

आदसहावादण्णं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवदि।
तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरसीहिं॥ १७॥

आत्मस्वभावादन्यत् सचित्ताचित्तमिश्रितं भवति।
तत् परद्रव्यं भणितं अवितथं सर्वदर्शिभिः॥

आदसहावादण्णं आत्मस्वभावादन्यत् पुद्गलादिद्रव्यं। **सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवदि** सचित्तं विद्यमानचेतनं इष्टवनितादिकं, अचित्तं अचेतनं धनकनकवसनादिकं, मिश्रितं आभरणवस्त्रादिसंयुक्तं कलत्रादिकं भवति। **तं परदव्वं भणियं** तत्परद्रव्यं भणितं–आगमे प्रतिपादितं। **अवितत्थं सव्वदरसीहिं** अवितथं सत्यरूपं सर्वदर्शिभिः श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागैरिति शेषः।

दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं।
सुद्धं जिणेहि कहियं अप्पाणं हवदि सद्दव्वं॥ १८॥

१ भवदि मूलगाथा पाठः। हवइ अन्यत्र।

जिनवरमतेन योगी ध्याने ध्यायति शुद्धमात्मानम् ।
येन लभते निर्वाणं न लभते किं तेन सुरलोकम् ॥

जिणवरमएण जोई जिनवरमतेन जिनशासनेन सम्यक्श्रद्धान्ज्ञानानुभवनलक्षणेन रत्नत्रयेण योगी दिगंबरो मुनिः । **झाणे झाएइ सुद्ध प्पाणं** ध्याने एकाग्रचिन्तानिरोधलक्षणे, ध्यायति चिंतयति, शुद्धं रा द्वेषमोहादिरहितं कर्ममलकलंकरहितं टंकोत्कीर्णस्फटिकमणिबिम्बवज्ज्ञायकैकस्वभावं चिच्चमत्कारस्वरूपं, आत्मानं निजात्मतत्त्वं । **जेण ल णिव्वाणं** येनात्मध्यानेन लभते निर्वाणं सर्वकर्मक्षयलक्षणमोक्षमनन्तसौख्यं । **ण लहइ किं तेण सुरलोयं** तेनात्मध्यानेन न लभते किं प्राप्नोति सुरलोकं स्वर्गभोगं । तथा चोक्तं—

तृष्णा भोगेषु चेद्भिक्षो ! सहस्वाल्पं स्वरेव ते ।
प्रतीक्ष्य पाकं किं पीत्वा पेयां भुक्तिं विनाशयेः ॥ १ ॥

जो जाइ जोयणसयं दियहेणेक्केण लेवि गुरुभारं ।
सो किं कोसद्धं पि हु ण सक्कए जाहु भुवणयले ॥ २१

यो याति योजनशतं दिनेनैकेन लात्वा गुरुभारम् ।
स किं क्रोशार्धमपि हु न शक्यते यातुं भुवनतले ॥

जो जाइ जोयणसयं यो याति यः पुमान् याति गच्छति, किं ? योजनशतं सहस्रयोजनदशमभागं । **दियहेणेक्केण लेवि गुरुभारं** दिवसेनैकेन लेवि-लात्वा गृहीत्वा, कं ? गुरुभारं महाभारं । **सो किं कोसद्धं पि हु** स पुमान् (किं) क्रोशार्धमपि हु—स्फुटं । **णं सक्कए जाहु भुवणयले** न शक्नोति न समर्थो भवति यातुं भुवनतले पृथिवीमण्डले अपि तु गव्यूतिचतुर्थमंशं यातुं शक्नोत्येव ।

१ वेयं पाठान्तरं । २ म. टी ।

अइसोहणजोएणं अतिशोभनयोगेन सामग्र्या अनन्धपाषाणादिकं अग्निमध्ये पचितं गुरूपदिष्टौषधयोगेन। **सुद्धं हेमं हवेइ जह तह य** शुद्धं षोडशवर्णिकं हेमं सुवर्णं भवति यथा तह य–तथा च तथैव च **कालाईलद्धीए** कालादिलब्ध्या कृत्वा कालादिलब्धिं लब्ध्वा वा। **अप्पा परमप्पओ हवदि** आत्मा संसारी जीवः परमात्मा भवति–अर्हन् सिद्धश्च संजायते। उक्तं च—

नागफणीए मूलं नागिणितोएण गब्भणाएण।
नागं होइ सुवण्णं धम्मंतं पुण्णजोएण॥ १॥

अस्या अयमर्थः–नागफणीए मूलं–नागौषधिः। नागिणितोएण–हस्तिनीमूत्रेण विद्धा। गब्भणाएण–गर्भे नागः सीसको यस्य स गर्भनागः सिन्दूरः सोऽपि मध्ये क्षिप्त्वा मर्द्यते। नागं होइ सुवण्णं–नागः सीसकः। एतत्सर्वं मृत्तिकाभाजने क्षिप्त्वा अधोऽग्निः क्रियते खदिराङ्गारैर्ध्मायते सुवर्णं भवति। पुण्ययोगेन पुण्ययोगं विना सुवर्णं न भवति ब्रह्मादिश्रद्धस्येति भावः तथापि आत्मा कालादिलब्धिं प्राप्य सिद्धपरमेष्ठी भवतीति भावार्थः।

वर वयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं॥ २५॥

वरं व्रततपोभिः स्वर्गः मा दुःखं भवतु नरके इतरैः।
छायातपस्थितानां प्रतिपालयतां गुरुभेदः॥

वर वयतवेहि सग्गो वरं ईषद्रुचौ वरं श्रेष्ठं व्रतैस्तपोभिश्च स्वर्गो भवति तद्वरं। मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं मा दुःखं भवतु निरइ–नरकावासे, इतरैरव्रतैरतपोभिश्च। छाया तवट्ठियाणं छायातप-

१ नागेन. टी.। २ धमतां। ३ ए. मूलगाथा पाठः।

गारवं च शब्दगारवं—अहं वर्णोच्चारं रुचिरं जानामि न चैते यतयः, ऋद्धिगारवं-शिष्यादिसामग्री मम बह्वी वर्तते न चामीषां यतीनां, सातगारवं—अहं यतिरपि सन् इन्द्रसमसुखं चक्रिसुखं तीर्थकरसुखं भुञ्जानो वर्ते न चैते वराकाः । मदाः अष्ट—अहं ज्ञानवान् सकलशास्त्रज्ञो वर्ते, अहं मान्यो महामण्डलेश्वरा मत्पादसेवकाः । कुलमपि मम पितृपक्षोऽतीव शोभनः कोऽपि ब्रह्महत्या-ऋषिहत्यादिभिरदोषः । जातिः मम माता संघस्य चतुर्दुहिता—शीलेन सुलोचना-सीता-अनन्तमती-चन्दनादिका वर्तते । बलं—अहं सहस्रभटो लक्षभटः कोटिभटः । ऋद्धिः—ममानेकलक्षकोटिगणनं धनमासीत् तदपि मया त्यक्तं अन्ये पुनर्यो ऽश्रमणा सन्तो दीक्षां जगृहुः । तपः—अहं सिंहनिष्क्रीडितविमानपंक्तिः [illegible] कनकावलीरत्नावलीमुक्तावल्यादि [illegible] महातपांसि [illegible] मम अन्ये । तप कुर्वन्ति गते, एते तु यतयो निर्व्या[illegible] । वपुः ममरूपाग्रे कामदेवोऽपि दासवत् [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] पुनर् [illegible] [illegible] । [illegible] वा [illegible] [illegible] । लोकव्यवहारस्वरूपं [illegible] न करोति [illegible] ।

अप्पा अप्पइ अप्पणउं आत्मानं, ध्यायति चिन्तयति, ज्ञानात्[illegible] [illegible] ॥ [illegible] ॥" [illegible] [illegible] [illegible]

१ [illegible]
[illegible]

केण हं तस्मात्कारणात् केन सहाहं जल्पामि, अथवा केन कारणेन जल्पामि तेन मे मौनमेव शरणं ।

सव्वासवणिरोहेण कम्मं खवदि संचिदं ।
जोयत्थो जाणए जोई जिणदेवेण भासियं ॥३०॥

सर्वास्रवनिरोधेन कर्म क्षिपयति संचितम् ।
योगस्थो जानाति योगी जिनदेवेन भाषितम् ॥

सव्वासवणिरोहेण [1]सर्वेषामास्रवाणां मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगलक्षणानां निरोधेन निषेधेन । **कम्मं खवदि संचिदं** कर्म क्षिपयति पूर्वोपार्जितं तडागेऽभिनवजलप्रवेशाभावे संचितपूर्वजलशोषवत् । **जोयत्थो जाणए जोई** योगस्थः ध्यानस्थितः आत्मैकलोलीभावमिलितो जानाति केवलज्ञानमुत्पादयति योगी शुक्लध्यानविशेषागमभाषया केवली भवति । **जिणदेवेण भासियं** सिद्धार्थनृपनन्दनेन वीरेण कथितमिति भावः ।

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ॥३१॥

यः सुप्तो व्यवहारे स योगी जागर्ति स्वकार्ये ।
यो जागर्ति व्यवहारे स सुप्त आत्मनः कार्ये ॥

जो सुत्तो ववहारे यो मुनिः सुप्तः, क ? व्यवहारे व्यवहारमध्ये न पतितः । **सो जोई जग्गए सकज्जम्मि** स योगी जागर्ति सावधानो भवति, स्वकार्ये आत्मकार्ये कर्मक्षयविधाने । **जो जग्गदि ववहारे** यो योगी जागर्ति सावधानो भवति, क ? व्यवहारे लोकोपचारे । **सो सुत्तो अप्पणे कज्जे** स योगी मुनिः सुप्तो न वेदयतेऽसावधानो भवति आत्मनः कार्ये आत्मस्वरूपे । उक्तं च—

[1] सर्वेषामास्रवाणामिति पाठः क. पुस्तके नास्ति । स पुस्तकात् संयोजितः ।

त्तयसंजुत्तो मिथ्यात्वकंदकुदालः सम्यग्ज्ञानानुशीलनकुशलः सप्तविंशतिविग्रगात्रः। झाणज्झयणं मया कुणह ध्यानाध्ययनं सदा सर्वकाले कुरु त्वं हे जीव! इति तात्पर्यार्थः।

रयणत्तयमाराहं जीवो आराहओ मुणेयव्वो ॥
आराहणाविहाणं तस्स फलं केवलं णाणं ॥३४॥

रत्नत्रयमाराधयन् जीव आराधको मुनितव्यः।
आराधनाविधानं तस्य फलं केवलं ज्ञानम् ॥

रयणत्तयमाराहं[1] रत्नत्रयमाराधयन्। जीवो आराहओ मुणेयव्वो जीव आत्मा आराधको मुनितव्यो ज्ञातव्यः। आराहणाविहाणं इदमाराधनाविधानं विधिः। तस्स फलं केवलं णाणं तस्याराधनाविधानस्य, किं फलं केवलं ज्ञानं अनन्तकेवलज्ञानमिति अनन्तचतुष्टयं।

सिद्धो सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोयदरसी य ।
सो जिणवरेहिं भणियो जाण तुमं केवलं णाणं ॥३५॥

सिद्धः शुद्धः आत्मा सर्वज्ञः सर्वलोकदर्शी च ।
स जिनवरैः भणितः जानीहि त्वं केवलं ज्ञानम् ॥

सिद्धो सुद्धो आदा सिद्ध आत्मोपलब्धिमान्। शुद्धः कर्ममलकलंकरहितः, ईदृग्विध आत्मा अतति समयैकेन ऊर्ध्वं व्रज्यास्वभावेन त्रिभुवनाग्रं गच्छतीति आत्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावः। सव्वण्हू सव्वलोयदरिसी य सर्वज्ञः त्रैलोक्यालोकस्वरूपज्ञायककेवलज्ञानसमुपेतः, सर्वलोकदर्शी च सर्वशब्देनालोकाकाशो लभ्यते लोकशब्देन षड्द्रव्याधारभूतत्रिभुवनमुच्यते तद्द्वयं द्रष्टुं अवलोकयितुं शीलमस्येति सर्वलोकदर्शी। चकार उक्तविशेषणसमुच्चयार्थः तेनानन्तवीर्यानन्तसौख्यादिवाद्यादिरनन्त-

१ रयणत्तयमाराहं अयं पाठः क. पुस्तके नास्ति, ख पुस्तकात् संयोजितः।
२ सौख्यादादि इ. ख. पुस्तके पाठः।

जं जाणइ तं णाणं यज्जानाति तज्ज्ञानं आत्मैव जानाति तेनात्मैव ज्ञानमित्यर्थः। "कृत्यल्युटोऽन्यत्रापि" इति वचनात् कर्तरि युट्। **जं पिच्छइ तं च दंसणं णेयं** यत्कर्तृभूत, पश्यति तद्दर्शनं ज्ञेयं ज्ञातव्यं आत्मैव पश्यति तेन कारणेनात्मैव दर्शनं। अत्रापि पूर्ववत् कर्तरि युट्। **तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं** तच्चारित्रं भणितं प्रतिपादितं, तत्किं? परिहारः पुण्यपापानां आत्मैव पुण्यं पापं च परिहरति तेनात्मैव चारित्रं। "पापक्रियाविरमणं चरणं किल" इति वचनात्। तथा चोक्तं—

न किंचित् पापाय प्रभवति न वा पुण्यततये
प्रसिद्धेद्धां शुद्धिं समधिवसतो भ्रमविधुरां।
भवेत् पुण्यायैवाखिलमपि विशुद्धयंगमपरं
मतं पापायैवेत्युदितमभवताद्वो मुनिपतेः ॥ १ ॥

मुनिपतिरत्र विद्यानन्दी समन्तभद्रो वा मंतव्यः।

अण्णं च—अन्यच्च वचनमस्तीति भगवंतो निरूपयन्ति—

तच्चरुई सम्मत्तं तच्चग्गहणं च हवइ सण्णाणं।
चारित्तं परिहारो पयंपियं जिणवरिंदेहिं ॥३८॥

तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं तत्त्वग्रहणं च भवति संज्ञानम्।
चारित्रं परिहारः प्रजल्पितं जिनवरेन्द्रैः ॥

तच्चरुई सम्मत्तं तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं तत्त्वानां जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षलक्षणोपलक्षितानां सप्तानां रुचिः श्रद्धा सम्यक्त्वमुच्यते। "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं" इति वचनात्। **तच्चग्गहणं च हवइ सण्णाणं** तत्त्वानां पूर्वोक्तसप्तपदार्थानां ग्रहणं सम्यग्विज्ञानं भवति संज्ञानं सम्यग्ज्ञानं। **चारित्तं परिहारो** चारित्रं पापक्रियापरिहरणं परिहारः सम्यक्चारित्रं भवति। **पयंपियं जिणवरिंदेहिं** प्रजल्पितं कथितं जिनवरेन्द्रैः।

श्रवणानां दिगम्बराणां अनगारयतीनां श्रावकाणामपि गृहस्थानां अपिशब्दाच्चातुर्गतिकजीवानामपि ।

जीवाजीवविहत्ती जोई जाणेइ जिणवरमएणं ।
तं सण्णाणं भणियं अवियत्थं सव्वदरिसीहिं ॥ ४१ ॥

जीवाजीवविभक्तिं योगी जानाति जिनवरमतेन ।
तत् संज्ञानं भणितं अवितथं सर्वदर्शिभिः ॥

जीवाजीवविहत्ती जीवाजीवानां विभक्तिं भेदस्तां जीवाजीववि-
भक्तिं । **जोई जाणेइ जिणवरमएणं** योगी दिगम्बरो मुनिः, जानाति
वेत्ति यथावत्स्वरूपमवैति, जिनवरमतेन सर्वज्ञशासनेन । **तं सण्णाणं
भणियं** तत्संज्ञानं भणितं-तत्सम्यग्ज्ञानं कथितं । **अवियत्थं सव्वद-
रिसीहिं** अवितथं सत्यभूतं, सर्वदर्शिभिः सर्वज्ञैरिति शेषः । उक्तं च-

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात् ।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥ १ ॥

जं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं ।
तं चारित्तं भणियं अवियप्पं कम्मरहिएण ॥४२॥

यत् ज्ञात्वा योगी परिहारं करोति पुण्यपापयोः ।
तत् चारित्रं भणितं अविकल्पं कर्मरहितेन ॥

जं जाणिऊण जोई यज्ज्ञात्वा विज्ञाय योगी जैनो मुनिः । **परि-
हारं कुणइ पुण्णपावाणं** परिहारं परित्यागं करोति पुण्यपापयोः ।
तं चारित्तं भणियं तदात्मना सहैकलोलीभावं तन्मयत्वं तत्पारि-
णतिरूपं च सहैकत्वान्तं चारित्रं यथाख्यातमासन्नं भणितं प्रतिपा-
दितं । केन **कम्मरहिएण** घातिकर्मविघातकेन सर्वज्ञेन । तत्कीदृशं
चारित्रं, **अवियप्पं** अविकल्पं संकल्पविकल्परहितं निर्विकल्पसमा-
धिरूपं यथाख्यातनामकं ।

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए।
सो पावइ परमपयं झायंतो अप्पयं सुद्धं ॥४३॥

यः रत्नत्रययुक्तः करोति तपः संयतः स्वशक्त्या।
स प्राप्नोति परमपदं ध्यायन् आत्मानं शुद्धम्॥

जो रयणत्तयजुत्तो [illegible] रत्नत्रययुक्तः [illegible] सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसहितः [illegible]। कुणइ तवं संजदो ससत्तीए करोति [illegible], किं तत् ? तपः इच्छानिरोधलक्षणं आत्मनि [illegible] तपनं, संयतो जैनो मुनिः [illegible], स्वशक्त्या आत्मशक्त्यनुसारेण। उक्तं च—

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहइ।
सद्दहमाणो जीवो पावइ अजरामरं ठाणं ॥ १ ॥

"शक्तितस्त्यागतपसी" इति वचनात्[1]। सो पावइ परमपयं स प्राप्नोति स मुनिर्लभते, किं तत् ? परमपदं इन्द्रधरणेन्द्रमुनीन्द्रनरेन्द्रवंदितं स्थानं परमनिर्वाणं। झायंतो अप्पयं सुद्धं ध्यायन् सन् एकाग्रमनसा चिन्तयन्, कं ? आत्मानं निजशुद्धबुद्धैकस्वभावात्मतत्त्वं, शुद्धं द्रव्यकर्मभावकर्मनोकर्मरहितं रागद्वेषमोहादिविवर्जितं कर्ममलकलङ्करहितं प्रत्यक्षतया प्राप्तमिति तात्पर्यार्थः।

तिहि तिण्णि धरवि णिच्चं तियरहिओ तह तिएण परियरिओ।
दोदोसविप्पमुक्को परमप्पा झायए जोई ॥ ४४ ॥

त्रिभिः त्रीन् धृत्वा नित्यं त्रिकरहितः तथा त्रिकेण परिकरितः।
द्विदोषविप्रमुक्तः परमात्मानं ध्यायते योगी ॥

---

१ सदन्वयोऽयं टीकायां नास्ति मूलात् संयोजितः।
२ यच्छक्नोति तत्क्रियते यच्च न शक्नुयात् तच्च श्रद्धीयते।
श्रद्दधानो जीवः प्राप्नोति अजरामरं स्थानं ॥

मालिनी । तयापि पृष्टः त्वं कः ? । स आह । अत्र गिरौ दक्षिणश्रेणौ किन्नरगीतपुरप्रभुरत्नमालिमनोहर्योः सुतोऽहं रुद्रमाली नाम । बहुभिर्दिनैः साधितविद्यार्चिमालिनीन्दुवदना सदनं जगाम । मातरपितरौ द्वयोर्मनो विज्ञाय तयोर्विवाहं चक्रतुः । तौ रतिसरंजितौ साधितप्रज्ञप्तिविद्यौ नन्दनवने शान्तिहेतवे जिनस्नपनपूजनस्तवनानि कृत्वा सुखं स्थितौ । मनोजयचित्तवेगौ तस्या मैथुनिकावागत्य महाज्वालिनीविद्यया रुद्रमालिने वद्ध्वा प्रगृह्य गतौ । सोऽपि तौ निर्जित्य पुनरागतः । अर्चिमालिन्या सह निजपुरं प्रविवेश । सानुरागस्तस्थौ । एकदा वैराग्यं प्राप्य चारणचरणमूले सभार्यो दिदीक्षे । तौ परस्परं ममायं कान्तो भविष्यति ममेयं प्राणप्रिया भविष्यतीति सनिदानौ सौधर्मं संन्यासेन गतौ । तत्रापि दीर्घकालं रतिसुखं भुक्त्वा गन्धारदेशे माहेश्वरपुरे स देवः सत्यन्धरमहाराजमयाः(?) [illegible] सुतः सात्यकिर्जातः । अर्चिमालिनीचरी देवी सौधर्माच्च्युत्वा सिन्धुदेशे विशालीपत्तने चेटकमहाराजसुप्रभादेव्योः सुता ज्येष्ठा जाता । सा सात्यके पूर्वमेव दत्ता । परं विवाहो न वर्तते । अत्रान्तरे श्रेणिकमहाराजपुत्र कन्यार्थं सागरार्हं(?) भूत्वा अभयकुमारो नाम धूर्तस्तत्रागतः । तत्र राजपुत्र्यौ चेलना ज्येष्ठा च चालयित्वा उपायं कृत्वा सुरंगया निर्गतः । तत्र चेलनया ज्येष्ठा आभरणादिमिषेण व्याघोटिता स्वयं श्रेणिकं आगता । यावज्ज्येष्ठा जिनप्रतिमां गृहीत्वा गच्छति तावत्तत्र कोऽपि न दृष्टः । तदा तु वञ्चिता "अहं दुष्टकन्यया वञ्चिता" इति वैराग्येण [illegible] पार्श्वे जिनताप[illegible]मूले दीक्षां जग्राह । अनन्तरं [illegible] कन्यायाः वार्तां श्रुत्वा सत्यकिनाम कुमारः [illegible] [illegible] समाधिगुप्तस्य [illegible] जिनदीक्षामग्रहीत् । त्रिगुप्ति[illegible]

१ अर्चिमालाः

सन् स तपस्तीव्रं कुर्वाण उत्तरगोकर्णमद्रिं मुक्त्वा कदाचित् राजगृहनगरसमीपे उच्चग्रीवपर्वते स्थितः। एकस्मिन् दिने तद्गुणानुरागिण्यस्तत्रत्यार्यास्तं वन्दितुमागताः। वन्दित्वा यावद्गिरेरवतरन्ति तावन्महामेघवृष्टिरागता। आर्यास्तु स्तिम्यन्त्यो विह्वलीभूता यत्र तत्र गताः। ज्येष्ठार्या सत्यकिमुनेर्गुहां प्रविष्टा। तत्र वस्त्रं निष्पीलयन्ती ज्येष्ठा सत्यकिना मुनिना दृष्टा। समुत्पन्नकामोद्रेकेण सा तेन भुक्ता। पुनरालोचनां निन्दां गर्हणं च कृत्वा श्रवणधर्मे स्थितः। सा सगर्भा शान्त्यार्यया ज्ञात्वा चेलन्याः समर्पिता। तत्र तिष्ठन्ती सा पुत्रमसूत। स पुत्रोऽभयकुमारेण स्वयंभूगुहायां क्षिप्तः। तत्र रात्रौ स्वप्नदर्शनाच्चेलनया स आनायितः। दर्शनोत्साहं शमयित्वा स्वयंभूनामा कृतः। ज्येष्ठा तु निःशल्या भूत्वा गता। आर्यायाः पार्श्वे संयमनियमान् पालयन्ती स्थिता। स्वयंभूस्तु वर्धमानः शिशूनां चपेटादिताडनेन सन्तापं करोति। तद्देव्या चेलनया अपरमपि कालेनायुक्तं दृष्ट्वा स्वयंभूरुक्तः। खलो जारजातो निर्लज्जः किं केनापि स्वभावं मुंचति। भ्रुकुटिं कृत्वा दुर्वचनेन शूलभिन्न इव ताडितः। पुनः स प्रणामं कृत्वा पृष्टवान्—मातः! किमेतदुक्तं? चेलनया तु न किमपि रक्षितं यथोक्तमुवाच। निजोत्पत्तिव्यतिकरं ज्ञात्वा उत्तरगोकर्णपर्वतं गत्वा सत्यकिमुनिं नत्वा वैराग्येण दिगम्बरो भूत्वा उत्तरगोकर्णपर्वते स्थितः। गुरुशिक्षया मनो रुद्ध्वा स एकादशाङ्गानि शिक्षितः। तत्र रोहिणीप्रभृतयः पंचशतविद्या महातिशया आगताः सिद्धाः। अपरा अपि अंगुष्ठप्रसेनाप्रभृतयः सप्तशतक्षुद्रविद्यास्तस्य सिद्धाः। विद्यासामर्थ्येन सिंहो भूत्वा जनं भीषयति। तद्वृत्तान्तः केनचित् सत्यकेर्निरूपितः। गुरुणा स ऊचे—मुने! तव स्त्रीहेतुना विनाशो भविष्यति।

२ आर्या समस्तापि इति ग. पुस्तके एकवचनान्तोऽशुद्धः पाठः।

तस्य मत्स्यबन्धस्य शीतलशरीरस्पर्शेन सा आप्यायिता। तया विद्याधर्या कर्मवशेन निदानं कृतं–अन्यस्मिन् भवे प्रकटितपरमस्नेहोऽयं मम भर्ता भविष्यतीति। ईदृशं निदानं कृत्वा कायं विमुच्य सौधर्मेन्द्रस्य देवी जाता। कैवर्तस्तु संसारे भ्रमित्वा मिथ्यातपः कृत्वा ज्येष्ठासुतो जातः। अथ श्रावस्तिपुरे राजा वासवः। तन्महादेवी मित्रवती। तया विद्युन्मती नाम्नी कन्या जनिता। तडिद्वेगस्य विद्याधरस्य सा दत्ता। सौधर्मेन्द्रदेवी च्युत्वा विद्युन्मती गर्भे स्थिता। नवमे मासे कष्टेन जनिता। विद्युन्मती विद्याधरी पीडावशेन निर्विन्ना(ण्णा) सती सौवस्तिनगरे पर्वतगुहायां त्याजिता। तत्र गुहायां चतस्रो द्विजपुत्र्यः क्रीडितुं कन्यापुण्येनागताः। उमा उमा इति शब्देन रटन्ती ताभिर्दृष्टा। उमेति नाम कृत्वा सा कोमलाङ्गी करुणया गृहमानीता। ब्राह्मणपुत्रीभिस्तसृभि सा कन्या राजकुले विद्युन्मत्या महादेव्या वासवनृपपत्न्याः [सा बालिका] दर्शिता। तयापि गृहीत्वा पुत्र्योः पुत्री निजधात्र्याः पंडितायाः पालयितु दत्ता। अथाष्टचन्द्रनृपेषु प्रधान इंद्रसेनाभिधानो गगनाङ्गणे सचोदितविमान एकस्मिन् दिने सौवस्तिमागत.। तस्य कुलस्त्रियाः निजभगिन्या अपत्यरहितायाः सन्मानपूर्वकं मित्रवत्या वासवनृपभार्यया गिरिकर्णिकानाम्न्याः सा उमा दत्ता। तयापि प्रतिपाल्य नवयौवना कृता। सा मुन्दरी सुरकूटपुरेशविद्याधरेशतडिद्वेगस्य परिणायिता। सा मदोन्मत्ता सुष्ठु सुरतानुरागा यदा सुरतसुखमनुभवति तदा तडिद्वेगो मृतः। उमा तु यौवनमदेन स्वच्छन्दा जाता। विश्वस्तोमा देवदारुनगरे एकस्मिन् दिने गता। देवदारुणा तद्वारं ज्ञात्वा रतिगुणाधिका सा स्थाणोर्विद्या-

१ शा. ख.। २ शा. स.। स्वा. क.। पूर्वपाठानुसारेण (सा) प्रवर्तितः। ३ पुत्र्याः। ४ विद्युन्मतया.। ५ उमा। ६ च स.। ७ शा. स., स्वा क.। अयोध्यां।

विभवस्यार्धमाननेनार्धासनस्याङ्गीकरणेन च तस्य भार्या पुनर्भूर्जाता। भूलेशस्तु तस्या मुखादिशाप्रसूनं निरीक्षमाणोऽहर्निशं तिष्ठते। नदिषु सीतासीतोदादिषु सरस्सु पद्मादिषु गिरिषु मेर्वादिषु लवणोदादिषु समुद्रेषु देवारण्यादिषु च वनेषु सर्वमंगलया तया सार्धमनुदिनं रममाण उर्वरायां पर्यटति। स जटामुकुटविभूषितो वृषारूढो भस्मोद्धूलितो लोकानेवं वदति–अहं त्रिजगत्स्वामी, कर्ता, हर्ता, शिवः, स्वयंभूः, शंभु, ईश्वर, हरः, शंकरः, सिद्धः, बुद्धः त्रिपुरारिः, त्रिलोचनः, प्रकृतिपुरुषः, सर्वज्ञः, उमापतिः, भवः, ईशः, ईशानः, मृडः, मृत्युञ्जयः, श्रीकण्ठः, वामदेव, महादेवः व्योमकेश इत्यादीनि मम नामानि। अहमेव वर्तेऽपरो नास्ति। मायावी विजयार्धे बहूनि दिनान्युषित्वा जननमासि मंत्रे रंजयित्वात्र भरतक्षेत्रमागत्य तेन शैवशास्त्रं प्रकटीकृतं। तद्दीक्षिताः शैवाचार्या बहवो बभूवुः। दर्शितगुणा गणाः प्रभूता मिलिताः, तैः परिवृतोऽस्खलितप्रतापोऽनवरतमुमाप्रेमानुरागो द्वादश वर्षाणि विषयसौख्यं भुंजानो महीं हतविपक्षो भ्रमितः। तत्प्रतापं दृष्ट्वा सर्वेऽपि विद्याधरा अतिभीताः। तैर्विचारितं एप महाविद्याबलीयानस्मान् मारयित्वा उभये अपि श्रेण्यौ निश्चितं ग्रहीष्यति। केनोपायेनायं खलो हन्यते यावन्न हन्तीति। लोकं चिन्ताकुलं दृष्ट्वा मात्रा गिरिकर्णिकानाम्न्या निजसुतोमा भेदं पृष्टा–पुत्रि उमे! मम जामातुर्विद्याः कदाचिदपि अवशा भवन्ति न वेति, उमा प्राह–मातर्गिरिकर्णिके! यदायं मया सह सुरतसुखमनुभवति तदा सुरतकाले विद्या अस्य न स्फुरन्ति। इत्युपदेशं लब्ध्वा। गन्धारदेशे दुरंडनगरे वनप्रदेशे सुरतमारूढः, तैर्विद्याधरैः कान्तासहितस्य शिरश्छिन्दे। तस्मिन् हते तद्विद्याभिर्देश उपद्रूयोद्वासितः। गृहे गृहे कृतवैरः प्रविष्टः जीवधनं मुष्णाति। तन्नगरस्य राज्ञा विश्वसेनेन नन्दिषेणो मुनिः पृष्टः। भगवन्! मरकोपसर्गस्य कः प्रत्ययः। मुनिरुवाच। रुद्रनामा

विद्याधरस्तत्र नगरे विद्यानामक्षमापणं कुर्वाणो मारितस्तेनोपसर्गो वर्तते। तर्हि स्वामिन्! उपसर्गविनाशः कथं भविष्यति? तल्लिङ्गं छित्वा दमो- पथे स्थापयित्वा यदि पूजयन्ति भवन्तस्तदा विद्या उपशाम्यन्ति। उपसर्ग उपशाम्यतीति तच्छ्रुत्वा विश्वसेनस्तत्र गत्वा सर्वोऽपि जनपदो व्याहृतः। इष्टकाभिस्त्र्यां मञ्चिकां कृत्वा तल्लिङ्गं छित्वा तदुपरि धृत्वा तल्लिङ्गोपरि मुरजमुग्राश्रोणिं तदुपरि धृत्वा तन्मध्ये ऊर्ध्वमाणि लिङ्गानि स्थापयित्वा जलेन प्रक्षाल्य परिमलबहुलेन चन्दनेन विलिप्य पुष्पाक्षतादिभिर्नैके रामाज्ञया पूजयित्वा तल्लिङ्गयोर्नमस्कारः कृतः तदा विद्याभिः क्षमा कृता, लोकस्योपसर्गस्य विनाशो जातः। तद्दिनमारभ्य प्रवर्तितं लोक- स्येश्वरलिङ्गपूजनं जातमित्यज्ञानिभिर्लोकैः श्रीमद्भगवदर्हत्परमेश्वरं परित्यज्य स एव देवः परमार्थीकृतः।

इति मोक्षप्राभृते सद्दोषगुणाख्याने जिनमुद्रापरिधारणपूर्वकं समाप्तम्।

जिणमुद्दं सिद्धिसुहं हवेइ णियमेण जिणवरुद्दिट्ठा।
सिविणे वि ण रुच्चइ पुण जीवा अच्छंति भवगहणे॥४७॥

जिनमुद्रा सिद्धिसुखं भवति नियमेन जिनवरोद्दिष्टा।
स्वप्नेऽपि न रोचते पुनः जीवा तिष्ठन्ति भवगहने॥

जिणमुद्दं सिद्धिसुहं जिनमुद्रा सिद्धिसुखं मोक्षसुखस्वरूपा सिद्धिसुखप्रदायिनी जिनमुद्रा। सिद्धिसुखप्रदानात्। हवेइ भवति। णियमेण जिणवरुद्दिट्ठा नियमेन निश्चयेन, कथंभूता जिनमुद्रा? जिन- वरोद्दिष्टा सर्वज्ञवीतरागेण प्रतिपादिता वर्तते। सिविणे वि ण रुच्चइ पुण सा जिनमुद्रा स्वप्नेऽपि जिनमुद्रापि न

१ म. टि॰।

रोचते । रुच्यर्थानां प्रयोगे चतुर्थी प्रोक्ता "यस्मै दित्सा रोचते धारयते वा तत्संप्रदानं" इति वचनात् संप्रदाने चतुर्थी तदयुक्तं, कस्मादिति चेत्? यदा रोचते तदा संप्रदानं यदा तु न रोचते तदा षष्ठीप्रयोग एव । स्वप्नेऽपि न रोचते पुनर्जीवस्येति सम्बन्धः । **जीवा अच्छंति भवगहणे** येन कारणेन जिनमुद्रा न रोचते भावचारित्रं भावचारित्रमिति लौंकादिभिरानेष्यते तेनैव कारणेन जीवास्तिष्ठन्ति भवगहने संसारवने । रुद्रादिवल्लब्धजिनमुद्रा नरकादौ पतन्ति ।

परमप्पय झायंतो जोई मुच्चेइ मलदलोहेण ।
णादियदि णवं कम्मं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥ ४८ ॥

परमात्मानं ध्यायन् योगी मुच्यते मलदलोभेन ।
नाद्रियते नवं कर्म निर्दिष्टं जिनवरेन्द्रैः ॥

परमप्पय झायंतो परमात्मानं निजात्मस्वरूपं ध्यायन् । **जोई मुच्चेइ मलदलोहेण** योगी ध्यानवान् मुनिर्मुच्यते परिह्रियते, केन? मलदलोभेन मलं पापं ददातीति मलदः स चासौ लोभो धनाकांक्षा तेन मलदलोभेन । **णादियदि णवं कम्मं** लोभरहितो मुनिर्नाद्रियते न बध्नाति, नवं कर्म अभिनवं पापं, पूर्वोपार्जितं तु स्वयमेव क्षीयते । **णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं** निर्दिष्टं कथितं, जिनवरेन्द्रैः* जिनवरा एव इन्द्रास्त्रिभुवनप्रभवस्तैर्जिनवरेन्द्रैः* सर्वज्ञवीतरागैरिति शेषः ।

होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ ।
झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई ॥ ४९ ॥

भूत्वा दृढचरित्रः दृढसम्यक्त्वेन भावितमतिः ।
ध्यायन्नात्मानं परमपदं प्राप्नोति योगी ॥

---

* एतच्चिन्हद्वयमध्यगतः पाठः स. पुस्तके नास्ति । १ जिनेन्द्रैः इति मूलटीकापाठः मूलपदानुसारेण प्रवर्तितः ।

होऊण दिढचरित्तो दृढचारित्रोऽचलितचारित्रो भूत्वा । **दिढसम्मत्तेण भावियमईओ** दृढसम्यक्त्वेन चलमलिनतारहितसम्यग्दर्शनेन भावितमतिस्तु वासितमनाः । **झायंतो अप्पाणं** ज्ञानबलेन ध्यायन्नात्मानं । **परमपयं पावए जोई** परमपदं केवलज्ञानं निर्वाणं च प्राप्नोति, योगी भेदज्ञानवान् मुनिः ।

चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो ।
सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो ॥ ५० ॥

चरणं भवति स्वधर्मः धर्मः स भवति आत्मसमभावः ।
स रागरोषरहितः जीवस्य अनन्यपरिणामः ॥

चरणं हवइ सधम्मो चरणं चारित्रं भवति स्वधर्मः आत्मस्वरूपं । **धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो** धर्मो भवति, कोऽसौ ? स एव यः स्वधर्मः आत्मस्वरूप, स धर्मः कथंभूतः[2] अप्पसमभावो-आत्मसमभावः आत्मसु सर्वजीवेषु समभावः समतापरिणामः, यादृशो मोक्षस्थाने सिद्धो वर्तते तादृश एव ममात्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावः सिद्धपरमेश्वरसमानः यादृशोऽहं केवलज्ञानस्वभावस्तादृश एव सर्वोऽपि जीवराशिरत्र भेदो न कर्तव्यः । **सो रा रोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो** स आत्मसमभावः कथंभू तस्य लक्षणं निरूपयन्ति भगवन्तः—स आत्मसमभावो रागरोषरहि भवति यं प्रति प्रीतिलक्षणं रागं करोमि सोऽप्यहमेव, यं प्रति अप्रीति लक्षणं द्वेषं करोमि सोऽप्यहमेव तेन रागरोषरहितो जीवस्यात्मनोऽनन्य परिणाम एकलोलीभाव समत्वमेव परमचारित्रं ज्ञातव्यमिति । त चोक्तं—

जीवां जिणवर जो मुणइ जिणवर जीव मुणेइ ।
सो समभावपरिट्ठियओ लहु णिव्वाणु लहेइ ॥ १ ॥

1 सं. टी. ।

२ जीवान् जिनवरं यो जानाति जिनवरं जीवं जानाति ।
स समभावपरिस्थितः लघु निर्वाणं लभते ॥

जह फलिहमणि विसुद्धो परदव्वजुदो हवेइ अण्णं सो।
तह रागादिविजुत्तो जीवो हवदि हु अणण्णविहो॥५१॥

यथा स्फटिकमणिः विशुद्धः परद्रव्ययुतो भवति अन्यः सः।
तथा रागादिवियुक्तः जीवो भवति स्फुटमन्योन्यविधः॥

जह फलिहमणि विसुद्धो यथा येन प्रकारेण स्फटिकमणिः स्वभावेन विशुद्धो निर्मलो वर्तते। **परदव्वजुदो हवेइ अण्णं सो** परद्रव्येण जपापुष्पादिना युतः, अण्णं—अन्योऽन्यादृशो भवति। **तह रागादिविजुत्तो** तथा तेनैव स्फटिकमणिप्रकारेण रागादिभिर्विशेषेण युक्तः स्त्र्यादिरागयुतो रागादिमान् भवति। **जीवो हवदि हु अणण्णविहो** जीव आत्मा भवति हु-स्फुटं अन्योन्यविधोऽपरापरप्रकारो भवति—स्त्रीभिर्योगे रागवान् भवति शत्रुभिर्योगे द्वेषवान् भवति पुत्रादिभिर्योगे मोहवान् भवतीति तात्पर्यार्थः।

देव गुरुम्मि य भत्तो साहम्मि य संजदेसु अणुरत्तो।
सम्मत्तमुव्वहंतो झाणरओ होइ जोई सो॥ ५२॥

देवे गुरौ च भक्तः साधर्मिके च संयतेषु अनुरक्तः।
सम्यक्त्वमुद्वहन् ध्यानरतः भवति योगी सः॥

देव गुरुम्मि य भत्तो देवे गुरौ च भक्तो विनयपरः। **साहम्मि य संजदेसु अणुरत्तो** साधर्मिकेषु समानधर्मेषु जैनेषु, संयतेषु महामुनिषु, अनुरक्तोऽकृत्रिमस्नेहवान् वात्सल्यपरः। **सम्मत्तमुव्वहंतो** सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनमुद्वहन् *मूर्धनि स्थापयन्*। **झाणरओ होइ जोई सो** एवं विशेषणत्रयविशिष्टो योगी अष्टाङ्गयोगनिपुणो मुनिर्ध्यानरतो भवति ध्यानानुरागी भवति सः। विपरीतस्य ध्यानं न रोचत इत्यर्थः। तथा चोक्तं—

सर्वपापास्रवे क्षीणे ध्याने भवति भावना।
पापोहतवृत्तीनां ध्यानवार्तापि दुर्लभा॥ १॥

अन्यच्च—

स्वयूथ्यान् प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलष्यते ॥ २ ॥

उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ अंतोमुहुत्तेण ॥ ५३ ॥

उग्रतपसाऽज्ञानी यत्कर्म क्षपते भवैर्बहुकैः ।
तज्ज्ञानी त्रिभिर्गुप्तः क्षपयति अन्तर्मुहूर्तेन ॥

उग्गतवेण उग्रतपसा तीव्रतपसा कृत्वा । **अण्णाणी** अज्ञानी मुनिः आत्मभावनाविवर्जितस्तपस्वी । **जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहिं** यत्कर्म पापकर्म क्षिपते भवैर्बहुकैः कोटिभवैः शतकोटिभवैः सहस्रकोटिभवैः लक्षकोटिभवैः कोटिकोटिभवैश्चेत्यादिभिः । **तं णाणी तिहिं गुत्तो** तत्कर्म ज्ञानी आत्मभावनापरः सूरिः तिहिं गुत्तो–त्रिभिर्गुप्तो मनोवचनकायगुप्तिसहितः । **खवेइ अंतोमुहुत्तेण** क्षपयति क्षयमानयति, कियति काले ? अन्तर्मुहूर्तेन । कोऽसावन्तर्मुहूर्त इति चेत् ?—

आवलि असंखसमया संखेज्जावलिहि होइ उस्सासो ।
सत्तुस्सासो थोओ सत्तत्थोओ लवो भणिओ ॥ १ ॥
अट्ठत्तीसद्धलवा नाली दो नालिया मुहुत्तं तु ।
समऊणं तं भिण्णं अंतमुहुत्तं अणेयविहं ॥ २ ॥

इति गाथाद्वयकथितक्रमेण आवल्या उपरि एकः समयोऽधिको भवति सोऽन्तर्मुहूर्तो जघन्य कथ्यते । एवं द्व्यादिसमयवृद्ध्या समयद्वयहीनोऽन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट कथ्यते । मध्येऽसंख्यातभेदा अन्तर्मुहूर्तस्य ज्ञातव्या । तेषु कस्मिंश्चिदन्तर्मुहूर्ते ज्ञानी कर्म क्षपयति । एकेन समयेन हीनो मुहूर्तो भिन्नमुहूर्त उच्यते इति भाव ।

---

१ दि. टी. । २ अनयोश्छाया पूर्वं वन्धारिशत्में पृष्ठे आगता ।

सुभजोगेण सुभावं परदव्वे कुणइ रागदो साहू ।
सो तेण दु अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ ५४ ॥

शुभयोगेन सुभावं परद्रव्ये करोति रागतः साधुः ।
स तेन तु अज्ञानी ज्ञानी एतस्माद्विपरीतः ॥

सुभजोगेण सुभावं शुभस्य मनोज्ञपदार्थस्येष्टवनितादेः योगेन संयोगेन मेलनेनोपढौकनेनागत आगतेन सुभावं—शोभनं प्रीतिलक्षणं भावं परिणामं । **परदव्वे कुणइ रागदो साहू** परद्रव्ये आत्मनो भिन्ने वस्तुनि इष्टवनितादौ, करोति विदधाति सुभावमिति सम्बन्धः, रागतः प्रेमपरिणामात् । कः कर्ता, साधुर्वेषधारी मुनिः पुष्पदन्तवत् । तथा चोक्तं—

अलकधवलचरन्यं भ्रूलतानर्तकान्तं
नयननवविलासं चारुगण्डस्थलं च ।
मधुरवचनगर्भं स्मेरबिम्बाधरायाः
पुरत इव समास्ते तन्मुखं मे प्रियायाः ॥१॥

कर्णावतंसमुखमण्डनकण्ठभूषा-
वक्षोजपत्रजघनाभरणानि रागात् ।
पादेष्वलक्तकरसेन च चर्चनानि
कुर्वन्ति ये प्रणयिनीषु त एव धन्याः ॥२॥

लीलाविलासविलसन्नयनोत्पलायाः
स्फारस्मरेक्षुललिताधरपल्लवायाः ।
उत्तुंगपीवरपयोधरमंडलाया-
स्तस्या मया सह कदा ननु संगमः स्यात् ॥३॥

किंच—

चित्राक्षेपलसत्कनिभिर्नेनोम्निजल्पापारसारास्मृतं-
गांधाम्भामनुदःस्थितप्रियतमापादप्रणामस्रनैः ।
स्वप्ने संगतविप्रयोगविषमैरात्मबोधागमै-
रित्थं येनमुनिर्दिनानि गमयत्युत्कण्ठितः कानने ॥१॥

इत्यादिसुदतीचिन्तनेनाज्ञानी मूढः कथ्यते । **णाणी एत्तो दु विरीदो** ज्ञानी निर्मोहो मुनिः एतस्मादुक्तलक्षणात् साधोर्विपरीतः शुभवस्तुयोगे सति रागं न करोतीति तात्पर्यार्थः ।

आसवहेदू य तहा भावं मोक्खस्स कारणं हवदि ।
सो तेण दु अण्णाणी आदसहावस्स विवरीदो ॥५५॥

आस्रवहेतुश्च तथा भावो मोक्षस्य कारणं भवति ।
स तेन तु अज्ञानी आत्मस्वभावात् विपरीतः ॥

आसवहेदू य तहा आस्रवहेतुश्च तथा यथेष्टवनितादिविषये राग आस्रवहेतुर्भवति तथा निर्विकल्पसमाधिं विना मोक्षस्यापि रागः कर्मास्रवहेतुर्भवति। **सो तेण दु अण्णाणी** स साधुर्मोक्षेऽपि रागमार्न कुर्वाणः तेन कारणेन पुण्यकर्मबन्धहेतुत्वादज्ञानी भवति—मूढः स्यात् **आदसहावस्स विवरीदो** आत्मस्वभावान्निर्विकल्पसमाधिलक्षणात्मध्यानरूपाद्विपरीतः । तथा चोक्तमेकत्वसप्तत्या—

स्पृहा मोक्षेऽपि मोहोत्था तन्निषेधाय जायते ।
अन्यस्मै तत्कथं शान्ताः स्पृहयन्ति मुमुक्षवः ॥१॥

जो कम्मजादमइओ सहावणाणस्स खंडदूसयरो।
सो तेण दु अण्णाणी जिणसासणदूसगो भणिदो ॥५६॥

य कर्मजातमतिक स्वभावज्ञानस्य खण्डदूषणकर ।
स तेन तु अज्ञानी जिनशासनदूषको भणित ॥

जो कम्मजादमइओ यः पुमान् कर्मजातमतिक इन्द्रियानिन्द्रियाणि खलु कर्मजातानि तदुत्पन्नमतिलेशसंयुक्तः । **सहावणाणस्स खंडदूसयरो** स्वभावज्ञानस्यामोघज्ञानस्य केवलज्ञानस्य दूसयरो—दोषदायकः। आत्मनः खल्वतीन्द्रियज्ञानं नास्ति चक्षुरादीन्द्रियजनितमेव ज्ञानं वर्तते

इत्येवं स्वभावज्ञानस्य दूषणकरो भवति, अतीन्द्रियज्ञानं न मन्यते । दुंड- दूसयो—खण्डज्ञानेन दूषणकरः कश्चिन्मिथ्यादृष्टिः । सो तेण दु अण्णाणी स पुमान् तेन तु दूषणदानेन अज्ञानी ज्ञातव्यो ज्ञानीयो ज्ञेयो वेदितव्य इति यावत् । स कथंभूतः, जिणसासणदूसगो भणिदो जिनशासन- स्यार्हतमतस्य दूषको दोषभाषको भणितः—स नरकदुःखं प्राप्स्यति । तथा चोक्तं पुष्पदन्तेन महाकविना काव्यपिशाचखण्डकव्यपरनामद्वयेन—

सव्वण्हु अणिंदिओ णाणमउ जो मइमूढु न पत्तियइ ।
सो णिंदिउ पंचिंदियणिरउ वैतरणिहिं पाणिउ पियइ ॥ १ ॥

णाणं चरित्तहीणं दंसणहीणं तवेहि संजुत्तं ।
अण्णेसु भावरहियं लिंगग्गहणेण किं सोक्खं ॥ ५७ ॥

ज्ञानं चारित्रहीनं दर्शनहीनं तपोभिः संयुक्तम् ।
अन्येषु भावरहितं लिङ्गग्रहणेन किं सौख्यम् ॥

णाणं चरित्तहीणं ज्ञानं चरित्रहीनं सौख्यकरं न भवतीति सम्बन्धः दंसणहीणं तवेहिं संजुत्तं दर्शनहीनं सम्यग्दर्शनरत्नरहितं तपोभि संयुक्तं कर्म सौख्यकरं न भवतीति सम्बन्धः । अण्णेसु भावरहियं अन्येषु षडावश्यकादिषु भावरहितं कर्म । लिंगग्गहणेण किं सोक्खं लिंगग्रहणेन वेषमात्रेण आत्मभावनारहितेन कर्मणा किं सौख्यं भवति- अपि तु सर्वकर्मक्षयलक्षणं मोक्षसुखं न भवतीति भावार्थः ।

अचेयणं पि चेदा जो मण्णइ सो हवेइ अण्णाणी ।
सो पुण णाणी भणिओ जो मण्णइ चेयणे चेदा ॥५८॥

अचेतनमपि चेतयितारं यो मन्यते स भवति अज्ञानी ।
स पुन ज्ञानी भनितः यो मन्यते चेतने चेतयितारम् ।[1]

---

१ अस्य छाया पूर्वं ३०७पृष्ठे गता ।

होइ घणिज्जु न पोट्टलिहिं उययामें नउ धम्मु ।
पउ अयाणउ सो धयइ जसु कउ मारउ कम्मु ॥ १ ॥

पोट्टलियहिं मणिमोत्तियइ घणु केसियहि ण माइ ।
चोरहि मरिउ घल्लड्डा तं नाहीं जं रगाइ ॥ २ ॥

आत्मशुद्धिरियं प्रोक्ता तपसैव विचक्षणैः ।
किमग्निना विना शुद्धिरस्ति कांचनशोधने ॥ १ ॥

बाहरलिंगेण जुदो अब्भंतरलिंगरहिदपरियम्मो ।
सो सगचरित्तभट्टो मोक्खपहविणासगो साहू ॥ ६१ ॥

बहिर्लिंगेन युतो अभ्यन्तरलिंगरहितपरिकर्मा ।
स स्वकचरित्रभ्रष्टः मोक्षपथविनाशकः साधुः ॥

बाहिरलिंगेण जुदो बहिर्लिंगेन युतो नग्नमुद्रासहितः। **अब्भंतरलिंगरहिदपरियम्मो** अभ्यन्तरलिंगरहितपरिकर्मा आत्मस्वरूपभावनारहितं परिकर्म अंगसंस्कारो यस्य सोऽभ्यन्तरलिंगरहितपरिकर्मा । **सो सगचरित्तभट्टो** स साधुः स्वकचरित्रभ्रष्टः । **मोक्खपहविणासगो साहू** मोक्षपथविनाशक साधुः स साधुर्मोक्षमार्गविध्वंसको ज्ञातव्यो ज्ञानियो ज्ञेयः। इति मत्वा ज्ञात्वा निजशुद्धबुद्धैकस्वभावे आत्मतत्वे नित्यं भावना कर्तव्या साधोः ।

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि ।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए ॥ ६२ ॥

सुखेन भावितं ज्ञानं दुःखे जाते विनश्यति ।
तस्मात् यथाबलं योगी आत्मानं दुःखैः भावयेत् ॥

सुहेण भाविदं णाणं सुखेन नित्यभोजनादिना भावितं वासितं ज्ञानं आत्मा । **दुहे जादे विणस्सदि** दुःखे जाते सति भोजनादेरप्राप्तौ सत्यां विनश्यति आत्मभावनाप्रच्युतो भवति । **तम्हा जहा-**

बलं जोई तस्मात्कारणाद्यथाबलं निजशक्त्यनुसारेण योगी मुनिः। अप्पा दुक्खेहि भावए आत्मानं दुःखैरनेकतपःक्लेशैः भावयेद्रात्मयेत् दुःखाभ्यासं कुर्यादित्यर्थः।

आहारासणणिद्दाजयं च काऊण जिणवरमएण।
झायव्वो णियअप्पा णाऊणं गुरुपसाएण ॥ ६३ ॥

आहारासननिद्राजयं च कृत्वा जिनवरमतेन।
ध्यातव्यो निजात्मा ज्ञात्वा गुरुप्रसादेन ॥

आहारासणणिद्दा जयं च काऊण जिणवरमएण आहारासननिद्राजयं च कृत्वा जिनवरमतेन, शनैः शनैः आहारोऽल्पः क्रियते। शनैः शनैरासनं पद्मासनं उद्भासनं चाभ्यस्यते। शनैः शनैः निद्रापि स्तोका स्तोका क्रियते एकस्मिन्नेव पार्श्वे पार्श्वपरिवर्तनं न क्रियते। एवं सति सर्वोऽप्याहारस्त्यक्तुं शक्यते। आसनं च कदाचिदपि त्यक्तुं (न) शक्यते। निद्रापि कदाचिदप्यकर्तुं शक्यते। अभ्यासात् किं न भवति ! तस्मादेवकारणात्केवलिभिः कदाचिदपि न भुज्यते। पद्मासन एव वर्षाणां सहस्रैरपि स्थीयते, निद्राजयेनाप्रमत्तैर्भूयते, स्वप्नो न दृश्यते। एवं जिनवरमतेन वृषभस्वामिवीरचन्द्रशासनेनानुशील्यते। झायव्वो णियअप्पा ध्यातव्यो निज आत्मा। णाऊणं गुरुपसाएण आत्मानमष्टाङ्गं च ज्ञात्वा गुरुप्रसादेन निग्रन्थाचार्यवर्यस्य कारुण्येन। गुरुप्रसादं विना "द्रष्टव्यो रेऽयमात्मा श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्य" इति ब्रुवद्भिरपि वेदान्तवादिभिर्निवृत्तैः केनापि जनेन याज्ञवल्क्यादिना न प्राप्त इति भावार्थः।

अप्पा चरित्तवंतो दंसणणाणेण संजुदो अप्पा।
सो झायव्वो णिच्चं णाऊणं गुरुपसाएण ॥ ६४

१ नि. टी.।

आत्मा चारित्रवान् दर्शनज्ञानेन संयुत आत्मा ।
स ध्यातव्यो नित्यं ज्ञात्वा गुरुप्रसादेन ॥

अप्पा चरित्तवंतो आत्मा चारित्रवान् वर्तते आत्मात्मानमेवानुतिष्ठतीति कारणात् यस्य मुनेश्चारित्रे प्रीतिरस्ति स आत्मानमेवाश्रयतीति भावार्थः । **दंसणणाणेण संजुदो अप्पा** दर्शनेन ज्ञानेन च संयुतः संयुक्तः, कोऽसौ ? आत्मा जीवतत्वं, अत्रापि स एव भावार्थः—यस्य मुनेर्दर्शने प्रेम वर्तते ज्ञाने वानुरागोऽस्ति स मुनिरात्मानमेवाश्रयतु तद्द्वयमपि तत्रैव वर्तते यस्मात् । **सो झायव्वो णिच्चं** स आत्मा ध्यातव्यो नित्यं सर्वकालं । रत्नानां त्रयस्योपायभूतस्यात्मलाभे मोक्षलाभे वा प्रीतिमत इत्यर्थः । **णाऊणं गुरुपसाएण** गुरोर्निर्ग्रन्थाचार्यस्य शिक्षादीक्षाचारवाचनादेश्च कर्तुः प्रसादेन कारुण्येन । अयं वस्तुस्वभावो वर्तते यदाचार्यप्रसन्नतयात्मलाभो भवति तद्विराधने सत्यात्मा न स्फुटीभवति । तथा चोक्तं—

गुणेषु दोषमनीषयान्धा
दोषान् गुणीकर्तुमथेशते ये ।
श्रोतुं कवीनां वचनं न तेऽर्हाः
सरस्वतीद्रोहिषु कोऽधिकारः ॥१॥

अथवा गुरूणां पञ्चानां परमेष्ठिनां प्रसादादात्मा प्रभुर्लभ्यते । तेषां प्रसादं विना आत्मप्रभुर्न प्राप्यत इत्यर्थः । यथा राजानं द्रष्टुकामः कश्चित् पुमान् तत्समासन्नान् पूर्वं पश्यति ते तु राजानं मेलयन्ति, तानन्तरेण तत्र प्रवेशमपि न लभ्यते इति कारणात् पूर्वं पंचदेवताः प्रसादनीया आत्मलाभमिच्छता योगिनेति भावार्थः ।

दुक्खे णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणा दुक्खं ।
भावियसहावपुरिसो विसएसु विरच्चए दुक्खं ॥ ६५ ॥

दुःखेन ज्ञायते आत्मा आत्मानं ज्ञात्वा भावना दुःखम् ॥
भावितस्वभावपुरुषो विषयेषु विरज्यति दुःखम् ॥

दुक्खं णज्जइ अप्पा दुःखेन महता कष्टेन तावदात्मा ज्ञायते आत्मास्तीति बुद्धिरुत्पद्यते । अप्पा णाऊण भावणा दुक्खं यदा मास्तीति ज्ञातं तदा तस्मिन्नात्मनि भावना वासनाऽहर्निशचिन्तनं तद्गुणस्मरणादिकं दुःखं दुष्प्राप्यं भवति। भावियसहावपुरिसो विसएसु विरचए दुक्खं भावितस्वभावः पुरुष आत्मभावनासहितोऽपि सूरिः यद्विषयेषु वनिताजनस्तनजघनवदनलोचनादिविलोचने तद्वार्तालापगोष्ठीषु शरीरस्पर्शनादिसुखेषु विरज्यति तत्सुखं हालाहलविषास्वादनवज्जानाति तदतीव दुःखं दुष्करमिति तात्पर्यार्थः ।

ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम ।
विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ॥ ६६ ॥

तावत् न ज्ञायते आत्मा विषयेषु नरः प्रवर्तते यावत् ।
विषये विरक्तचित्तः योगी जानाति आत्मानम् ॥

ताम ण णज्जइ अप्पा तावत्कालमात्मा न ज्ञायते । तावत्कियत् ? विसएसु णरो पवट्टए जाम यावत्कालं विषयेषु पूर्वोक्तलक्षणेषु नरो जीवः प्रवर्तते व्याप्रियते । विसए विरत्तचित्तो विषये पूर्वोक्तलक्षणे विरक्तचित्तो निवृत्तचेता यती। जोई जाणेइ अप्पाणं योगी ध्यानवान् पुमान् महामुनिरात्मानं जानाति प्रत्यक्षतया पश्यति ।

अप्पा णाऊण णरा केई सब्भावभावपब्भट्टा ।
हिंडंति चाउरंगं विसएसु विमोहिया मूढा ॥ ६७ ॥

आत्मानं ज्ञात्वा नराः केचित्सद्भावभावप्रभ्रष्टाः ।
हिण्डन्ते चातुरङ्गं विषयेषु विमोहिता मूढाः ॥

१ न. टी.

अप्पा णाऊण णरा आत्मानं ज्ञात्वा आत्मास्तीति सम्यग्विज्ञाय नरा बहिरात्मजीवाः । **केई सब्भावभावपब्भट्ठा** केचित् सद्भावभावप्रभ्रष्टाः केचित् विवक्षिताः सन् समीचिनो भावः सद्भावः निजात्मभावना तस्मात्प्रभ्रष्टा निजशुद्धबुद्धैकस्वभावात्मभावनाप्रच्युता विषयसुखदुर्भावनासु रता इत्यर्थः । **हिंडंति चाउरंगं** हिण्डन्ते परिभ्रमन्ति पर्यटनं कुर्वन्ति चाउरंगं–चतुरंगं भवं चातुरंगं चतुर्गतिसंसारसंसरणं यथा भवत्येवं । **विसएसु विमोहिया मूढा** विषयेषु पंचेन्द्रियार्थेषु स्पर्शरसगन्धवर्णशब्देषु विमोहिता क्षोभं गताः, ते च विषया अनादिकाले जीवैनास्वादिता[1], आत्मोत्थस्वाधीनं सुखं कदाचिदपि न प्राप्ताः । तथा चोक्तं–

अदृष्टं किं किमस्पृष्टं किमनाघ्रातमश्रुतं ।
किमनास्वादितं येन पुनर्नवमिवेक्ष्यते ॥ १ ॥
भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः ।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥ २ ॥

विषयेषु विमोहिता ये ते मूढा अज्ञानिनो बहिरात्मान इत्यर्थः । तेन बहिरात्मभावं परित्यज्यात्मभावना कर्तव्या ।

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया ।
छंडंति चाउरंगं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ॥ ६८ ॥

ये पुन विषयविरक्ता आत्मानं ज्ञात्वा भावनासहिताः ।
त्यजन्ति चातुरङ्गं तपोगुणयुक्ता न सन्देहः ॥

जे पुण विसयविरत्ता ये पुनरासन्नभव्यजीवा विषयेभ्यो विरक्ताः पराङ्मुखा विषयेषु पञ्चविषभावना । **अप्पा णाऊण भावणासहिया** आत्मानं ज्ञात्वा आत्मभावनासहिता भवन्ति । **छंडंति चाउरंगं** ते मुञ्चन्ति त्यजन्ति, किं[2] चातुरङ्गं संसारं । **तवगुणजुत्ता ण संदेहो** तप

१ चाउरंग. टी. । २ भ. टी. ।

एव गुणस्तपोगुणस्तेन युक्ताः । अथवा तपो द्वादशभेदं गुणा अष्टाविंशतिर्मूलगुणा उत्तरगुणाश्च बहुभेदास्तैर्युक्ताः संसारं त्यजन्ति अत्र सन्देहो नास्ति संशयो न कर्तव्यः । उक्तं च गौतमेन महर्षिणा—

पंचसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च ॥ १ ॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
एत्थ पमादकदादो अइचारादो णियत्तो हं ॥ २ ॥

परमाणुपमाणं वा परदव्वे रदि हवेदि मोहादो ।
सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीदो ॥६९॥

परमाणुप्रमाणं वा परद्रव्ये रतिर्भवति मोहात् ।
स मूढोऽज्ञानी आत्मस्वभावाद्विपरीतः

परमाणुपमाणं वा परमाणुप्रमाणं वा । परदव्वे रदि हवेदि मोहादो परद्रव्ये रतिर्भवति मोहादज्ञानात् परमाणुमात्रापि रतिर्मोहादज्ञानाद्भवति, किमुच्यते बह्वी रतिः ? महती रतिस्तु अज्ञानाद्भवत्येव । सो मूढो अण्णाणी यस्य परद्रव्ये रूपादिविषये रतिर्भवति स मुनिर्मूढः स एव पर्यायोऽज्ञानीति । आदसहावस्स विवरीदो स मुनिरात्मस्वभावाद्विपरीतः परद्रव्यरत इत्युच्यते बहिरात्मा कथ्यत इति भावार्थः । एवं ज्ञात्वा परमात्मानं परित्यज्य परद्रव्ये रतिर्न कर्तव्येति तात्पर्यार्थः ।

अप्पा झायंताणं दंसणसुद्धीण दिढचरित्ताणं ।
होदि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ॥७०॥

---

१ पञ्चसमितयः पञ्चेन्द्रियरोधाः लोचः आवश्यकषट्कमचेलत्वमस्नानं ।
क्षितिशयनमदन्तधावनं स्थितिभोजनमेकभक्तं च ॥
एते खलु मूलगुणाः श्रमणानां जिनवरैः प्रज्ञप्ताः ।
अत्र प्रमादकृतादतीचारान्निवृत्तोऽहं ॥

आत्मानं ध्यायतां दर्शनशुद्धीनां दृढचारित्राणाम् ।
भवति ध्रुवं निर्वाणं विषयेषु विरक्तचित्तानाम् ॥

अप्पा झायंताणं आत्मानं ध्यायतां मुनीनां । दंसणसुद्धीण दिढचरित्ताणं दर्शनस्य शुद्धिर्नैर्मल्यं चलमलिनत्वरहितसम्यक्त्वानां चर्मजलघृततैलभूतनाशनादिपरिहरतां शरीरमात्रदर्शनेन परगृहेषु कृतादिदोषरहिताशनमश्नतां दर्शनशुद्धिमतां, दृढचारित्राणां ब्रह्मचर्यप्रत्याख्यानादिदृढचारित्राणां । होदि धुवं णिव्वाणं भवति ध्रुवमिति निश्चयेन निर्वाणं मोक्षो भवति । विसएसु विरत्तचित्ताणं विषयेषु इष्टवनितालिङ्गनादिषु विरक्तचित्तानां विषयान् विषं मन्यमानानामिति संक्षेपतोऽर्थो ज्ञातव्यो ज्ञानीयो ज्ञेय इति ।

जेण रागे परे दव्वे संसारस्स हि कारणं ।
तेणावि जोइणो णिच्चं कुज्जा अप्पे सभावणा ॥७१॥

येन रागे परे द्रव्ये संसारस्य हि कारणम् ।
तेनापि योगी नित्यं कुर्यादात्मनि स्वभावनाम् ॥

जेण रागे परे दव्वे येन वनितादिना पर्यायेण, रागे सति राग उत्पन्ने, परकीये द्रव्ये आत्मनो भिन्ने वस्तुनि । संसारस्स हि कारणं स रागः कथंभूतः, संसारस्य भवभ्रमणस्य, हि निश्चयेन, कारणं हेतुः । तेणावि न केवलं आत्मनि आत्मभावनां कुर्यात् किन्तु तेनापि वनितादिना । जोइणो योगी । निच्चं सर्वकालं । अप्पे आत्मनि । स्वभावनां आत्मभावनां कुर्यात् । कथमिति चेत् ? इयमिष्टवनिता अनन्तकेवलज्ञानमयी वर्तते यथा ममात्मानन्तकेवलज्ञानमयो वर्तते । इयमहं च द्वावपि केवलज्ञानिनौ वर्तावहे । तेन इयमस्मत्समा भवति का नाम पुंस्मरणे येन सह स्नेहं करोति । तथा चोपनिषद्

१ [illegible] मूलपाठः । २ वर्तते टी. । ३ योगिनः टी. ।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ १ ॥

णिंदाए य पसंसाए दुक्खे य सुहएसु य ।
सत्तूणं चेव बंधूणं चारित्तं समभावदो ॥ ७२ ॥

निन्दायां च प्रशंसायां दुःखे च सुखेषु च ।
शत्रूणां चैव बन्धूनां चारित्रं समभावतः ॥

णिंदाए य पसंसाए निन्दायां प्रशंसायां च समभावतश्चारित्रं भवतीति सम्बन्धः । **दुक्खे य सुहएसु य** दुःखे च सुखके च समागतेष्विन्युपस्कारः । **सत्तूणं चेव बंधूणं** शत्रूणां चैव बन्धूनां समायोगे इत्युपस्कारः । **चारित्तं समभावदो** समभावतः समतापरिणामे सति चारित्रं भवतीति निर्विकल्पसमाधिरूपं यथाख्यातं चारित्रं भवतीति भावार्थः ।

चरियावरिया वदसमिदिवज्जिया सुद्धभावपब्भट्टा ।
केई जंपंति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स ॥ ७३ ॥

चर्यावरिका व्रतसमितिवर्जिता शुद्धभावप्रभ्रष्टाः ।
केचित् जल्पन्ति नराः न हि कालो ध्यानयोगस्य ॥

चरियावरिया चर्यायाश्चारित्रस्य आवरिका आवरणं येषां ते चर्यावरिकाः चारित्रमोहनीयकर्मयुक्ताः । **वदसमिदिवज्जिया** व्रतसमितिवर्जिता व्रतरहिताः समितिहीनाश्च । **सुद्धभावपब्भट्टा** शुद्धभावप्रभ्रष्टा रागद्वेषमोहादिभिः परिणामैः कश्मलीकृता आत्मध्यानहीनाः । **केई जंपंति णरा** केचिद्बहिरात्मानो नराः पुरुषा जल्पन्ति ब्रुवन्ति । किं जल्पन्ति ? **ण हु कालो झाणजोयस्स** ध्यानयोगस्य अष्टाङ्गयोगमध्ये सप्तमो योगो ध्यानयोगस्तस्य कालोऽवसरो न वर्तते । कथं ? हि-स्फुटं । के ते अष्टाङ्गयोगाः—

१ च. टी. । २ न. टी. ।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः। इति।

सम्मत्तणाणरहिओ अभव्वजीवो हु मोक्खपरिमुक्को।
संसारसुहे सुरदो ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥ ७४ ॥

सम्यक्त्वज्ञानरहितः अभव्यजीवो हि मोक्षपरिमुक्तः
संसारसुखे सुरतः न हि कालो भणति ध्यानस्य ॥

सम्मत्तणाणरहिओ सम्यक्त्वरहितो मिथ्यादृष्टिः, ज्ञानरहितोऽज्ञानो मूढजीवो बहिरात्मा। **अभव्वजीवो हु मोक्खपरिमुक्को** अभव्यजीवो रत्नत्रयस्यायोग्यो लौकान्तिको मोक्षपरिमुक्तः तस्य कदाचिदपि कर्मक्षयो न भविष्यति स न सेत्स्यति कंकटूकमुद्गवत्। **संसारसुहे सुरदो** संसारसुखे वनितायोनिमथनसुखे, सुरतः सुष्ठु अतिशयेन रतः तत्परः। **ण हु कालो भणइ झाणस्स** एवं दोषदुष्टो भणति ब्रूते, किं भणति? ध्यानस्य कालो न भवति। कथं? हु-स्फुटं।

पंचसु महव्वदेसु य पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।
जो मूढो अण्णाणी ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥ ७५ ॥

पञ्चसु महाव्रतेषु च पञ्चसु समितिषु तिसृषु गुप्तिषु।
यो मूढः अज्ञानी न हि कालो भणति ध्यानस्य ॥

पंचसु महव्वदेसु य पंचसु महाव्रतेषु च प्राणातिपातमृषावादस्तैन्यमैथुनपरिग्रहसर्वथापरित्यागो महाव्रतमुच्यते एतेषु पंचसु महाव्रतेषु यो मूढश्चारित्रमोहवलवत्तर। चकारादणुव्रतानामपि अप्रतिपालको रात्रिभोजननियमरहित चर्मजलघृततैलरामठास्वादनमठ। **पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु** ईर्यासमितिः–करचतुष्टयं मार्गमवलोक्य गमनं, भाषासमितिः–आगमाविरुद्धभाषणं, एषणासमितिः–पूर्वोक्तषट्चत्वारिंशद्दोषरहिताहारग्रहणं, आदाननिक्षेपणासमितिः–ज्ञानोपकरणशौचोपकरणानां पूर्वं दृष्ट्वा

पश्चान्मयूरपिच्छैः प्रतिलेख्य ग्रहणं विसर्जनं च आदाननिक्षेपणासमितिः, प्रतिष्ठापनासमितिः—मलमूत्रशरीरादिकस्याविरुद्धनिर्जन्तुप्रदेशे विसर्जनं एतासु पंचसु समितिषु यो मूढो निर्विवेकः । तिसृषु गुप्तिषु मनोगुप्तिवाग्गुप्तिकायगुप्तिषु। जो मूढो अण्णाणी यः पुमान् मूढो निर्विवेकोऽज्ञानी जिनसूत्रबहिर्भूतः। ण हु कालो भणइ झाणस्स न विद्यते हु-स्फुटं, कोऽसौ ? कालोऽवसरः, ध्यानस्य सप्तमयोगस्य, एवं भणति मूढ ।

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स ।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥७६॥

भरते दुःषमकाले धर्म्यध्यानं भवति साधोः ।
तदात्मस्वभावस्थिते न हि मन्यते सोऽपि अज्ञानी ॥

भरहे दुस्समकाले भरहे—भरतक्षेत्रे भारतवर्षे, दुःषमे काले पंचमकाले कलिकालापरनाम्नि काले। धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स धर्मध्यानं भवति साधोर्दिगम्बरस्य मुनेः । तं अप्पसहावठिदे तद्धर्म्यध्यानं आत्मस्वभावस्थिते आत्मभावनातन्मये मुनौ भवति । ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी न मन्यते नाङ्गीकरोति सोऽपि पुमान् पापीयान् अज्ञानी जिनसूत्रबाह्यः ।

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहहि इंदत्तं ।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति ॥ ७७ ॥

अद्यापि त्रिरत्नशुद्धा आत्मानं ध्यात्वा लभन्ते इंद्रत्वम् ।
लौकान्तिकदेवत्वं ततः च्युत्वा निर्वाणं यान्ति ॥

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अद्यापि पंचमकालेऽस्मिन् सन्ततः पंचेन्द्रियविषयसुखादिसामग्रीं त्यक्त्वा वैराग्येण गृहीतदीक्षा त्रिरत्नशुद्धाः सम्यक्त्वज्ञानचारित्रनिर्मला वर्तन्त एव, ये कथयन्ति महाव्रतिनो न विद्यन्ते ते नास्तिका जिनसूत्रबाह्या ज्ञातव्याः । ते आत्मज्ञाः किं कुर्वन्ति ?

अप्पा झाएवि लहहि इंदत्तं आत्मानं ध्यात्वा भावयित्वा लभन्ते इन्द्रत्वं शक्रपदं । न केवलमिन्द्रत्वं लभन्ते, **लोयंतियदेवत्तं** केचिदल्पश्रुता अपि साधव आत्मभावनाबलेन लौकान्तिकत्वं लभन्ते पंचमस्वर्गस्यान्ते पर्यन्तप्रदेशेषु तेषां विमानानि सन्ति, तत्र भवा लौकान्तिकाः सुरमुनयश्च कथ्यन्ते, ते स्वर्गे स्थिता अपि ब्रह्मचर्यं प्रतिपालयन्ति—स्त्रीरहिता भवन्ति, तीर्थंकरसम्बोधनकाले मर्त्यलोकमागच्छन्ति अन्यथा स्वस्थानमेवाधितिष्ठन्ते ।

चतुर्लक्षाः सहस्राणि सप्त चैव शताष्टकं ।
विंशतिर्मेलिता एते बुधैर्लौकान्तिका मताः ॥ १ ॥

"सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च" इति तेषां भेदा अष्टौ जातयः । तथा तेषां षोडशजातयश्च वर्तन्ते । सारस्वतादित्यान्तरे अग्न्याभसूर्याभाः । आदित्यवह्निमध्ये चन्द्राभसत्याभाः । वन्ह्यरुणान्तरे श्रेयस्करक्षेमंकराः । अरुणगर्दतोयमध्ये वृषभेष्टकामचराः । गर्दतोयतुषितान्तरे निर्वाणरजोदिगन्तरक्षिताः । तुषिताव्याबाधमध्ये आत्मरक्षितसर्वरक्षिताः । अव्याबाधारिष्टान्तरे मरुद्वसवः । अरिष्टसारस्वतान्तरे अश्वविश्वाः । **तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति** तस्माच्च्युता निर्वृतिं निर्वाणं यान्ति गच्छन्ति । सर्वेऽपि पूर्वधारिण एकं गर्भवासं गृहीत्वा मोक्षं प्राप्नुवन्ति ।

जे पावमोहियमई लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं ।
पावं कुणंति पावा ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥ ७८ ॥

ये पापमोहितमतयः लिङ्गं गृहीत्वा जिनवरेन्द्राणाम् ।
पापं कुर्वन्ति पापाः ते त्यक्ता मोक्षमार्गे ॥

जे पावमोहियमई ये मुनयः पापमोहितमतयः पापेन ब्रह्मचर्यभंगख्यातिलाभपूजादिना मोहिता मतिः प्रापिता पापमोहितमतयः । **लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं** लिंगं चिन्हं मुद्रा नग्नं वस्त्रपात्रादि-

परीपहसहनशीला: । **जियकमाया** क्रोधमानमायालोभकषायरहिता: । **पावारंभविमुक्का** पापारंभेभ्यो विमुक्ता रहिता हिंसादिपंचपातकवि-हीना: सेवाकृषिवाणिज्यादिप्राणातिपातहेतुभूतारम्भरहिता: । **ते गहिया मोक्खमग्गम्मि** ते गृहीता अङ्गीकृता, मोक्षमार्गे रत्नत्रयलक्षणे ।

उद्धद्धमज्झलोए केई मज्झं ण अहयमेगागी ।
इय भावणाए जोई पावंति हु सासयं सोक्खं ॥८१॥

ऊर्ध्वाधोमध्यलोके केचित् मम न अहकमेकाकी ।
इति भावनया योगिन प्राप्नुवन्ति हि शाश्वतं सौख्यम् ॥

उद्धद्धमज्झलोए ऊर्ध्वलोकेऽधोलोके मध्यलोके । **केई मज्झं ण अहयमेगागी** कश्चिज्जीवो मम न वर्तन्ते, अहकं अहं एकाकी एक एव वर्ते । **इय भावणाए जोई** इति भावनया योगिनो मुनय: । **पावंति हु सासयं सोक्खं** प्राप्नुवन्ति लभन्ते हु स्फुटं शाश्वतं सौख्यं अविनश्वरं परमनिर्वाणसुखं । ठाणं इति पाठे शाश्वतं अविनश्वरं स्थानं मोक्षं प्राप्नुवन्ति [illegible] ।

देवगुरूण भत्ता णिव्वेयपरंपरा विचिंतिंता ।
झाणरया सुचरित्ता ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥८२॥

देवगुरूणां भक्ता: निर्वेदपरम्परां विचिन्तयन्त:
ध्यानरता: सुचरित्रा: ते गृहीता मोक्षमार्गे ॥

देवगुरूणं भत्ता [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

मणिमयानामपापकानां गोवधं कृत्वा संवत्सरे मातृभगिन्यादिभोगालम्पटानां भव्यजीवसंबोधने मातृपितृवद्धितोपदेशकानां पापघटाणाहकाणां, इत्यादिसावद्यकर्मरहितानां प्रासुकपरगृहयोग्यभोजनभोजकानां अवर्णलोपकानामनुच्छिष्टमुक्तिग्रहणमार्गाणां इत्यादिगुणगणगरिष्ठानां जगदिष्टानां गुरूणां ये भक्ता: पादपंकजमधुलिहा: (ह:) देवगुरूणां भक्ता इत्युच्यन्ते । **णिव्वेयपरंपरा विचिंतंता** निर्वेद: संसारशरीरभोगविरागता तस्य परंपरा नानाविधोपदेशस्तां विशेषेण चिन्तयन्त: पर्यालोचयन्त: नरकादिगतिगर्तपातिपातकभयभीतमूर्तय: । **झाणरया सुचरित्ता** ध्याने धर्म्यशुक्लध्यानद्वये रतास्तत्परा:, सुचारित्रा: शोभनाचारा: । **ते गहिया मोक्खमग्गम्मि** ते भव्यवरपुण्डरीका गृहीता अङ्गीकृता मोक्षमार्ग इति ।

णिच्छयणयस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो ।
सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥८३॥

निश्चयनयस्यैवं आत्माऽऽत्मनि आत्मने सुरत: ।
स भवति हि सुचरित्र: योगी स लभते निर्वाणम् ॥

णिच्छयणयस्स एवं निश्चयनयस्यैवमभिप्राय: । एवं कथमिति चेत् ? **अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो** आत्मा कर्ता, आत्मन्यधिकरणभूते, आत्मने आत्मार्थमिति संप्रदाने तादर्थ्यचतुर्थी, सुष्ठु अतिशयेनालौकिकप्रकारेण रत: तन्मयीभूत एकलोलीभावं गत: । **सो होदि हु सुचरित्तो** स आत्मा भवति, कथंभूतो भवति ? सुचरित्र: निश्चयचारित्र: । **जोई सो लहइ णिव्वाणं** योगी ध्यानवान् पुमान् लभते प्राप्नोति, किं तत् ? निर्वाणं परमसुखं मोक्षमिति, अथवा योगीशो योगिनां ध्यानिनामीश: स्वामी निर्वाणं लभते इति सम्बन्ध: ।

पुरिसायारो अप्पा जोई वरणाणदंसणसमग्गो ।
जो झायदि सो जोई पावहरो भवदि णिद्दंदो ॥८४॥

पुरुषाकार आत्मा योगी वरज्ञानदर्शनसमग्रः ।
यो ध्यायति स योगी पापहरो भवति निर्द्वन्द्वः ॥

पुरिसायारो अप्पा पुरुषस्य नरस्याकार आकृतिर्यस्य स पुरुषाकारः, एवं गुण विशिष्टः कः ? आत्मा चेतनस्वभावो जीवतत्त्वं, **जोई वरणाणदंसणसमग्गो** योगी मुनिः, इत्यनेन गृहस्थस्य मोक्षं ब्रुवाणाः सितपटाः प्रयुक्ता भवन्ति । वरज्ञानदर्शनसमग्रः केवलज्ञानकेवलदर्शनपरिपूर्णः । इत्यनेनाचैतन्यमात्मानं मन्यमानाः कापिलाः शुनका इव निराकृताः । **जो झायदि सो जोई** एवं गुणविशिष्टमात्मानं यो मुनिर्ध्यायति स योगी ध्यानी भवति । अन्यश्चार्वाको नास्तिको योगिनामा । एवं स्थाने स्थाने मतान्तराश्रयेण व्याख्यानं कर्तव्यमिति भावः । **पावहरो भवदि णिद्दंदो** पापहरस्त्रिषष्टिप्रकृतिविच्छेदको भवति घातिसंघातघातकः स्यात्, निर्द्वन्द्व समवशरणागतपरस्परविरोधिजन्तुकलहनिषेधक इत्यर्थ ।

एयं जिणेहि कहियं सवणाणं सावयाण पुण पुणसु ।
संसारविणासयरं सिद्धियरं कारणं परमं ॥ ८५ ॥

एतत् जिनैः कथितं श्रवणानां श्रावकाणां पुनः पुनः ।
संसारविनाशकरं सिद्धिकरं कारणं परमम् ॥

एयं जिणेहि कहियं एतद्घातिसंघातघातनादिकं फलं आत्मध्यानस्य, जिनैः सर्वज्ञैः कथितं प्रमाणभूतवचनैः प्रतिपादितं । **सवणाणं सावयाण पुण पुणसु** श्रवणानां दिगम्बराणां महामुन्यपरसंज्ञानामृषीणामिति, न केवलं श्रवणानां श्रावकाणां सद्दृष्टीनामुपासकानां च यस्मात् दीक्षायोग्या ध्यानाधिकारिणो देशव्रता सन्त आत्मभावनापराः संसारविरक्तचित्ता आश्रुक गृहीतचीवरा गृहपरित्यागपरिणामनसः घोर-शान्तनमस्कर्तारानिति । पुनः पुनः भणितं तत्त्वज्ञानविज्ञानार्थं च । संसा-

म्माणि क्षिपते विनाशयति दुष्टानि दुःखदायीनि अष्टकर्माणि ज्ञानावरणादीनि ।

किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले ।
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं ॥८८॥

किं बहुना भणितेन ये सिद्धा नरवरा गते काले ।
सेत्स्यन्ति येऽपि भव्याः तज्जानीत सम्यक्त्वमाहात्म्यं ॥

किं बहुणा भणिएणं किं बहुना भणितेन किं प्रचुरेण जल्पितेन न किमपीत्याक्षेपः । **जे सिद्धा णरवरा गए काले** ये केचित्सिद्धा मुक्तिं गता मोक्षं प्राप्ताः, नरवरा भव्यवरपुण्डरीका भरतसगररामपाण्डवादयः तत्सर्वं सम्यक्त्वमाहात्म्यं जानीत यूयमिति सम्बन्धः, गते काले अतीते काले । **सिज्झिहहि जे वि भविया** सेत्स्यन्ति भविष्यति काले सिद्धिं यास्यन्ति मोक्षं प्राप्स्यन्ति येऽपि भव्याः । **तं जाणह सम्ममाहप्पं** तज्जानीत सम्यक्त्वस्य माहात्म्यं प्रभावं ।

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया ।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं ॥८९॥

ते धन्याः सुकृतार्थाः ते शूरा तेऽपि पण्डिता मनुजाः ।
सम्यक्त्वं सिद्धिकरं स्वप्नेऽपि न मलिनितं यैः ॥

ते धण्णा सुकयत्था ते पुरुषा धन्याः पुण्यवन्तः, ते पुरुषाः सुकृतार्थाः सुष्ठु अतिशयेन कृतार्थाः कृतकृत्याः साधितचतुःपुरुषार्थाः । **ते सूरा ते वि पंडिया मणुया** ते पुरुषाः शूराः सुभटाः पापकर्मशत्रुनिर्मूलकत्वात्, ते पुरुषाः पण्डिताः विद्वांसः तार्किकाः अपि मनुजा मानवा अपि मर्त्या देवा इदर्थः । **सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं** सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनं, स्वप्नेऽपि निद्रायां, अतिरम्या-

जाग्रदवस्थायामपि, यैः पुरुषैः, सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनरत्नं, न मलिनीकृतं निरतिचारं प्रतिपालितं। कथंभूतं सम्यक्त्वं, सिद्धियरं—सिद्धिकरं आत्मोपलब्धिलक्षणमोक्षकारकमिति।

तं सम्मत्तं केरिसं हवदि-त्तं जहा—तत्सम्यक्त्वं कीदृशं भवति तद्यथा—

हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे।
निग्गंथे पावयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥ ९० ॥

हिंसारहिते धर्मे अष्टादशदोषवर्जिते देवे।
निर्ग्रन्थे प्रावचने श्रद्धानं भवति सम्यक्त्वम् ॥

हिंसारहिए धम्मे हिंसारहिते धर्मे श्रद्धानं सम्यक्त्वं भवतीति सम्बन्धः, हिंसारहितो धर्मो जैनधर्मः। यत्र धर्मे ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राश्वपश्वादिको जीवो वध्यते सोऽधर्म इति तत्वार्थः। **अट्ठारहदोसवज्जिए देवे** अष्टादशदोषवर्जिते देवे श्रद्धानमिति सम्बन्धः। रुद्रः किल शृगालश्रेष्ठिनः पुत्रं भक्षितवान् तत्र क्षुधादोषः हिंसादोषश्च। ब्रह्मणः कमण्डलुग्रहणात् पिपासादोषः, जीर्णशरीरत्वात्तस्य जरादोषः। गजचर्मत्वे[1] कष्टेकावत्वं रुद्रे रुग्दोषः, सूर्ये पादकुष्ठत्वाद्रुग्दोषः। दशावतारसंयुक्तत्वात् कृष्णे जन्मदोषः वसुदेवदेवकीनन्दनत्वाच्च। त्रयाणामपि मृत्युसद्भावो वेदितव्यः। नरकासुरभयानष्टः खलु श्रीमहादेवस्तत्र भयदोषः, ब्रह्मा दंडं धरति, रुद्रः शूलं खण्डपरशुं पिनाकं धनुश्चेत्यादिकं धत्ते, विष्णुश्चक्रं सुदर्शनं कौमोदकीं गदां चेत्यादिकं गृह्णाति तेन त्रयाणामपि भयसद्भावो बुधैरवबुध्यते। सृष्टिकर्तृत्वसंहर्तृत्वादिकस्तत्र स्मयो मदश्च निर्धार्यते विपश्चिद्भिः। रुद्रः पार्वती-

१ चर्मवद् ग. पुस्तके।

मर्धाङ्गे धरति जटामध्ये गंगां चादधाति, ब्रह्मा वशिष्ठस्य पितृत्वादुर्वशीवल्लभत्वात्, विष्णुः षोडशसहस्रगोपीर्भजते गोपनाथस्य दुहितरं च, सूर्यो रण्णादेवीं चन्द्रो रोहिणीं च भुंक्ते तेनैते रागवन्तोऽपि ज्ञातव्याः। ब्रह्मा गजासुरं द्वेष्टि, रुद्रस्त्रिपुरदानवं भस्मयति, विष्णुः कंसकेशचाणूरजरासन्धान् पिनष्टि तेनैते द्वेषवन्तोऽपि ज्ञातव्याः। ब्रह्मा वशिष्ठमुखं पश्यति, रुद्रस्तु स्कन्दं निरीक्षते, विष्णुः प्रद्युम्ने स्निह्यति तैनैते मोहिनोऽपि ज्ञातव्याः। ब्रह्मणः सृष्टिचिन्ता समुत्पन्ना रुद्रस्य नरकवरदानात् विष्णोर्जरासन्धशिशुपालादिवधे महती चिन्ता समुत्पन्ना। ब्रह्मा उर्वश्या रमते, रुद्रः पार्वतीं भुंक्ते, विष्णुः सत्यभामाद्याः क्रीडति तेनैतेषु रतिदोषोऽपि घटते। ब्रह्मा योगनिद्रां करोति, रुद्रः कैलासे शेते गिरीशनामकत्वात्, विष्णुर्जलशायीति कथ्यते तेनैते प्रमीलावन्तोऽपि विज्ञेयाः निद्रादोषा इत्यर्थः। रुद्रो नरकाय वरं दत्वा विषीदति इत्यादि विषाददोषोऽपि संगच्छते। मैथुनादिषु स्वेदसद्भावोऽपि लोकर्का एतद्देवानामस्पृश्यः। खेदस्तु संग्रामादौ। विस्मयस्तु रूपादिदर्शने। इत्यादि लोकदेवतानामष्टादशापि दोषाश्चिन्तनीया। सर्वज्ञवीतरागे तु कश्चिदपि दोषो न वर्तते। उक्तं च—

> रागादिदोषसद्भावो ज्ञेयोऽमीषां तदागमात्।
> असतः परदोषस्य गृहीतौ पातकं महत्॥ १॥

णिग्गंथे पावयणे निर्ग्रन्थे प्रावचने प्रवचननिपुणे गुरौ। सद्दहणं होइ सम्मत्तं एतेषु धर्मदेवगुरुषु पदार्थेषु श्रद्धानं रुचिः अन्येषु स्वयान्तरसु सम्यक्त्वरुचिः सम्यक्त्वं भवतीति क्रियाकारकसम्बन्धः।

> जहजायरूवरूवं सुसंजयं सव्वसंगपरिचत्तं।
> लिंगं ण परावेक्खं जो मण्णइ तस्स सम्मत्तं॥९१॥

¹ ...थयण इति मूलगाथा पाठः।

त्यादि—कुत्सितलिंगं च वन्दते नमस्करोति अभिवादनं विदधाति नमो-नारायणमिति वाचा प्रणमति मस्तकेन वन्दे इति प्रणमति यस्तु पुमान्। **लज्जाभयगारवदो** लज्जया कृत्वा भयेन च गारवेण गर्वेण च यो वन्दते। **मिच्छादिट्ठी हवे सो हु** मिथ्यादृष्टिर्भवति सः। कथं ? हु-स्फुटं।

सपरावेक्खं लिंगं राई देवं असंजयं वंदे ।
माणइ मिच्छादिट्ठी ण हु मण्णइ सुद्धसम्मत्तो ॥९३॥

स्वपरापेक्षं लिङ्गं रागिणं देवं असंयतं वन्दे ।
मानयति मिथ्यादृष्टिः न हि मानयति शुद्धसम्यक्त्वः ॥

सपरावेक्खं लिंगं स्वपरापेक्षं लिंगं, स्वापेक्षं ऋषिपत्नीयुतं परापेक्षं रक्तवस्त्रमृगचर्मादि सापेक्षं लिंगं वेषं। **राई देवं असंजयं वंदे** रागिणं देवं पार्वतीपतिं लक्ष्मीकान्तं तिलोत्तमामुखकमलप्रघट्टकचतुर्वक्त्रं चेत्यादिकं देवं, असंजयं वंदे—असंयतं अनेकमानुषमांसदक्षिणमुखमक्षकं वन्दे इति यो वक्ति। **माणइ मिच्छादिट्ठी** मानयति मिथ्यादृष्टिः—श्रद्धाति मिथ्यादृष्टिः जिनानामभक्तः। **ण हु मण्णइ सुद्धसम्मत्तो** न मानयति न सम्मानं ददाति, कोऽसौ ? शुद्धसम्यक्त्वो निर्मलसम्यक्त्वरत्नमंडितः।

सम्माइट्ठी सावय धम्मं जिणदेवदेसियं कुणदि ।
विवरीयं कुव्वंतो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ॥९४॥

सम्यग्दृष्टिः श्रावकः धर्मं जिनदेवदेशितं करोति ।
विपरीतं कुर्वन् मिथ्यादृष्टिः ज्ञातव्यः ॥

सम्माइट्ठी सावय सम्यग्दृष्टिः श्रावकः सम्यग्दर्शनसंशोभितो गृहस्थः। अथवा श्रावयतीति श्रावको मुनिः। अथवा हे सम्यग्दृष्टिश्रावक ! इति सम्बोधनपदं। **धम्मं जिणदेवदेसियं कुणदि** धर्मं दुर्गतिपाता-

१ मस्तकेन वदयति प्रणमति क.।

मिथ्यात्वं विधेहि । अर्थतस्तु सम्यक्त्वं विधेहीति सम्यगुपदेशो भगवत् श्रीकुन्दकुन्दाचार्याणां ।

बाहिरसंगविमुक्को ण वि मुक्को मिच्छभाव णिग्गंथो ।
किं तस्स ठाणमउणं ण वि जाणदि अप्पसमभावं ॥९७॥

बाह्यसंगविमुक्तः न विमुक्तः मिथ्याभावेन निर्ग्रन्थः ।
किं तस्य स्थानमौनं नापि जानाति आत्मसमभावम् ॥

बाहिरसंगविमुक्को बहिःसंगाद्विमुक्तो रहितो नग्नवेषः । **ण वि मुक्को मिच्छभाव णिग्गंथो** नापि मुक्तः नैव मुक्तः न विमुक्तो मिथ्याभावेन–मिथ्यात्वदोषेण रहितो न भवति, कोऽसौ ? निर्ग्रन्थो दिगम्बरवेषधारजीवी जीवः । **किं तस्स ठाणमउणं** तस्य निर्ग्रन्थस्य स्थानं उद्भकायोत्सर्गः किं–न किमपि, कर्मक्षयलक्षणं मोक्षं न साधयतीत्यर्थः तथा मौनं किं–मूकत्वमपि न किमपि, मोक्षाश्रितं कार्यं न करोतीत्यर्थः **ण वि जाणदि अप्पसमभावं** नापि जानीते न लभते न वेत्ति आत्मसमभावं आत्मनां जीवानां समत्वपरिणामं–सर्वे जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावा इति सिद्धान्तवचनं न जानाति ।

मूलगुणं छित्तूण य बाहिरकम्मं करेइ जो साहू ।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणलिंगविराहगो णियं ॥ ९८ ॥

मूलगुणं छित्वा बाह्यकर्म करोति यः साधुः ।
स न लभते सिद्धिसुखं जिनलिङ्गविराधकः नियतम् ॥

मूलगुणं छित्तूण य मूलगुणमष्टाविंशतिभेदभिन्नं पंचमहाव्रतानि पंचसमितयः पंचेन्द्रियरोधो लोचः षडावश्यकानि अचेलत्वमस्नानं क्षितिशयनं दन्तधावनरहितत्वं उद्भभोजनं एकभक्तं इत्यष्टाविंशतिमूलगुणाः । तत्र षडुक्तं स्नानाभावविषयमर्थं —

नित्यस्नानं गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे ।
यतेस्तु दुर्जनस्पर्शात् स्नानमन्यद्विगर्हितं ॥ १ ॥

तत्र यतेः रजस्वलास्पर्शे अस्थिस्पर्शे चण्डालस्पर्शे शुनकगर्दभनापितयोनकपालस्पर्शे वमने विष्टोपरि पादपतने शरीरोपरिकाकविष्मोचने इत्यादिस्नानोत्पत्तौ सत्यां दण्डवदुपविश्यते, श्रावकादिकस्तडागादिको वा जलं नामयति, सर्वाङ्गप्रक्षालनं क्रियते, स्वयं हस्तमर्दनेनाङ्गमलं न दूरीक्रियते, स्नाने संजाते सति उपवासो गृह्यते, पंचनमस्कारशतमष्टोत्तरं कायोत्सर्गेण जप्यते एव शुद्धिर्भवति । एवं मूलगुणं छित्वा **बाहिरकम्मं करेइ जो साहू** बहिःकर्म आतपनयोगादिकं यः साधुः करोति । **सो ण लहइ सिद्धिसुहं** स साधुः सिद्धिसुखं मोक्षसौख्यं न लभते न प्राप्नोति । **जिणलिंगविराधगो णिच्चं** स साधुर्जिनलिंगविराधको भवति, कथं ? नित्यं सर्वकालं ।

किं काहिदि बहिकम्मं किं काहिदि बहुविहं च खवणं च ।
किं काहिदि आदावं आदसहावस्स विवरीदो ॥ ९९ ॥

किं करिष्यति बहिःकर्म किं करिष्यति बहुविधं च क्षमणं च ।
किं करिष्यति आतापः आत्मस्वभावाद्विपरीतः ॥

किं काहिदि बहिकम्मं किं करिष्यति—न किमपि करिष्यति, मोक्षं न करिष्यति, किं तत् ? बहिःकर्म पठनपाठनादिकं प्रतिक्रमणादिकं च । **किं काहिदि बहुविहं च खवणं च** किं करिष्यति—न किमपि करिष्यति, न मोक्षं दास्यति । किं तत् ? बहुविधं नानाप्रकारं क्षमणमुपवासः । **किं काहिदि आदावं** किं करिष्यति—न किमपि करिष्यति, कोऽसौ ? [illegible] । [illegible] **आदसहावस्स विवरीदो** [illegible] ।

जदि पढदि बहुसुदाणि य जदि काहिदि बहुविहे य चारित्ते।
तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीदं ॥ १००॥

यदि पठति श्रुतानि च यदि करिष्यति बहुविधानि चारित्राणि ।
तद्बालश्रुतं चरणं भवति आत्मनः विपरीतम् ॥

जदि पढदि बहुसुदाणि य यदि चेत्, पठति व्यक्तमुच्चारयति, बहुश्रुतानि अनेकतर्कव्याकरणच्छन्दोऽलङ्कारसिद्धान्तसाहित्यादीनि शास्त्राणि। चकार उक्तसमुच्चयार्थ एकादशाङ्गानि दशपूर्वाणि च। **जदि काहिदि बहुविहे य चारित्ते** यदि चेत्, काहिदि—करिष्यति अनुष्ठास्यति, बहुविधानि चारित्राणि त्रयोदशप्रकाराणि सामायिकादीनि पंचविधानि वा। **तं बालसुदं चरणं** तत्सर्वं बालश्रुतं मूर्खशास्त्रं, बालचरणं मूर्खचारित्रं। **हवेइ अप्पस्स विवरीदं** भवति बालश्रुतं बालचारित्रं भवति, कथंभूतं सत्? आत्मनो निजशुद्धबुद्धैकस्वभावजीवतत्वाद्विपरीतं पराङ्मुखमात्मभावनारहितमिति भावार्थः।

वेरग्गपरो साहू परदव्वपरम्मुहो य सो होदि।
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो ॥ १०१ ॥

वैराग्यपरः साधुः परद्रव्यपराङ्मुखश्च स भवति ।
संसारसुखविरक्तः स्वकशुद्धसुखेषु अनुरक्तः ॥

वेरग्गपरो साहू वैराग्यपरः साधुः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः सम्यग्दर्शनज्ञानानामाराधकत्वात्साधकः आत्मनामान्वर्थत्वात्। **परदव्वपरम्मुहो य सो होदि** यः साधुः वैराग्यपरः स साधुः परद्रव्यपराङ्मुखो भवति इष्टवनितादिविरक्तो भवति। **संसारसुहविरत्तो** संसारस्य सुखे कर्पूरकस्तूरीचन्दनपुष्पमालापट्टकूलसुवर्णमणिमौक्तिकप्रासादपल्यंकनवयौवनयुवतिपुत्रसम्पदिष्टसंयोगारोग्यदीर्घायुयशःकीर्तिप्रभृतिके तस्माद्विरक्तः।

मदेवैर्यद्ध्यायते अहर्निशं शुक्लध्यानार्थं सर्वकर्मक्षयार्थं तत्पदप्राप्त्यर्थं अनुचिन्त्यते। थुव्वंतेहि थुणिज्जइ स्तूयमानैस्तीर्थंकरपरमदेवैर्यत् स्तूयतेऽनन्तगुणोद्भावनतया प्रशस्यते। देहत्थं किं पि तं मुणह देहस्थं शरीरमध्ये स्थितं किमप्यपूर्वमनिर्वचनीयमात्मस्वरमप्राप्तं तद्योगिनां प्रसिद्धं तत्वं आत्मस्वरूपं मुणह—जानीत यूयं। मदुक्तं—

तिलमध्ये यथा तैलं दुग्धमध्ये यथा घृतं।
काष्ठमध्ये यथावन्हिर्देहमध्ये तथा शिवः ॥ १ ॥

शिवशब्दवाच्यमात्मतत्वमित्यर्थः।

इदानीं शास्त्रस्यान्ते मंगलनिमित्तं पंचपरमेष्ठिपुरस्सररत्नत्रयगर्भितमात्मतत्वमुद्भावयन्ति भगवन्तः—

अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी।
ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१०४॥

अर्हन्तः सिद्धा आचार्या उपाध्यायाः साधवः पंचपरमेष्ठिनः।
तेऽपि हु तिष्ठन्ति आत्मनि तस्मादात्मा हु मे शरणम् ॥

अरुहा सिद्धायरिया अर्हन्तः सिद्धा आचार्याश्च। **उज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी** उपाध्यायाः, साधवः, एते पंचपरमेष्ठिनो देवा ममेष्टदेवताः। **ते वि हु चिट्ठहि आदे** तेऽपि पंचपरमेष्ठिनो देवा अपि तिष्ठन्ति, क? आत्मनि निजजीवतत्वे। केवलज्ञानादिगुणविराजमानत्वात् सकलभव्यजीवसम्बोधनसमर्थत्वाचात्मायमर्हन् वर्तते। सर्वकर्मक्षयलक्षणमोक्षपदप्राप्तत्वात् निश्चयनयान्ममात्मायमेव सिद्धः। दीक्षाशिक्षादायकत्वात् पंचाचाराचरणचारणप्रवीणत्वात् सूरिमंत्रतिलकमंत्रतन्मयत्वान्ममात्मायमेवाचार्यपदभागी वर्तते। श्रुतज्ञानोपदेशकत्वात् स्वपरमतविज्ञायकत्वात् भव्यजीवसम्बोधकत्वान्ममात्मायमेवोपाध्यायः। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र-

एवं जिनप्रज्ञप्तं मोक्षस्य च प्राभृतं सुभक्त्या ।
यः पठति शृणोति भावयति स प्राप्नोति शाश्वतं सौख्यम् ॥

एवं जिणपण्णत्तं एवममुना प्रकारेण जिनप्रज्ञप्तं सर्वज्ञवीतराग भाषितं । **मोक्खस्स य पाहुडं सुभत्तीए** मोक्षस्य परमनिर्वाणपदस्य प्राभृतं सारमिदं शास्त्रं सुष्ठु-अतिशयेन भक्त्या परमधर्मानुरागेण । **जो पढइ सुणइ भावइ** य आसन्नभव्यो जीवः पठति जिह्वाग्रे करोति, यश्च भव्यजीवः शृणोत्याकर्णयति, यश्च मोक्षाभिलाषुको जीवो भावयति एतच्छास्त्रं यस्मै रोचते । **सो पावइ सासयं सोक्खं** स जीवः परममुनीश्वरः, प्राप्नोति लभते, शाश्वतमविनश्वरं, सौख्यं निजात्मोत्थं परमानन्दलक्षणं सौख्यं ।

नानाशास्त्रमहार्णवैकतरणे यद्बुद्धिरिद्धश्रिया
पूर्णा[1] पुण्यकविप्रमोदजननी सारैकनौकायते ।
यत्पादाम्बुजयुग्ममाप्य मुनिभिर्भृगैरिवापीयते
स श्रीमान् श्रुतसागरो विजयतामेनस्तमोऽहर्पतिः ॥१॥

श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्रममलं श्रीकुन्दकुन्दाह्वयं
यो धीमानकलङ्कमट्टमपि च श्रीमत्प्रभेन्दुप्रभुं ।
विद्यानन्दमपीक्षितुं कृतमनाः श्रीपूज्यपादं गुरुं
वाञ्छेत श्रुतसागरं सविनयात् त्रैविद्यधीमन्नुतं ॥ २ ॥

श्रीमल्लिभूषणगुरोर्वचनादलंध्या-
न्मुक्तिश्रिया सह समागममिच्छतेव ।
पट्प्राभृते सकलसंशयशत्रुहन्त्री
टीका कृताऽकृतधियां श्रुतसागरेण ॥ ३ ॥

---

१ पूर्णपुण्य ख. ।

इति श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृध्रपिच्छाचार्यनामपञ्चकविराजितेन चतुरङ्गुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवन्दितसीमन्धरापरनामस्वयंप्रभजिनेन तच्छ्रुतज्ञानसम्बोधितभरतवर्षभव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे सर्वमुनिमण्डलीमण्डितेन कलिकालगौतमस्वामिना श्रीपद्मनन्दि-देवेन्द्रकीर्ति-विद्यानन्दिपट्टभट्टारकेण श्रीमल्लिभूषणेनानुमतेन सकलविद्वज्जनसमाजसम्मानितेनोभयभाषाकविचक्रवर्तिना श्रीविद्यानन्दिगुर्वन्तेवासिना सूरिवरश्रीश्रुतसागरेण विरचिता मोक्षप्राभृतटीका—

परिसमाप्ता।



१ अस्मादग्रे क. पुस्तकेऽयं पाठो वर्तते न तु ख. पुस्तके।
षष्ठः परिच्छेदः। शुभं भवतु। श्रीरस्तु। मङ्गलमस्तु।
श्रीविद्यानन्दिस्वामि-भट्टारकश्रीमल्लिभूषण-सूरिवरश्रीश्रुतसागराः
मम शुभानि कुर्वन्तु।
श्लोकसंख्या ६००० ज्ञातव्या।

लिंगप्राभृतं ।



काऊण णमोकारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं ।
वोच्छामि समणलिंगं पाहुडसत्थं समासेण ॥ १ ॥

कृत्वा नमस्कारं अर्हतां तथैव सिद्धाना ।
वक्ष्यामि श्रमणलिंगं प्राभृतशास्त्रं समासेन ॥

धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती ।
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो ॥ २ ॥

धर्मेण भवति लिंगं न लिंगमात्रेण धर्मसप्राप्तिः ।
जानीहि भावधर्मं किं ते लिंगेन कर्तव्यं ॥

जो पावमोहिदमदी लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं ।
उवहसइ लिंगि भावं लिंगं णासेदि लिंगीणं ॥ ३ ॥

यः पापमोहितमतिः लिंग गृहीत्वा जिनवरेन्द्राणां ।
उपहसति लिंगी भावं लिंग नाशयति लिंगिनां ॥

णचदि गायदि तावं वायं वाएदि लिंगरूवेण ।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ ४ ॥

नृत्यति गायति तावत् वाद्यं [1] वाचयति लिंगरूपेण ।
स पापमोहितमति तिर्यग्योनि न स श्रमणः ॥

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण ।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ ५ ॥

---

१ द पु. । २ ख. पु. ।

दंसणणाणचरित्ते तवसंजमणियमणिच्चकम्मम्मि ।
पीडयदि वट्टमाणो पावदि लिंगी णरयवासं ॥ ११ ॥

दर्शनज्ञानचरित्रेषु तपःसंयमनियमनित्यकर्मणि ।
पीडयति वर्तमान. प्राप्नोति लिंगी नरकवासं ॥

कंदप्प (प्पा) इय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं ।
माई लिंगविवाई तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ १२ ॥

कंदर्पादिके वर्तते कुर्वाणः भोजनेषु रसगृद्धिं ।
मायावी लिंगव्यपायी तिर्यग्योनि. न स श्रमण. ॥

धावदि पिंडणिमित्तं कलहं काऊण.भुंजदे पिंडं ।
अवरुपरूई संतो जिणमग्गि ण होइ सो समणो ॥ १३ ॥

धावति पिंडनिमित्तं कलहं कृत्वा भुंक्ते पिंडं ।
अपरप्ररूपी सन् जिनमार्गी न भवति स श्रमणः ॥

गिण्हदि अदत्तदाणं परणिंदा वि य परोक्खदूसेहिं ।
जिणलिंगं धारंतो चोरेण व होइ सो समणो ॥ १४ ॥

गृह्णाति अदत्तदानं परनिन्दामपि च परोक्षदूषणैः ।
जिनलिंगं धारयन् चोरेणेव भवति स श्रमणः ॥

उप्पडदि पडदि धावदि पुढवीओ खणदि लिंगरूवेण ।
इरियावह धारंतो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ १५ ॥

उत्पतति पतति धावति पृथिवी खनति लिंगरूपेण ।
ईर्यापथं धारयन् तिर्यग्योनिः न स श्रमणः ॥

बंधो णिरओ संतो सस्सं खंडेदि तह य वसुहं पि ।
छिंददि तरुगण बहुसो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥१६॥

---

१ अयथावादी ।

पुंश्चलीगृहे यः भुंक्ते नित्यं संस्तौति पुष्णाति पिंडं ।
प्राप्नोति बालस्वभावं भावविनष्टो न स श्रवणः ॥

इय लिंगपाहुडमिणं सव्वं बुद्धेहि देसियं धम्मं ।
पालेहि कट्ठसहियं सो गाहदि उत्तमं ठाणं ॥ २२ ॥

इति लिंगप्राभृतमिदं सर्वं बुद्धैः देशितं धर्मं ।
पालयति कष्टसहितं स गाहते उत्तमं स्थानं ॥

इति श्रीकुन्दकुन्दाचार्यविरचितलिंगप्राभृतकं
समाप्तम् ।

णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं ।
संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्वं ॥ ५ ॥
ज्ञानं चारित्रहीनं लिंगग्रहणं च दर्शनविहीनं ।
संयमहीनश्च तपः यदि चरति निरर्थकं सर्वं ॥

णाणं चरित्तसुद्धं लिंगग्गहणं च दंसणविसुद्धं ।
संजमसहिदो य तवो थोओ वि महाफलो होइ ॥ ६ ॥
ज्ञानं चारित्रशुद्धं लिंगग्रहणं च दर्शनविशुद्धं ।
संयमसहितश्च तपः स्तोकमपि महाफलं भवति ॥

णाणं णाऊण णरा केई विसयाइभावसंसत्ता ।
हिंडंति चादुरगदिं विसएसु विमोहिया मूढा ॥ ७ ॥
ज्ञानं ज्ञात्वा नराः केचित् विषयादिभावसंसक्ताः ।
हिण्डन्ते चातुर्गतिं विषयेषु विमोहिता मूढाः ॥

जे पुण विसयविरत्ता णाणं णाऊण भावणासहिदा ।
छिंदंति चादुरगदिं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ॥ ८ ॥
ये पुनर्विषयविरक्ता ज्ञानं ज्ञात्वा भावनासहिताः ।
छिन्दन्ति चातुर्गतिं तपोगुणयुक्ता न सन्देहः ॥

जह कंचणं विसुद्धं धम्मइयं खंडियलवणलेवेण ।
तह जीवो वि विसुद्धं णाणविसलिलेण विमलेण ॥ ९ ॥
यथा कांचनं विशुद्धं धमत् खडिकलवणलेपेन ।
तथा जीवोऽपि विशुद्धं ज्ञानसलिलेन विमलेन ॥

णाणस्स णत्थि दोसो कापुरिसाणो वि मंदबुद्धीणो ।
जे णाणगव्विदा......होऊणं विसएसु रज्जंति ॥ १० ॥
ज्ञानस्य नास्ति दोषः कापुरुषस्यापि मन्दबुद्धेः ।
ये ज्ञानगर्विताः......भूत्वा विषयेषु रज्यन्ति ॥

सीलगुणमंडिदाणं देवा भवियाण वल्लहा होंति ।
सुदपारयपउरा णं दुस्सीला अप्पिला लोए ॥ १७ ॥

शीलगुणमण्डितानां देवा भव्यानां वल्लभा भवन्ति ।
श्रुतपारगप्रचुरा दुःशीला अल्पकाः लोके ॥

सव्वे वि य परिहीणा रूवविरूवा वि वदिदसुवया वि ।
सीलं जेसु सुसीलं सुजीविदं माणुसं तेसिं ॥ १८ ॥

सर्वेऽपि च परिहीना रूपविरूपा अपि पतितसुवयसोऽपि ।
शीलं येषु सुशीलं सुजीवितं मनुष्यत्वं तेषां ॥

जीवदया दम सचं अचोरियं बंभचेरसंतोसे ।
सम्मद्दंसण णाणं तओ य सीलस्स परिवारो ॥ १९ ॥

जीवदया दम सत्य अचौर्यं ब्रह्मचर्यसन्तोषौ ।
सम्यग्दर्शन ज्ञानं तपश्च शीलस्य परिवार. ॥

सीलं तवो विसुद्धं दंसणसुद्धी य णाणसुद्धी य ।
सीलं विसयाण अरी सीलं मोक्खस्स सोपाणं ॥ २० ॥

शील तपो विशुद्ध दर्शनशुद्धिश्च ज्ञानशुद्धिश्च ।
शील विषयाणामरिः शील मोक्षस्य सोपान ॥

जह विसयलुद्ध विसदो तह थावरजंगमाण घोराणं ।
सव्वेसिं पि विणासदि विसयविसं दारुणं होई ॥ २१ ॥

यथा विषयलुब्धो विषद. तथा स्थावरजङ्गमान् घोरान् ।
सर्वानमपि विनाशयति विषयविष दारुणं भवति ॥

वारि एक्कम्मि य जम्मे मरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो ।
विसयविसपरिहया णं भमंति संसारकांतारे ॥ २२ ॥

---

१ "क्वचिदसादे" इत्यनेन द्वितियास्थाने षष्ठी । द्वितीयादिविभक्तीनां स्थाने क्वचित् षष्ठी स्यादिति सूत्रार्थ. । २ "अष्टासोर्डीप्" इत्यनेन द्वितियास्थाने सप्तमी । द्वितीयातृतीययो. स्थाने क्वचित् सप्तमी भवतीति सूत्रैदंपर्यं । (सं.)

वारं एकं जन्म गच्छेत् विषवेदनाहतो जीवः ।
विषयविषपरिहता भ्रमन्ति संसारकान्तारे ॥

णरएसु वेयणाओ तिरिक्खए माणुएसु दुक्खाइं ।
देवेसु वि दोहग्गं लहंति विसयासता जीवा ॥ २३ ॥

नरकेषु वेदनाः तिरश्चि मानवेषु दुःखानि ।
देवेष्वपि दौर्भाग्यं लभन्ते विषयासक्ता जीवाः ॥

तुसधम्मंतवलेण य जह दव्वं ण हि णराण गच्छेदि ।
तवसीलमंत कुसली खवंति विसयं विसय व खलं ॥ २४ ॥

तुषध्मद्बलेन च यथा द्रव्यं न हि नराणा गच्छति ।
तपःशीलमन्तः कुशला क्षिपन्ते विषयं विषमिव खलं ! ॥

वट्टेसु य खण्डेसु य भद्देसु य विसालेसु अंगेसु ।
अंगेसु य पप्पेसु य सव्वेसु य उत्तमं सीलं ॥ २५ ॥

वृत्तेषु च खण्डेषु च भद्रेषु च विशालेषु अंगेषु ।
अंगेषु च प्राप्तेषु सर्वेषु च उत्तमं शीलं ॥

पुरिसेण वि सहियाए कुसमयमूढेहिं विसयलोलेहिं ।
संसारे भमिदव्वं अरयघरट्टं व भूदेहिं ॥ २६ ॥

पुरुषेणापि सहितेन कुसमयमूढैः विषयलोलैः ।
संसारे भ्रमितव्यं अरहटघरट्टं इव भूतैः ॥

आदेहि कम्मगंठी जावद्दा विसयरायमोहेहिं ।
तं छिंदंति कयत्था तवसंजमसीलयगुणेण ॥ २७ ।

आत्मनि हि कर्मग्रंथिः यावद्बद्धा विषयरागमोहाभ्यां ।
तां छिन्दन्ति कृतार्थाः तपःसंयमशीलगुणेन ॥

---

१ मु. मू. ।

उदधी व रदणभरिदो तवविणयंसीलदाणरयणाणं ।
सोहेंतो य ससीलो णिव्वाणमणुत्तरं पत्तो ॥ २८ ॥

उदधिरिव रत्नभृतः तपोविनयशीलदानरत्नानां ।
शोभेत सशीलः निर्वाणमनुत्तरं प्राप्तः ॥

सुणहाण गद्दहाण य गोपसुमहिलाण दीसदे मोक्खो ।
जे सोधंति चउत्थं पिच्छिज्जंता जणेहि सव्वेहिं ॥ २९ ॥

शुनां गर्दभानां च गोपशुमहिलानां दृश्यते मोक्षः ।
ये साधयन्ति चतुर्थं दृश्यमानाः जनैः सर्वैः ॥

जइ विसयलोलएहिं णाणीहि हविज्ज साहिदो मोक्खो ।
तो सो सुरत्तपुत्तो दसपुव्वीओ वि किं गदो णरयं ॥ ३० ॥

यदि विषयलोलैः ज्ञानिभिः भवेत् साधितो मोक्षः ।
तर्हि स सात्यकिपुत्रः दशपूर्विकः किं गतो नरकं ॥

जइ णाणेण विसोहो सीलेण विणा बुहेहि णिद्दिट्ठो ।
दसपुव्विस्स य भावो ण किं पुण णिम्मलो जादो ॥ ३१ ॥

यदि ज्ञानेन विशुद्धः शीलेन विना बुधैर्निर्दिष्टः ।
दशपूर्विण च भावो न किं पुनः निर्मलो जातः ॥

जाए विसयविरत्तो सो गमयदि णरयवेयणापउरा ।
ता लेहदि अरुहपयं भणियं जिणवड्ढमाणेण ॥ ३२ ॥

य विषयविरक्तः स गमयति नरकवेदनां प्रचुरां ।
तल्लभते अर्हत्पदं भणितं जिनवर्धमानेन ॥

एवं बहुप्पयारं जिणेहि पच्चक्खणाणदरिसीहिं ।
सीलेण य मोक्खपयं अक्खातीदं च लोयणाणेहिं ॥ ३३ ॥

---

१ जो २ सो । ३ रुह ।

सव्वगुणखीणकम्मा सुहदुक्खविवज्जिदा मणविसुद्धा ।
पप्फोडिय कम्मरया हवंति आराहणापयडा ॥ ३९ ॥
सर्वगुणक्षीणकर्माणः सुखदुःखविवर्जिता मनोविशुद्धाः ।
प्रस्फुटितकर्मरजसः भवन्ति अराधनाप्रकटाः ॥

अरहंते सुहभत्ती सम्मत्तं दंसणेण सुविसुद्धं ।
सीलं विसयविरागो णाणं पुण केरिसं भणियं ॥ ४० ॥
अर्हति शुभभक्तिः सम्यक्त्वं दर्शनेन सुविशुद्धं ।
शीलं विषयविरागो ज्ञानं पुनः कीदृशं भणितं ॥

इति श्रीकुन्दकुन्दाचार्यविरचितशीलप्राभृतकं
समाप्तं ।

— —

मयभ्रमणतत्त्वारचितः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः ।
अष्टगुणाङ्गसमग्रः दर्शनशुद्धः हि पंचगुरुभक्तः ॥

णियसुद्धप्पणुरत्तो बहिरप्पावत्थवज्जिओ णाणी ।
जिणमुणिधम्मं मण्णइ गयदुक्खो होइ सद्दिट्ठी ॥ ६ ॥

निजशुद्धात्मानुरक्तः बहिरात्मावस्थावर्जितः ज्ञानी ।
जिनमुनिधर्मं जानाति गतदुःखो भवति सद्दृष्टिः ॥

मय मूढमणायदणं संकाइ वसण भयमईयारं ।
जेसिं चउदालेदे ण संति ते हुंति सद्दिट्ठी ॥ ७ ॥

मदो मूढमनायतनं शंकादि व्यसनं भयमतिचारम् ।
येषां चतुश्चत्वारिंशत् एतानि न सन्ति ते भवन्ति सद्दृष्टयः ॥

उहयगुणवसणभयमलवेरग्गइचारभत्तिविग्घं वा ।
एदे सत्तत्तरिया दंसणसावयगुणा भणिया ॥ ८ ॥[1]

उभयगुणव्यसनभयमलवैराग्यातिचारभक्तिविघ्नानि वा ।
एते सप्तति दर्शनश्रावकगुणा भणिताः ॥

देवगुरुसमयभत्ता संसारसरीरभोयपरिचत्ता ।
रयणत्तयसंजुत्ता ते मणुवा सिवसुहं पत्ता ॥ ९ ॥

देवगुरुसमयभक्ताः संसारशरीरभोगपरित्यक्ताः ।
रत्नत्रयसंयुक्तास्ते मनुष्याः शिवसुखं प्राप्ताः ॥

दाणं पूजा सीलं उववासं बहुविहं पि खवणं पि ।
सम्मजुदं मोक्खसुहं सम्म विणा दीहसंसारं[2] ॥ १० ॥

दानं पूजा शीलं उपवासं बहुविधमपि क्षपणमपि ।
सम्यक्त्वयुतं मोक्षसुखं सम्यक्त्वं विना दीर्घसंसारं ॥

१ नेयं गाथा ख. पुस्तके । २ या ख । ख ३ रा. ख. ।

दा[illegible] सत्पात्रदान विशेषतः भवति भोगस्वर्गमही ।
नि[illegible]णसुखं क्रमशः निर्दिष्टं जिनवरेन्द्रैः ॥

खेत्तविसेसे काले ववियसुवीयं फलं जहा विउलं ।
होइ तहा तं जाणइ पत्तविसेसेसु दाणफलं ॥ १७॥

क्षेत्रविशेषे [illegible] उपितसुबीजं फलं यथा विपुलं ।
भवति [illegible] तज्जानीहि पात्रविशेषे सुदानफलं ॥

इह णियसुवित्तवीयं जो ववइ जिणुत्तसत्तखेत्तेसु ।
सो तिहुवणरज्जफलं भुंजदि कल्लाणपंचफलं ॥ १८ ॥

इह [illegible] जे यो वपति जिनोक्तसप्तक्षेत्रेषु ।
स त्रि[illegible]फलं भुनक्ति कल्याणपंचफलं ॥

मादुपिदुपुत्तमित्तकलत्तधणधण्णवत्थुवाहणविसयं ।
संसारसारसोक्खं सव्वं जाणउ सुपत्तदाणफलं ॥ १९ ।

मातृपितृ[illegible]मित्रकलत्रधनधान्यवस्तुवाहनविषयं ।
संसार[illegible] सर्वं जानीहि सुपात्रदानफलं ॥

सत्तंगरज्जणवणिहिभंडारसडंगबलचउद्दहरयणं ।
छण्णवदिसहस्सिच्छिविहउ जाणह सुपत्तदाणफलं ॥ २० ।

सप्ताङ्ग[illegible]भण्डारषडङ्गबलचतुर्दशरत्नं ।
[illegible]सहस्रस्त्रीविभवं जानीहि सुपात्रदानफलं ॥

सुकुलसुरूवसुलक्खणसुमइसुसिक्खासुसीलसुगुणचरित्तं ।
सुहलेसं सुहणामं सुहसादं सुपत्तदाणफलं ॥ २१ ॥

---

१ जाणउ स[illegible] । [illegible] । ३ क्षो. स. । ४ सयलक्खगसुहाणुहवणं । जाणउ [illegible] सकल[illegible]सुखानुभवनं विभवं जानीहि ।

सम्मविसोही तवगुणचारित्तसण्णाणदाणपरिहीणं।
भरहे दुस्समकाले मणुयाणं जायदे णियदं ॥ ३८ ॥
सम्यक्त्वविशुद्धिं तपोगुणचारित्रसज्ज्ञानदानपरिहीणः।
भरते दुःषमकाले मनुजानां जायते नियतं ॥

ण हि दाणं ण हि पूजा ण हि सीलं ण हि गुणं णं चारित्तं।
जे जइणा भणिया ते णेरइया होंति कुमाणुसा तिरिया ॥३९॥
न हि दानं न हि पूजा न हि शीलं न हि गुणः न चारित्रं।
ये यतिना भणिताः ते नारकाः भवन्ति कुमानुषाः तिर्यञ्चः ॥

ण वि जाणइ कज्जमकज्जं सेयमसेयं पुण्ण पावं हि।
तच्चमतच्चं धम्ममधम्मं सो सम्मउम्मुक्को ॥ ४० ॥
नापि जानाति कार्यमकार्यं श्रेयोऽश्रेयः पुण्यं पापं हि।
तत्त्वमतत्त्वं धर्ममधर्मं स सम्यक्त्वोन्मुक्तः ॥

ण वि जाणइ जोग्गमजोग्गं णिच्चमणिच्चं हेयमुवादेयं।
सच्चमसच्चं भव्वमभव्वं स सम्मउम्मुक्को ॥ ४१ ॥
नापि जानाति योग्यमयोग्यं नित्यमनित्यं हेयमुपादेयं।
सत्यमसत्यं भव्यमभव्यं स सम्यक्त्वोन्मुक्तः ॥

लोइयजणसंगादो होइ मइमुहरकुडिलदुब्भावो।
लोइयसंगं तम्हा जोइं वि तिविहेण मुंचाहो ॥ ४२ ॥
लौकिकजनसङ्गतो भवति मतिमुखरकुटिलदुर्भावः।
लौकिकसङ्गं तस्मात् योग्यपि त्रिविधेन मुञ्चतात्।

उग्गो तिव्वो दुट्ठो दुब्भावो दुस्सुदो दुरालावो।
दुम्मदरदो विरुद्धो सो जीवो सम्मउम्मुक्को ॥ ४३ ॥

१ या.स.। २ अस्मादग्रे हि इति शब्दः। तेन छन्दोभङ्गो जायते। अतोनिःसारितः स. पुस्तके नास्त्यपि। ३ गाथेयं ४०-४१ गाथातः पूर्वं स. पुस्तके। ४ जोई तिविहेण. स.। ५ वि स.।

उग्रः तीव्रो दुष्टो दुर्भावो दुःश्रुतो दुरालाप ।
दुर्मतरतो विरुद्धः स जीवो सम्यक्त्वोन्मुक्त ॥

खुद्दो रुद्दो रुट्ठो अणिट्ठ पिसुणो सगव्वियो असुओ ।
गायणजायणभंडणदुस्सणसीलो दु सम्मउम्मुक्को ॥ ४४ ॥

क्षुद्रो रुद्रः रुष्ट अनिष्टः पिशुन· सगर्वित· असूय ।
गायनयाचनाभण्डनदूषणशीलस्तु सम्यक्त्वोन्मुक्त ॥

दोहा—

वाणरगद्दहसाणगयवग्घवराहकरहा ।
पक्खिजलूयसहाव णर जिणवरधम्मविणासु ॥ ४५ ॥

वानरगर्दभश्वगजव्याघ्रवराहकरभ– ।
पक्षिजलौकस्वभावो नरः जिनवरधर्मविनाशकः ॥

कुतवकुलिंगिकुणाणिकुवयकुसीले कुदंसणकुसत्थे ।
कुणिमित्ते संथुइ पथुइ पसंसणं सम्महाणि होइ णियमं ॥४६॥

कुतपःकुलिङ्गिकुज्ञानिकुव्रतकुशीलेषु कुदर्शनकुशास्त्रयो ।
कुनिमित्ते संस्तुतिः प्रस्तुतिः प्रशंसनं सम्यक्त्वहानिः
भवति नियमेन ॥

सम्म विणा सण्णाणं सच्चारित्तं ण होइ णियमेण ।
तो रयणत्तयमज्झे सम्मगुणुक्किट्ठमिदि जिणुद्दिट्ठं ॥ ४७ ॥

सम्यक्त्वं विना सज्ज्ञानं सच्चारित्रं न भवति नियमेन ।
ततः रत्नत्रयमध्ये सम्यक्त्वगुण उत्कृष्ट इति जिनदिष्टम् ॥

तणुकुट्ठी कुलभंगं कुणइ जहा मिच्छमप्पणो वि तहा ।
दाणाइसुगुणभंगं गइभंगं मिच्छत्तमेव हो कट्ठं ॥ ४८ ॥

---

१ जिणुद्दिट्ठं ख. । २ पाठोऽयं क-पुस्तके नास्ति ख-पुस्तकात् संयोजितः ।

तनुकुष्ठी कुलभंगं करोति यथा मिथ्यात्वमापन्नोऽपि तथा।
दानादिसुगुणभंगं गतिभंगं मिथ्यात्वमेव अहो! कष्टम् ॥

देवगुरुधम्मगुणचारित्तं तवसारमोक्खगइभेयं।
जिणवरवयणसुदिट्ठिं विणा दीसइ किह जाणए सम्मं ॥४९॥

देवगुरुधर्मगुणचारित्रं तपःसारमोक्षगतिभेदं।
जिनवरवचनसुदृष्टिं विना दृश्यते कथं ज्ञायके सम्यक्त्वं ॥

एक्कु खण ण विचिंतइ मोक्खणिमित्तं णियप्पसब्भावं।
अणिस विचिंतइ पावं बहुलालावं मणे विचिंतेइ ॥ ५० ॥

एकं क्षणं न विचिन्तयति मोक्षनिमित्तं निजात्मसद्भावं।
अनिशं विचिन्तयति पापं बहुलालापं मनसा विचिन्तयति ॥

मिच्छामइमयमोहासवमत्तो बोल्लए जहा भुल्लो।
तेण ण जाणइ अप्पा अप्पाणं सम्मभावाणं ॥ ५१ ॥

मिथ्यामतिमदमोहास्रवमत्तः कथयति यथा विस्मृतः।
तेन न जानाति आत्मा आत्मनां सद्भावान् ॥

मिहिरो महंधयारं मरुदो मेहं महावणं दाहो।
वज्जो गिरिं जहा विणसिज्जइ सम्मे जहा कम्मं ॥ ५२ ॥

मिहिरः महान्धकारं मरुत् मेघं महावनं दाहः।
वज्रो गिरिं यथा विनाशयति सम्यक्त्वं तथा कर्म॥

मिच्छंधयारसहियगिहमज्झम्मि य सम्मरयणदीवकलावं।
जो पज्जलइ स दीसइ सम्मं लोयत्तयं जिणुद्दिट्ठं ॥ ५३ ॥

मिथ्यात्वान्धकारहृदयगृहमध्ये च सम्यक्त्वरत्नदीपकलापं ॥
यः प्रज्वालयति स पश्यति सम्यक् लोकत्रयं जिनदृष्टं ॥

१ येन प्रकारेण। २ तेन प्रकारेण। ३ कर्तृ। ४ पविस्सइ. ख.।

मोक्षनिमित्त दुःखं वहति परलोकदिट्ठिः तनुदिट्ठिः ।
मिथ्यात्वभावान् न छिनत्ति किं प्राप्नोति मोक्षसौख्यं हि ॥

ण हु दंडइ कोहाई देहं दंडइ कहं खवइ कम्मं ।
सप्पो किं मुवइ तहा वम्मीए मारिए लोए ॥ ७० ॥

न हि दण्डयति क्रोधादीनि देहं दंडयति कथं क्षिपते कर्म ।
सर्पः किं म्रियते तथा वल्मीके मारिते लोके ॥

उवसमभवभावजुदो णाणी सो भावसंजदो होइ ।
णाणी कसायवसगो असंजदो होइ सो ताव ॥ ७१ ॥

उपशमभवभावयुतो ज्ञानी स भावसंयतो भवति ।
ज्ञानी कषायवशगोऽसंयतो भवति स तावत् ॥

णाणी खवेइ कम्मं णाणबलेणेदि सुबोलए अण्णाणी ।
विज्जो भेसज्जमहं जाणे इदि णस्सदे वाही ॥ ७२ ॥

ज्ञानी क्षिपते कर्म ज्ञानबलेनेति सुकथयति अज्ञानी ।
वैद्यो भेषजं अहं जानामीति नाशयति व्याधिं ॥

पुव्वं सेवइ मिच्छामलसोहणहेउ सम्मभेसज्जं ।
पच्छा सेवइ कम्मामयणासणचरियसम्मभेसज्जं ॥ ७३ ॥

पूर्वं सेवते मिथ्यात्वमलशोधनहेतुः सम्यक्त्वभेषजं ।
पश्चात् सेवते कर्मामयनाशनचरितसम्यग्भेषजं ॥

अण्णाणी विसयविरत्तादो होइ सयसहस्सगुणो ।
णाणी कसायविरदो विसयासत्तो जिणुद्दिट्ठं ॥ ७४ ॥

---

१ वम्मिउ मारिउ क. । २ अस्मादग्रे क–पुस्तके विसहरमवि इति पाठः । ३ तव स. । ४ मुदो. क. । ५ ताव. ख. । ६ ण आसदे णस्सदे वाहिं. क. ।

भूमहिलाकन्यादिस्नेहमाहिविषहरो कथमपि भवेत् ।
सम्यक्त्वज्ञानवैराग्यौषधमंत्रेण जिनोद्दिष्टं ॥

पुव्वं जो पंचेंदियतणुमणुवचिहत्थपायमुंडहरो ।
पच्छा सिरमुंडहरो सिवगइपहणायगो होई ॥ ८० ॥

पूर्वं यः पंचेन्द्रियतनुमनोवाग्घस्तपादमुंडहरः ।
पश्चात् शिरोमुंडहरः शिवगतिपथनायको भवति ॥

पतिभत्तिविहीण सदी भिच्चो य जिणसमयभत्तिहीण जई ।
गुरुभत्तिहीण सिस्सो दुग्गइमग्गाणुलग्गणो णियमा ॥ ८१ ॥

पतिभक्तिविहीना सती भृत्यश्च जिनसमयभक्तिहीनो यतिः ।
गुरुभक्तिहीनः शिष्यो दुर्गतिमार्गानुलग्नो नियमात् ॥

गुरुभत्तिविहीणाणं सिस्साणं सव्वसंगविरदाणं ।
ऊसरछेत्ते ववियसुवीयसमं जाण सव्वणुट्ठाणं ॥ ८२ ॥

गुरुभक्तिविहीनानां शिष्याणां सर्वसङ्गविरतानां ।
ऊषरक्षेत्रे उपितसुबीजसमं जानीहि सर्वानुष्ठानं ॥

रज्जं पहाणहीणं पदिहीणं देसगामरट्ठवलं ।
गुरुभत्तिहीणसिस्साणुट्ठाणं णस्सदे सव्वं ॥ ८३ ॥

राज्यं प्रधानहीनं पतिहीनं देशग्रामराष्ट्रबलं ।
गुरुभक्तिहीनशिष्यानुष्ठानं नश्यति सर्वं ॥

सम्मत्त विणा य रुई भत्ति विणा दाण दया विणा धम्मं ।
गुरुभत्ति विणा तवचरित्तं णिप्फलं जाण ॥ ८४ ॥

---

१ भत्त ख. । २ मुहाउ क. । ३ लग्गवो ख. । ४ णियरो ख. । ५ खेत्ते ख. । ६ विण विणयकई ख. । ७ कली. क. ।

यावन्न जानाति आत्मा आत्मानं दुःखमात्मनस्तावत् ।
तेनानन्तसुखमात्मानं भावयेत् योगी ॥

णियतच्चुवलद्धि विणा सम्मत्तुवलद्धि णत्थि णियमेण ।
सम्मत्तुवलद्धि विणा णिव्वाणं णत्थि जिणुद्दिट्ठं ॥ ९० ॥

निजतत्त्वोपलब्धिं विना सम्यक्त्वोपलब्धिर्नास्ति ।
सम्यक्त्वोपलब्धिं विना निर्वाणं नास्ति जिनदिष्टं ॥

पवयणसारब्भासं परमप्पज्झाणकारणं झाणं ।
कम्मक्खवणणिमित्तं कम्मक्खवणेहि मोक्खसोक्खं हि ॥ ९१ ॥

प्रवचनसाराभ्यासः परमात्मध्यानकारणं ध्यानं ।
कर्मक्षपणनिमित्तं कर्मक्षपणे मोक्षसौख्यं हि ॥

णाणविहीणो णउ दाणदयाधम्मरहियगिहसोहा ।
णाणविहीणतवो वि य जीव विणा देहसोहं वा ॥ ९२ ॥

ज्ञानविहीना यथा दानदयाधर्मरहितगृहिशोभा ।
ज्ञानविहीनतपोऽपि च जीवं विना देहशोभा वा ॥

मक्खि सिलिम्मे पडिओ मुवइ जहा तह परिग्गहे पडिदो ।
लोही मूढो खवणो कायकिलेसेसु अण्णाणी ॥ ९३ ॥

[illegible] ।
[illegible] अज्ञानी ॥

णाणब्भासविहीणो सपरं तच्चं ण जाणए किं पि ।
झाणं तस्स ण होइ हु ताव ण कम्मं खवेइ ण हु मोक्खो ॥ ९४ ॥

१ [illegible] । २ [illegible]
[illegible]

तत्वविचारणशीलो मोक्षपथाराधनास्वभावयुतः ।
अनवरतं धर्मकथाप्रसंगतो भवति मुनिराजः ॥

विकहाइविप्पमुक्को आहाकम्माइविरहिओ णाणी ।
धम्मुद्देसणकुसलो अणुपेहाभावणाजुदो जोई ॥ १०० ॥

विकथादिविप्रमुक्तः आधाकर्मादिविरहितो ज्ञानी ।
धर्मदेशनाकुशलोऽनुप्रेक्षाभावनायुतो योगी ॥

अवियप्पो णिद्दंदो णिम्मोहो णिक्कलंकओ णियदो ।
णिम्मलसहावजुत्तो जोई सो होइ मुणिराओ ॥ १०१ ॥

अविकल्पो निर्द्वन्द्वो निर्मोहो निष्कलङ्को नियतः ।
निर्मलस्वभावयुक्तो योगी स भवति मुनिराजः ॥

णिंदावंचणदूरो परिसहउवसग्गदुक्खसहमाणो ।
सुहझाणज्झयणरदो गयसंगो होइ मुणिराओ ॥ १०२ ॥

निन्दावंचनादूरः परीषहोपसर्गदुःखं सहमानः ।
शुभध्यानाध्ययनरतो गतसङ्गो भवति मुनिराजः ॥

तिव्वं कायकिलेसं कुव्वंतो मिच्छभावसंजुत्तो ।
सव्वण्हुवएसे सो णिव्वाणसुहं ण गच्छेई ॥ १०३ ॥

तीव्रं कायक्लेशं कुर्वन् मिथ्याभावसंयुक्तः ।
सर्वज्ञोपदेशेन स निर्वाणसुखं न गच्छति ॥

रायाइमलजुदाणं णियप्परूवं ण दिस्सए किं पि ।
समलादरिसे रूवं ण दिस्सए जह तहा णेयं ॥ १०४ ॥

* सं. ध. ।

वसहीपडिमोवयरणे गणगच्छे समयजाइकुले ।
सिस्सपडिसिस्सछत्ते सुतजाते कप्पडे पुच्छे ॥ ११० ॥

वसतिप्रतिमोपकरणे गणगच्छे समयजातिकुले ।
शिष्यप्रतिशिष्यच्छात्रे सुतजाते कर्पटे पुस्तके ॥

पिच्छे संत्थरणे इच्छासु लोहेण कुणइ ममयारं ।
यावंच अट्टरुद्दं ताव ण मुंचेदि ण हु मोक्खं ॥ १११ ॥

पिच्छिकायां संस्तरे इच्छासु लोभेन करोति ममकारं ।
यावच्च आर्तरौद्रं तावन्न मुञ्चति न हि मुखं ॥

जे पावारंभरया कसायजुत्ता परिग्गहासत्ता ।
लोयववहारपउरा ते साहू सम्मउम्मुक्का ॥ ११२ ॥

ये पापारंभरताः कषाययुक्ताः परिग्रहासक्ताः ।
लोकव्यवहारप्रचुराः ते साधवः सम्यक्त्वोन्मुक्ताः ॥

चर्मट्टिमंसलवलुद्धो सुणहो गज्जए मुणिं ? दिट्ठा ।
जह पाविट्ठो सो धम्मिट्ठं दिट्ठा सगीयट्ठो ॥ ११३ ॥

चर्मास्थिमांसलवलुब्धः शुनकः गर्जति मुनिं दृष्ट्वा ।
यथा पापिष्ठः स धर्मिष्ठं दृष्ट्वा............ ॥

ण सहंति इयरदप्पं थुवंति अप्पाण अप्पमहप्पं ।
जिब्भणिमित्तं कुणंति ते साहू सम्मउम्मुक्का ॥ ११४ ॥

न सहन्ते इतरदर्पं स्तुवन्ति आत्मनात्ममाहात्म्यं ।
जिह्वानिमित्तं कुर्वन्ति ते साधवः सम्यक्त्वोन्मुक्ताः ॥

---

१ सुवइचालमु क. परिमहेसु । २ तावत्य. क. । ३–, ११०–१११–ग
द्वयं भन्नस्थले नास्ति ख पुस्तके । ४ नेद गाथासूत्रं. ख–पुस्तके । ५ धुर्व
हप्प. ख ।

ख्यातिं पूजां लाभं सत्कारादि किमिच्छसि योगिन् ।
इच्छसि यदि परलोकं तैः किं तव परलोकं ॥

कम्मादविहावसहावगुणं जो भाविऊण भावेण ।
णियसुद्धप्पा रुच्चइ तस्स य णियमेण होइ णिव्वाणं ॥१३२॥

कर्मात्मविभावस्वभावगुणं यो भावयित्वा भावेन ।
निजशुद्धात्मा रोचते तस्मै च नियमेन भवति निर्वाणं ॥

मूलुत्तरुत्तरदव्वादो भावकम्मदो मुक्को ।
आसवबंधणसंवरणिज्जर जाणेह किं बहुणा ॥ १३३ ॥

मूलोत्तरोत्तरद्रव्यतः भावकर्मतः मुक्तः ।
आस्रवबन्धनसंवरनिर्जरा जानीहि किं बहुना ॥

विसयविरत्तो मुंचइ विसयासत्तो ण मुंचए जोई ।
बहिरंतरपरमप्पाभेयं जाणेह किं बहुणा ॥ १३४ ॥

विषयविरक्तो मुंचति विषयासक्तो न मुंचति योगी ।
बहिरन्तःपरमात्मभेदं जानीहि किं बहुना ॥

अप्पाण णाणझाणज्झयणसुहमियरसायणप्पाणं ।
मोत्तूणक्खाण सुहं जो भुंजइ सो हु बहिरप्पा ॥ १३५ ॥

आत्मनो ज्ञानध्यानाध्ययनसुखामृतरसायनपानं ।
मुक्त्वा अक्षाणां सुखं यो भुंक्ते स हि बहिरात्मा ॥

किंपायफलं पक्कं विसमिस्सिदमोदगिंव चारुसुहं ।
जिब्भसुहं दिट्ठिपियं जह तह जाणक्खसोक्खं पि ॥ १३६ ॥

किम्पाकफलं पक्वं विषमिश्रितमोदकमिव चारुसुखं ।
जिह्वासुखं दृष्टिप्रियं यथा तथा जानीहि अक्षसुखमपि ॥

१ [illegible] म० । २ [illegible] म० । ३ [illegible]

मलमूत्रघटवत् चिरं वासितो दुर्वासनां न मुञ्चति ।
प्रक्षालितसम्यक्त्वजलो यञ्ज्ञानामृतेन पूर्णोऽपि ॥

सम्माइट्ठी णाणी अक्खाण सुहं कहं पि अणुहवइ ।
केणावि ण परिहारण वाहिणविणासणइ भेसज्जं ॥ १४३ ॥

सम्यग्दृष्टिः ज्ञानी अक्षाणां सुखं कथमपि अनुभवति ।
केनापि न परिहारयति व्याधिविनाशार्थं भेषजं ॥

किं बहुणा हो तजि वहिरप्पसरूवाणि सयलभावाणि ।
भजि मज्झिमपरमप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि ॥ १४४ ॥

किं बहुना अहो त्यज बहिरात्मस्वरूपान् सकलभावान् ।
भज मध्यमपरमात्मनो वस्तुस्वरूपान् भावान् ॥

चउगइसंसारगमणकारणभूयाणि दुक्खहेऊणि ।
ताणि हवे वहिरप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि ॥ १४५ ॥

चतुर्गतिसंसारगमनकारणभूता दुःखहेतवः ।
ते भवन्ति बहिरात्मनो वस्तुस्वरूपा भावाः ॥

मोक्खगइगमणकारणभूयाणि पसत्थपुण्णहेऊणि ।
ताणि हवे दुविहप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि ॥१४६॥

मोक्षगतिगमनकारणभूताः प्रशस्तपुण्यहेतवः ।
ते भवन्ति द्विविधात्मनो वस्तुस्वरूपा भावाः ॥

दव्वगुणपज्जएहिं जाणइ परसमयससमयादिविभेयं ।
अप्पाणं जाणइ सो सिवगइपहणायगो होई ॥१४७॥

द्रव्यगुणपर्यायैः जानाति परसमयस्वसमयादिविभेदं ।
आत्मानं जानाति स शिवगतिपथनायको भवति ॥

---

१ दिगणमद् ग ।

यज्जातिजरामरणदुःखदुष्टविषाहिविषविनाशकरं ।
शिवसुखलाभं सम्यक्त्वं संभावय शृणु श्रावक साधो ! ॥

किं बहुणा हो देविंदाहिंदणरिंदगणहरिंदेहिं ।
पुज्जा परमप्पा जे तं जाण पहाणसम्मगुणं ॥१५४॥

किं बहुना अहो देवेन्द्राहीन्द्रनरेन्द्रगणधरेन्द्रैः ।
पूज्याः परमात्मानः ये तज्जानीहि प्रधानसम्यक्त्वगुणं ॥

उवसमई सम्मत्तं मिच्छत्तबलेण पेल्लए तस्स ।
परिवट्टंति कसाया अवसप्पिणिकालदोसेण ॥१५५॥

उपशमकं सम्यक्त्वं मिथ्यात्वबलेन क्षिपति तत् [1] ।
परिवर्तन्ते कषाया अवसर्पिणीकालदोषेण ॥

गुणवयतवसमपडिमादाणं जलगालणं अणत्थमियं ।
दंसणणाणचरित्तं किरिया तेवण्ण सावया भणिया ॥१५६॥

गुणव्रततपःसमप्रतिमादानं जलगालनं अनस्तमितं ।
दर्शनज्ञानचारित्रं क्रिया त्रिपञ्चाशत् श्रावका भणिताः ॥

णाणेण झाणसिद्धी झाणादो सव्वकम्मणिज्जरणं ।
णिज्जरणफलं मोक्खं णाणब्भासं तदो कुज्जा ॥१५७॥

ज्ञानेन ध्यानसिद्धिः ध्यानात् सर्वकर्मनिर्जरणं ।
निर्जरणफलं मोक्षः ज्ञानाभ्यासं ततः कुर्यात् ॥

कुसलस्स तवो णिवुणस्स संजमो समपरस्स वेरग्गो ।
सुदभावणेण तत्तिय तम्हा सुदभावणं कुणह ॥१५८॥

१ [illegible]

रत्नत्रयमेव गणः गच्छः गमनस्य मोक्षमार्गस्य ।
संघो गुणसंघातः समयः खलु निर्मल आत्मा ॥

जिणलिंगधरो जोई विरायसम्मत्तसंजुदो णाणी ।
परमोवेक्खाइरियो सिवगइपहणायगो होई[1] ॥१६४॥

जिनलिङ्गधरो योगी विरागसम्यक्त्वसंयुतो ज्ञानी ।
परमोपेक्षादिरिक्तः शिवगतिपथनायको भवति ॥

सम्मं णाणं वेरग्गतवोभावं णिरीहवित्तिचारित्तं ।
गुणसीलसहावं उप्पज्जइ रयणसारमिणं[2] ॥१६५॥

सम्यक्त्वं ज्ञानं वैराग्यतपोभावं निरीहवृत्तिचारित्रं ।
गुणशीलस्वभावं उत्पादयति रत्नसारोऽयं ॥

गंथमिणं जो ण दिट्ठइ ण हु मण्णइ ण हु सुणेइ ण हु पढइ।
ण हु चिंतइ ण हु भावइ सो चेव हवेइ कुद्दिट्ठी ॥१६६॥

ग्रन्थमिमं यो न पश्यति न हि मन्यते न हि शृणोति न हि पठति।
न हि चिन्तयति न हि भावयति स चैव भवेत् कुदृष्टिः ॥

इदि सज्जणपुज्जं रयणसारं गंथं णिरालसो णिच्चं ।
जो पढइ सुणइ भावइ पावइ सो सासयं ठाणं ॥ १६७॥

इति सज्जनपूज्यं रत्नसारग्रन्थं निरालसो नित्यं ।
यः पठति शृणोति भावयति प्राप्नोति स शाश्वतं स्थानं ॥

समाप्तोऽयं रयणसारः

---

१ [illegible] कुन्दकुन्द [illegible]
[illegible]

जीवणिबद्धं देहं खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्घं।
भोगोपभोगकारणदव्वं णिच्चं कहं होदि ॥ ६ ॥

जीवनिबद्धं देहं क्षीरोदकमिव विनश्यति शीघ्रम्।
भोगोपभोगकारणद्रव्यं नित्यं कथं भवति ॥

परमट्ठेण दु आदा देवासुरमणुवरायविविहेहिं।
वदिरित्तो सो अप्पा सस्सदमिदि चिंतए णिच्चं ॥ ७ ॥

परमार्थेन तु आत्मा देवासुरमनुजराजविभवैः।
व्यतिरिक्तः स आत्मा शाश्वत इति चिन्तयेत् नित्यं ॥

इत्यध्रुवानुप्रेक्षा।

मणिमंतोसहरक्खा हयगयरहओ य सयलविज्जाओ।
जीवाणं ण हि सरणं तिसु लोए मरणसमयम्हि ॥ ८ ॥

मणिमन्त्रौषधरक्षा हयगजरथाश्च सकलविद्याः।
जीवानां न हि शरणं त्रिषु लोकेषु मरणसमये ॥

सग्गो हवे हि दुग्गं भिच्चा देवा य पहरणं वज्जं।
अइरावणो गइंदो इंदस्स ण विज्जदे सरणं ॥ ९ ॥

स्वर्गो भवेत् हि दुर्गं भृत्या देवाश्च प्रहरणं वज्रं।
ऐरावणो गजेन्द्रः इन्द्रस्य न विद्यते शरणं ॥

णवणिहि चउदहरयणं हयमत्तगइंदचाउरंगबलं।
चक्केसस्स ण सरणं पेच्छंतो कद्दिये काले ॥ १० ॥

नवनिधयः चतुर्दशरत्नं हयमत्तगजेन्द्रचतुरङ्गबलम्।
चक्रेशस्य न शरणं पश्यतः कदितं काले ॥

[illegible]

एकः करोति पुण्यं धर्मनिमित्तेन पात्रदानेन ।
मानवदेवेषु जीवो तस्य फलं भुङ्क्ते एकः ॥

उत्तमपत्तं भणियं सम्मत्तगुणेण संजुदो साहू ।
सम्मादिट्ठी सावय मज्झिमपत्तो हु विण्णेयो ॥ १७ ॥

उत्तमपात्रं भणितं सम्यक्त्वगुणेन संयुतः साधुः ।
सम्यग्दृष्टिः श्रावको मध्यमपात्रं हि विज्ञेयः ॥

णिद्दिट्ठो जिणसमये अविरदसम्मो जहण्णपत्तोत्ति ।
सम्मत्तरयणरहियो अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो ॥ १८ ॥

निर्दिष्टः जिनसमये अविरतसम्यक्त्वः जघन्यपात्रं इति ।
सम्यक्त्वरत्नरहितः अपात्रमिति संपरीक्ष्यः ॥

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥ १९ ॥

दर्शनभ्रष्टाः भ्रष्टाः दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाणम् ।
सिद्ध्यन्ति चारित्रभ्रष्टाः दर्शनभ्रष्टाः न सिद्ध्यन्ति ॥

एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्खणो ।
सुद्धेयत्तमुपादेयमेवं चिंतेइ संजदो ॥ २० ॥

एकोऽहं निर्ममः शुद्धः ज्ञानदर्शनलक्षणः ।
शुद्धैकत्वमुपादेयं एवं चिन्तयति संयतः ॥

इत्येकत्वानुप्रेक्षा ।

मादापिदरसहोदरपुत्तकलत्तादिबंधुसंदोहो ।
जीवस्स ण संबंधो णियकज्जवसेण वट्टंति ॥ २१ ॥

सर्वस्मिन् लोकक्षेत्रे क्रमशः तन्नास्ति यत्र न उत्पन्नः ।
अवगाहनेन बहुशः परिभ्रमितः क्षेत्रसंसारे ॥

अवसप्पिणिउस्सप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसेसु ।
जादो मुदो य बहुसो परिभमिदो कालसंसारे ॥ २७ ॥

अवसर्पिण्युत्सर्पिणीसमयावलिकासु निरवशेषासु ।
जातः मृतः च बहुशः परिभ्रमितः कालसंसारे ॥

णिरयाउजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लवा (गा) दु गेवेज्जा
मिच्छत्तसंसिदेण दु बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदो ॥ २८ ॥

नरकायुर्जघन्यादिषु यावत् तु उपरितनानि ग्रैवेयिकाणि ।
मिथ्यात्वसंश्रितेन तु बहुशः अपि भवस्थितौ भ्रमितः ॥

सव्वे पयडिट्ठिदिओ अणुभागप्पदेसबंधठाणाणि ।
जीवो मिच्छत्तवसा भमिदो पुण भावसंसारे ॥ २९ ॥

सर्वा प्रकृतिस्थितयोऽनुभागप्रदेशबन्धस्थानानि ।
जीव मिथ्यात्ववशात् भ्रमित पुन भावसंसारे ॥

पुत्तकलत्तणिमित्तं अत्थं अज्जयदि पावबुद्धीए ।
परिहरदि दयादाणं सो जीवो भमदि संसारे ॥ ३० ॥

पुत्रकलत्रनिमित्तं अर्थं अर्जयति पापबुद्ध्या ।
परिहरति दयादानं स जीवः भ्रमति संसारे ॥

मम पुत्तं मम भज्जा मम धणधण्णोत्ति तिव्वकंखाए ।
चइऊण धम्मबुद्धिं पच्छा परिपडदि दीहसंसारे ॥ ३१ ॥

मम पुत्रो मम भार्या मम धनधान्यानीति तीव्रकांक्षया ।
त्यक्त्वा धर्मबुद्धिं पश्चात् परिपतति दीर्घसंसारे ॥

कर्मनिमित्तं जीवः हिंडति संसारघोरकांतारे ।
जीवस्य न संसारः निश्चयनयकर्मनिर्मुक्तः ॥

संसारमदिक्कंतो जीवोवादेयमिदि विचिंतेज्जो ।
संसारदुहक्कंतो जीवो सो हेयमिदि विचिंतेज्जो ॥ ३८ ॥

संसारमतिक्रान्तः जीव उपादेय इति विचिन्तनीयम् ।
संसारदुःखाक्रान्तः जीवः स हेय इति विचिन्तनीयम् ॥

इति संसारानुप्रेक्षा ।

जीवादिपयट्ठाणं समवाओ सो णिरुच्चये लोगो ।
तिविहो हवेइ लोगो अहमज्झिमउड्ढभेएण ॥ ३९ ॥

जीवादिपदार्थानां समवायः स निरुच्यते लोकः ।
त्रिविधः भवेत् लोकः अधोमध्यमोर्ध्वभेदेन ॥

णिरया हवंति हेट्ठा मज्झे दीवंबुरासयोसंखा ।
सग्गो तिसट्ठि भेओ एत्तो उड्ढं हवे मोक्खो ॥ ४० ॥

नरका भवंति अधस्तने मध्ये द्वीपाम्बुराशया असंख्याः ।
स्वर्गः त्रिषष्टिभेदः एतस्मात् ऊर्ध्वं भवेत् मोक्षः ॥

इगितीस सत्त चत्तारि दोण्णि एक्केक्क छक्क चदुकप्पे ।
तित्तिय एक्केक्केंदियणामा उडुआदितेसट्ठी ॥ ४१ ॥

एकत्रिंशत् सप्त चत्वारि द्वौ एकैकं षट्क चतुःकल्पे ।
त्रित्रि एकैकेन्द्रकनामानि ऋत्वादित्रिषष्टिः ॥

असुहेण णिरयतिरियं सुहउवजोगेण दिविजणरसोक्खं ।
सुद्धेण लहइ सिद्धिं एवं लोयं विचिंतिज्जो ॥ ४२ ॥

मिथ्यात्वं अविरमणं कषाययोगाश्च आस्रवा भवन्ति।
पञ्चपञ्चचतुःत्रिकभेदाः सम्यक् प्रकीर्तिताः समये॥

एयंतविणयविवरियसंसयमण्णाणमिदि हवे पंच।
अविरमणं हिंसादी पंचविहो सो हवइ णियमेण॥ ४८॥

एकान्तविनयविपरीतसंशयं अज्ञानं इति भवेत् पञ्च।
अविरमणं हिंसादि पञ्चविधं तत् भवति नियमेन॥

कोहो माणो माया लोहो वि य चउविहं कमायं खु।
मणवचिकाएण पुणो जोगो तिवियप्पमिदि जाणे॥ ४९॥

क्रोधः मानः माया लोभः अपि च चतुर्विधः कषायः खलु।
मनोवचःकायेन पुनः योगः त्रिविकल्प इति जानीहि॥

असुहेदरभेदेण दु एक्केक्कं वण्णिदं हवे दुविहं।
आहारादीसण्णा असुहमणं इदि विजाणेहि॥ ५०॥

अशुभेतरभेदेन तु एकैकं वर्णितं भवेत् द्विविधम्।
आहारादिसंज्ञा अशुभमन इति विजानीहि॥

किण्हादितिण्णि लेस्सा करणजसोक्खेसु गिद्धिपरिणामो।
ईसाविसादभावो असुहमणं त्ति य जिणा वेंति॥ ५१॥

कृष्णादित्रिस्रः लेश्या करणजसौख्येषु गृद्धिपरिणामः।
ईर्षाविषादभाव अशुभमन इति च जिना ब्रुवन्ति॥

रागो दोसो मोहो हास्सादीणोकसायपरिणामो।
थूलो वा सुहुमो वा असुहमणो त्ति य जिणा वेंति॥ ५२॥

रागः द्वेषः मोहः हास्यादि-नोकषायपरिणामः।
स्थूलः वा सूक्ष्मः वा अशुभमन इति च जिना ब्रुवन्ति॥

इदि णिच्छयववहारं जं भणियं कुंदकुंदमुणिणाहें।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं ॥ ९१ ॥

इति निश्चयव्यवहारं यत् भणितं कुन्दकुन्दमुनिनाथेन।
यः भावयति शुद्धमनाः स प्राप्नोति परमनिर्वाणम् ॥

इति श्रीकुन्दकुन्दाचार्यविरचिता द्वादशानुप्रेक्षा
समाप्ता।

समाप्तोऽयं षट्प्राभृतादिसंग्रहः।

शुभं भूयात्।

षट्प्राभृतटीकोक्तोद्धरण-श्लोकानामकारादिक्रमेण

सूची।



समाप्तेयमनुक्रमणिका ।

रयणसारस्य पाठभेदः ।

रयणसाराख्यस्य ग्रन्थस्य मुद्रणानन्तरं पुन्यकमेकं ब्रह्मचारिशीतलप्रसादद्वारेण लाला हरसुखराय जैनपुस्तकालयस्थं संप्राप्तं । तत्रत्यः पाठभेदोऽत्र मुद्र्यते—

पृष्ठसंख्याः	गाथासंख्या	मुद्रितपाठः	पाठान्तरम्
३९६	१९	बाहविसय	बाहणेविहृवं ।
३९९	३४	बाहाणमायरोधे	बाहीणमायेरो सो
३९९	३५	विहाणदिट्ठी य	विहीणदिट्ठी यं
३९९	३६	मूलो खयि	सूलाल्लय
३९९	३६	सीदुण्हबाहिराई	सीदुण्हवंमरोई
४००	३८	परिही णं	परिहीणो
४०१	४५	पक्खि	मक्खि
४०२	४९	तवसार	तवासार
४०२	४९	जिणवरवयण	जिणवयण
४०२	५२	जहा विणमिजइ	जहा वि य णिमइ
४०३	५४	परमं	पुरुसं
४०३	५५	णिम्मलवव	णिम्मलजलंव्व
४०६	७४	अण्णाणी	अण्णाणीदो ।
४०७	७९	कण्णाइ	कणयाइ
४०८	८०	मुंडहरो	मुंडाओ,
,,	,,	सिरमुंडहरो	सिरमुंडाओ,
,,	८४	सम्माण विण य हरं	सम्माणविणयरूवा
४१०	९२	सालविहीणो राइ	सीलविहीणो चाओ
४१६	१२१	मज्जे	एवे
,,	१२३	आगमदहणं	आगम डसं
४१७	१२९	तं,	त जाणिऊण,देइ सुदाणं जो सो हु मोक्खरओ।
४१७	१२९	णाणतवं	अणाणंतवं

१ बाहनविभवं । २ व्याधीनामाकरः सः । ३ विहीनदृष्टिश्च । ४ निर्मलजलवत् । ५ सम्मानविनयरूपाः । ६ शीलविहीनस्त्यागः । ७ तं ज्ञात्वा ददाति सुदानं यः स हि मोक्षरतः । ८ अज्ञानतपः ।

शुद्धयशुद्धिपत्रम् ।

अशुद्धयः	शुद्धयः	पङ्क्तय	पृष्ठ
इतिदश	इति दश	६	१
दिट्टं	दिट्ठं	१३	१
भाषया	भाषाया	१२	२८
सुत्तत्थ	सुत्तत्थ	१४	५८
पडिया	पडिमा	२५	८०
मविचार्य	सुविचार्य	२	९१
ओक्कोश	आक्कोश	९	११०
उक्टि	उग्टि	७	११७
उक्त	उक्तं	२३	१२२
कीर्ति वंद	कीर्तिवंद	१२	१२३
तत् स्यनन्त	तस्यनन्त	८	१४७
हलानोमार	हलानो मार	६	१६८
विशषत्वात्	विशेषत्वात्	८	,,
वृद्धिभिरवा	वृद्धिभिरवा	६	१७५
तिति	तीति	४	,,
रात्रावेव	रात्रनेव	१७	,,
मुद्धाटित	मुद्घाटित	१७	,,
कर्तुं	कर्तुं	२०	१८१
मुशलीवीरवरो	मुशलो वीरवरो	१	१८२
भवर्ता	भवती	२३	२१६
मश्रलि	मश्रलि	१	२१८
बोधि	बोधि	२	,,

[illegible]			
[illegible]	गुता	२	[illegible]
[illegible]	सवर्मेति	[illegible]	[illegible]
[illegible]	धर मनो	[illegible]	[illegible]
[illegible]	त्मैत्व	[illegible]	[illegible]
[illegible]	वेष्टित	[illegible]	[illegible]
[illegible]	उन्मन	[illegible]	[illegible]
[illegible]	लौकादि		[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	हिन	[illegible]	
[illegible] मुरा	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible] मुरा	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	नथाऽमुद	[illegible]	[illegible]
	[illegible]		[illegible]